हरिप्रसाद कृत

काव्यालोक

व्याख्याकार एवं सम्पादक
डॉ रमा गुप्ता

प्रस्तावना
डॉ. हरिराम आचार्य

पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर

प्रकाशक
पब्लिकेशन स्कीम
57, मिश्र राजाजी का रास्ता, जयपुर–1

शाखा
पालदा नाका, इन्दौर

ISBN 81-85263-59-0

सस्करण 1989

मूल्य 350 रुपये

अनुज प्रिन्टर्स, 26, रामगली न 8 राजापार्क, जयपुर–4

प्रस्तावना

श्रीमती रमा गुप्ता ने काव्यशास्त्र मे अपनी अभिरुचि के अनुरूप शोधकार्य के लिए जब विषय-चयन का प्रस्ताव किया, तब मैंने उन्हे किसी पाण्डुलिपि को प्रकाश मे लाने का सुझाव दिया था। इसी क्रम मे उन्होने सवाई मानसिंह द्वितीय म्यूजियम, सिटी-पैलेस जयपुर, (पोथीखाना) की हस्तलिखित ग्रथ-सूची मे मे हरि प्रसाद रचित "काव्यालोक" को शोध का विषय बनाया। पाडुलिपि-सम्पादन *और समीक्षरण के इस कार्य मे पूर्वानुभव के अभाव के कारण आरम्भ मे कुछ तक-*नीकी कठिनाई अवश्य आई, ग्रन्थ के मौलिक स्वरूप एव शास्त्रीय विषय-गाम्भीर्य के कारण कई स्थलो पर अर्थ स्पष्ट करने मे अत्यधिक श्रम करना पडा, किन्तु विद्वज्जनो के सहयोग और अपने अथक परिश्रम से श्रीमती गुप्ता ने यह गुरुतर कार्य सम्पन्न कर दिखाया। राजस्थान विश्वविद्यालय ने इसी शोध-प्रबन्ध पर उन्हे 1988 ई मे पी एचडी की उपाधि प्रदान की। उनकी इस उपलब्धि पर मुझे इसलिये विशेष प्रसन्नता है कि उन्होने अपने अध्यवसाय से अब तक पाडुलिपि के रूप मे सुरक्षित जिस अज्ञात ग्रन्थ पर शोध-कार्य किया है, वह सस्कृत काव्य-शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा का एक जाज्वल्यमान शास्त्रीय ग्रन्थ-रत्न है। इसे प्रकाश मे लाकर उन्होने साहित्य-जगत् को एक अभिनदनीय उपहार प्रदान किया है।

अठारहवी शताब्दी के पूर्वार्ध (सन् 1727 ई) मे लिखित "काव्यालोक" हरिप्रसाद मिश्र की रचना है। पाण्डुलिपि के प्रथम श्लोक एव अन्तिम पुष्पिका मे उनके नाम का उल्लेख आया है। वे मथुरा-निवासी गगेश मिश्र के सुपुत्र थे किन्तु उनका सम्बन्ध राजपूताना और विशेषत जयपुर के सस्थापक कछवाहा नरेश सवाई जयसिंह से अवश्य रहा होगा। इसका प्रमारण 'काव्यालोक' के सप्तम प्रकाश मे प्रतीप अलकार के उदाहरण मे दिया हुआ यह श्लोक है —

रत्नाना निलय सुधासमुदाय क्षोणीतलेऽर्धामिन
गाम्भीर्येण पराश्रय सुविदितो मत्वेति मा गा मदम्।
भो रत्नाकर! तावकीयमहिमानिर्माणसर्वंसह
सम्प्रत्येष धरावलम्बितपदो जागर्ति कूर्माधिप ॥

इस तथ्य की पुष्टि पोथीखाना के निदेशक श्री गोपाल नारायण जी बहुरा ने भी की है। जयपुर के सिटी पैलेस म्यूजियम में 'काव्यालोक' की एकमात्र दुर्लभ प्रति की उपलब्धि भी इस तथ्य को प्रमाणित करती है। एक विद्वत्परम्परा-मंडित कुल में जन्मे, धर्मशास्त्र, छन्द शास्त्र, मंत्र, तंत्र, कर्मकांड एवं काव्य-शास्त्र में निष्णात, स्वयं काव्य-रचना में निपुण इस सहृदय पंडित की रचनाओं को जयपुर और राजस्थान के अन्य ग्रंथागारों ने अपने क्रोड में सुरक्षित रखा। ऐसे परम विद्वान् के प्रति जयपुर की ही एक छात्रा द्वारा किया गया शोध-कार्य वस्तुतः एक समीचीन शब्दमयी श्रद्धांजलि है।

"काव्यालोक" संस्कृत काव्य-शास्त्र की लगभग डेढ़ सहस्राब्दी की महती शृंखला की अमूल्य कड़ी है। ग्रन्थकार ने इसे सात प्रकाशों में विभक्त किया है— (i) काव्य-लक्षण विवेचन, (ii) ध्वनि-निरूपण, (iii) रस-विलास-प्रकाश (iv) दोष विवेचन, (v) गुण-निरूपण, (vi) शब्दालंकार-विवेचन तथा (vii) अर्थालंकार-निरूपण। आचार्य मम्मट-प्रणीत "काव्यप्रकाश" को हरिप्रसाद ने आधार ग्रन्थ माना है– अत्रेत्थं मूलग्रन्थाभिप्राय', किन्तु अनेक लक्षणों के लिए वे रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। काव्यांगों के लक्षण उन्होंने वामनाचार्य की तरह सूत्र रूप में प्रस्तुत किये हैं, मम्मट की तरह कारिकारूप में नहीं, किन्तु वृत्ति और उदाहरण का क्रम 'काव्यप्रकाश' के अनुरूप ही है। 'काव्यालोक' एक परिनिष्ठित विद्वान् के विशद काव्यशास्त्रीय अध्ययन का प्रतिफल है, जिसमें अभिनवगुप्त रुद्रट, वामन, भोजराज, मम्मट विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित, पंडितराज जगन्नाथ आदि विद्वानों का उल्लेख ही नहीं, उनके अभिमतों का स्वतन्त्र दृष्टि से विवेचन और मौलिक निरूपण भी है। अष्टोत्तर-शतमणिमाला' के सुधी प्रणेता श्री रामार्य के इस विनम्र शिष्य ने अपने ग्रन्थ के लिए पूर्ववर्ती प्रायः सभी महान् लेखकों के ग्रन्थ-पुष्पों से षट्पद मधुकर की भाँति ज्ञान-मधु का पान किया, फिर ग्रन्थ-ग्रन्थ से संगृहीत उस मधु-संचय को, उस 'माधुकरी भिक्षा' को नवीन 'काव्यालोक' के रूप में साहित्य-जगत् को समर्पित कर दिया। इस समर्पण में कहीं भी ज्ञान का गर्व नहीं है, न मौलिकता का दम्भ। यही विनयभाव उनके व्यक्तित्व की गरिमा है—

> इयं माधुकरी भिक्षा सुमनोभ्यः समाहृता।
> बालानां तुष्टये गर्वो न मनागपि विद्यते।
>
> प्राचीनैर्यदिहोदितं बहुविधैर्ग्रन्थैस्तदत्राहृतम्।
> सक्षेपेण न किञ्चिदप्युदितं गर्वेण तद्गम्यताम् ॥

(काव्यालोक–पुष्पिका)

जब कभी कोई शास्त्रीय अभिमत शास्त्रार्थ के वाग्जाल मे उलझ जाता है अथवा शास्त्रकारो मे किसी तत्त्व-विशेष पर गम्भीर वाद-विवाद के कारण कोई निष्कर्ष अस्पष्ट रह जाता है तो शास्त्र के विचारक अध्येता को उसका पुन विवेचन या पुनरीक्षण करने की बलवती प्रेरणा मिलती है और कोई नया ग्रन्थ जन्म लेता है। यही शास्त्र-जगत् की परिपाटी है जिसके अन्तर्गत आचार्य हरिप्रसाद ने "काव्यालोक" की रचना की है। अत स्वामाविक है कि उसमे पूर्ववर्ती मतों का पुनर्निरूपण-विश्लेषण करके कोई नई बात कही जाय, कोई मौलिक दृष्टि प्रस्थापित की जाय। 'काव्यालोक' की आवश्यकता और महत्त्व इसी तथ्य में निहित है, अत उसका विहगमावलोकन यहाँ प्रासगिक होगा।

हरिप्रसाद ने काव्य-प्रयोजन, काव्य-लक्षण और काव्यात्मा के प्रश्न पर पुनर्विचार करते हुए जिन निष्कर्षों पर विशेष बल दिया है, उनमे काव्य-प्रयोजन के रूप मे प्रथम स्थान 'परमाह्लाद' को प्रदान किया है—

काव्यस्य परमाह्लाद–कीर्त्यादिफलयोगिन ।

मम्मट के अनुसरण पर 'काव्य यशसे' को स्वीकार करते हुए उन्होंने शेष प्रयोजनो को 'आदि' पद से व्यजित तो कर दिया है किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ मे वे 'परमाह्लाद' को पुन पुन प्रस्थापित करने मे तत्पर दिखाई देते हैं।

काव्य-लक्षण के प्रसग मे मुख्यत दो मत परम्परा से प्रचलित रहे हैं। एक मत 'शब्दार्थौ काव्यम्' का है तो दूसरा 'शब्द काव्यम्' का। भामह, वामन, मम्मट आदि प्रथम मत के प्रतिष्ठापक हैं तो पडितराज जगन्नाथ द्वितीय मत के उद्घोषक हैं। दण्डी काव्य-शरीर को 'इष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली' कहते हैं तो विश्वनाथ 'रसात्मक वाक्य' को काव्य मानने के पक्षधर हैं। हरिप्रसाद ने काव्यप्रकाश को मूल ग्रन्थ कहते हुए भी उसके काव्य-लक्षण को स्वीकार नही किया है। वे जगन्नाथ के 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द काव्यम्' के स्वर मे स्वर मिलाकर कहते हैं —

'लोकोत्तराह्लादकार्थ शब्द काव्यम्।

'लोकोत्तर आह्लाद के व्यजक जिस शब्द के द्वारा श्रवण-संस्कारजन्य चमत्कृति तत्काल रसात्मता मे परिणत हो जाती है, वही काव्य कहलाता है—हरिप्रसाद के निम्नलिखित काव्य-लक्षण में भी मौलिक वैदुष्य झलकता है—

'क्वापि शब्दव्यञ्जनावृत्तिर्येन याति रसात्मताम्।
मद्य श्रवणसस्कारैस्तदिद काव्यमुच्यते ॥(सू 2)

'काऽपि व्यजनावृत्ति' के आधारभूत में 'काव्य' पद स्वत सिमित हो जाता है।

'काव्यात्मा' के निर्धारण के प्रश्न पर सर्वाधिक विवाद रहा है तथा उसी के आधार पर रस ध्वनि रीति, वक्रोक्ति, औचित्य और अलकार के समर्थकों ने अपने-अपने सम्प्रदायो का प्रवतन किया। ध्वनिवादियो ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' कहते हुए अन्य सभी तथाकथित काव्यात्माओ का कुशलतापूर्वक समाहार कर लिया। रस को ध्वनि के साथ मिलाकर उन्होने श्रेष्ठ काव्य के रूप मे रसध्वनि को सर्वोच्च स्थान दे दिया। अलकार को कटक-कुडल के रूप मे काव्य-शरीर का विभूषण कहा एव रीति को गुणानुसारिणी पदसघटना होने के कारण अगीभूत रस के धम के साथ सम्बद्ध कर दिया। औचित्य-भग को रसभग का कारण बता कर उस अभिव्यक्ति की विवेकशीलता से जोड दिया। वक्रोक्ति को मात्र अलकार कहकर आत्मा के रूप मे अमान्य ठहरा दिया। इस पूर्व-पीठिका को ध्यान मे रखते हुए भी हरिप्रसाद ने अत्यन्त विनम्रतापूवक पृथक् रूप से अपना प्रमाण-पुष्ट मत प्रस्तुत किया है—

'रस आत्मा इति परे आचार्या ऊचु। वयमते तु चमत्कार एव आत्मा काव्यस्य।'

काव्य मे 'चमत्कार' ही 'सुखातिशय' का, 'लोकोत्तराह्लाद' का कारणभूत होता है। हरिप्रसाद का यह लक्षण यद्यपि रसगगाधरकार के कथन की अनुगूँज है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न काव्यागो मे काव्य के आत्मतत्त्व की खोज करने वाले काव्यशास्त्रियो के मतो का पुन आकलन करके लोकोत्तर आह्लाद के जनक चमत्कार को काव्यात्मा के रूप मे प्रतिष्ठित-प्रमाणित करने के लिए ही "काव्यालोक" की रचना की गई है—

'तत्सुखातिशयकारण चमत्कार एव काव्यप्राणा इति सिद्धम्।'

ग्रन्थ की पाण्डुलिपि पर लिपिकार ने 'अर्थालकार-निरूपण' लिखा है, अत स्वाभाविक है कि इसमे अर्थालङ्कार-वर्णन को प्रमुखता दी जाय। सप्तम प्रकाश मे 70 अलङ्कारो का भेदोपभेद सहित विस्तृत वर्णन किया गया है, किन्तु वस्तुत 'काव्यालोक' के प्रथम तीन प्रकाश विशेष महत्वपूर्ण है जिनमे हरिप्रसाद ने काव्य, ध्वनि और रस का विद्वतापूर्ण विवेचन किया है। लिपिकार घोषचन्द्र की यह प्रशस्ति हरिप्रसाद-रचित 'काव्यालोक' की शास्त्रीय महत्ता को चरितार्थ करती है कि 'अलङ्कार रूपी सागर को पार करना चाहते हो तो काव्यालोक-रूपी प्रवहण का शठ द्वारा आश्रय ग्रहण करो।'

अलङ्कारम्बुने पारमाप्तुमिच्छा भवेद्यदि ।
काव्यालोक—प्रवहण तदाश्रयत कठन ।।

ऐसे महनीय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ को शोध काय द्वारा प्रकाश मे लाना वस्तुत स्तुत्य कार्य है। शास्त्रीय ग्रथ के प्रथम अनुशीलन मे, सम्भव है, कई स्थलो पर व्यास्या अस्पष्ट रह गई हो, अनुवाद त्रुटिपूर्ण हो, विवेचन मे पूर्णता न आ पाई हो किन्तु यह निर्विवाद है कि श्रीमती गुप्ता की शोध-निष्ठा और लेखन-परिश्रम मे कोई कमी नही है। सतत जागरूक दृष्टि से ग्रन्थ के पूर्वापर प्रसगो को जोडते हुए काव्यशास्त्रीय इतिहास के आलोक मे उन्होने पाण्डुलिपि का सम्पादन तो किया ही, सरल हिन्दी अनुवाद द्वारा ग्रन्थ के कठिन स्थलो को भी सुबोध बना दिया है। उनकी लिखी हुई विस्तृत भूमिका विषय के विशद विवेचन के कारण विशेष उल्लेखनीय है।

श्रीमती गुप्ता का यह प्रथम प्रकाशन उनके भावी प्रकाशनो का सिंहद्वार बने तथा काव्यालोक के इस मुद्रण का साहित्य-जगत् मे उचित अभिनन्दन हो, यही मेरी शुभकामना है।

श्रावणी पूर्णिमा वि स २०४६
'पर्णकुटी', गगवाल पार्क, जयपुर।

—(डॉ०) हरिराम आचार्य
एसोशिएट प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
सस्कृत विभाग, राज वि वि
जयपुर

स्वकथन

संस्कृत में विरचित काव्यशास्त्रीय साहित्य विपुल मात्रा में विद्यमान होने पर भी, अद्यावधि अनेक ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो पाने के कारण साहित्य-जगत् में समुचित स्थान प्राप्त नहीं कर सके हैं। ये ग्रन्थ साहित्यशास्त्र की अविच्छिन्न सृजन-परम्परा के द्योतक हैं, जिनका प्रकाशन अत्यावश्यक है। ऐसा ही मौलिक एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ "काव्यालोक" है, जो अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में संस्कृत के परम विद्वान् श्री हरिप्रसाद द्वारा लिखा गया।

पी० एच० डी० की उपाधि हेतु शोधकार्य के लिए विषय-चयन करते समय श्रद्धेय गुरुवर डॉ० हरिराम जी आचार्य (एसोशिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर) ने निर्देशक के रूप में मुझे प्रेरित किया कि मैं किसी अप्रकाशित पाण्डुलिपि को साहित्य-जगत् के सम्मुख लाने का कार्य करूँ। जयपुर-महाराजा के संग्रहालय—"महाराजा सवाई मानसिंह (द्वितीय) म्यूजियम, सिटी पैलेस, जयपुर" में उपलब्ध संस्कृत में प्रकाशित तथा अप्रकाशित अनेक ग्रन्थों की हस्तलिखित पाण्डुलिपियों में से मैंने "काव्यालोक" को साहित्य-जगत् के सम्मुख लाने का निश्चय किया तथा इसी सकल्पना के क्रियान्वयन के लिए 'काव्यालोक" की अप्रकाशित हस्तलिखित पाण्डुलिपि के सम्पादन तथा समीक्षण का कार्य प्रारम्भ किया।

इसी शोध-प्रबन्ध "हरिप्रसादकृत काव्यालोक समीक्षण एवं सम्पादन" पर सन् 1988 में राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर द्वारा मुझे पी—एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई। सम्प्रति यह शोध-प्रबन्ध आवश्यक संशोधन के साथ मुद्रित रूप में साहित्यानुरागी विद्वज्जनों के सम्मुख प्रस्तुत है। संस्कृत में काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के प्रणयन की अविच्छिन्न परम्परा को द्योतित करने वाले इस ग्रन्थ को प्रकाश में लाते हुए मुझे अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

"काव्यालोक" में पूर्वनिरूपित काव्यशास्त्रविषयक तत्त्वों पर नूतन दृष्टि से पुनर्विचार किया गया है। आचार्य मम्मट के "काव्यप्रकाश" तथा पण्डितराज जगन्नाथ के "रसगङ्गाधर" में निरूपित विवेचनों का विद्वत्तापूर्ण समन्वय करने

हुए इस ग्रन्थ मे ग्रन्य आचार्यों के भी काव्याङ्ग–विषयक विवेचनो की समालोचना की गई है तथा नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध मे ग्रन्थ का सम्पादन करते हुए पाण्डुलिपि की ग्रशुद्धियो को यथासम्भव दूर करके, हिन्दी ग्रनुवाद सहित शुद्ध पाठ सम्मुख लाने का प्रयत्न है। भूमिका के अन्तगत कृति और कृतिकार का परिचय देने के साथ ही समीक्षात्मक रूप मे ग्रन्थ का विषय-निरूपण एव अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो से उनका तुलनात्मक विवेचन भी किया गया है।

इस काय मे मुझे अनक विद्वानो तथा सस्थाग्रो का अपरिमित सहयोग प्राप्त हुग्रा, उन सभी के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता-ज्ञापन करती हूँ। श्रद्धेय गुरुवर डॉ० हरिराम जी ग्राचाय न निर्देशक के रूप मे समय-समय पर अपना ग्रमूल्य समय देकर माग-निर्देशन के साथ ही कार्य मे ग्रभिरुचि लेते हुए जो प्रोत्साहन मुझे दिया, वह अविस्मरणीय है। यह काय उनके ही प्रोत्साहन की परिणति है तथा उनकी विशेष ग्रभिरुचि के फलस्वरूप ही यह मुद्रित रूप मे विद्वज्जनो के सम्मुख ग्रा सका है, ग्रत सर्वप्रथम मैं उनके प्रति विशेष ग्राभार व्यक्त करती हूँ। डॉ० रामचन्द्र जी द्विवेदी (प्रोफेसर, सस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर) ने विषय-चयन मे सहायता की। श्री गोपाल नारायण जी बहुरा (भूतपूर्व पुस्तकालयाध्यक्ष, महाराजा सवाई मानसिह द्वितीय म्यूजियम, सिटी पैलेस, जयपुर) ने विशेष रुचि लेते हुए पाण्डुलिपि के ग्रध्ययन मे समुचित प्रशिक्षण द्वारा मेरी ग्रमूल्य सहायता की। रस सम्बन्धी विवेचन के नव्यन्यायपरक ग्रशो को स्पष्ट करने मे श्री खड्गनाथ जी मिश्र (भूतपूव प्राचार्य, महाराजा सस्कृत महाविद्यालय, जयपुर) तथा श्री दुनीचन्द शर्मा (व्याख्याता सस्कृत, राजकीय डूँगर महाविद्यालय, बीकानेर) ने विशेष सहयोग दिया। ग्रत इन सबके प्रति भी मैं ग्राभार व्यक्त करती हूँ।

महाराजा सवाई मानसिह द्वितीय म्यूजियम, सिटी पैलेस, जयपुर के सभी ग्रधिकारियो ने पाण्डुलिपि उपलब्ध कराने मे पूर्ण सहयोग दिया। भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, ग्रोरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बडौदा, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान की जयपुर, जोधपुर, ग्रलवर तथा बीकानर शाखाग्रो से भी कार्य मे सहायता मिली। इन सभी सस्थाग्रो के ग्रधिकारियो के प्रति भी मैं सहर्ष कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ।

प्रस्तुत कार्य के लिए निरन्तर सक्रिय एव ग्रात्मीय रूप से प्रेरित तथा प्रोत्साहित करते हुए मेरे पति श्री हरिमोहन गुप्ता ने ग्रनेक ग्रप्रत्याशित कष्ट उठाते हुए भी मुझे सभी प्रकार की सुविधा, सहायता तथा सबल दिया, वह मेरी

विशेष उपलब्धि है और अधिकार भी जिसकी स्मृतियाँ हम दोनो को आजीवन भावाभिभूत करती रहेगी ।

पुस्तक के प्रकाशन मे पब्लिकेशन स्कीम की सचालिका श्रीमती प्रेम नाटाणी तथा श्री सियाशरण नाटाणी ने व्यक्तिगत रूप से जो अभिरुचि ली, उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं । अनुज प्रिण्टर्स जयपुर की सचालिकाओ को साधुवाद देती हूँ कि उन्होंने अत्यत तत्परता एव शीघ्रतापूर्वक पुस्तक का मुद्रण किया ।

अन्त मे, विद्वज्जनो के सम्मुख एक अज्ञात काव्यशास्त्रीय ग्रथ को मुद्रित रूप मे प्रस्तुत करते हुए अपनी त्रुटियो के लिए क्षमा-याचना के साथ ही मेरी यही अभिलाषा है कि "काव्यालोक" को साहित्य-जगत् मे समुचित स्थान एव सम्मान प्राप्त हो ।

रमा गुप्ता
व्याख्याता संस्कृत,
राजकीय महाविद्यालय,
अजमेर

E-453, शास्त्री नगर
अजमेर

अनुक्रमणिका

परिशिष्ट

संकेत-सूची

अ भा — अभिनवभारती
का लो — काव्यालोक
का प्र — काव्यप्रकाश
काव्य मी — काव्यमीमांसा
काव्या — काव्यादर्श
काव्य सू — काव्यालङ्कारसूत्र (वामन)
का सा स — काव्यालङ्कारसारसंग्रह (उद्भट)
चन्द्रा — चन्द्रालोक
द रू — दशरूपक
ध्वन्या — ध्वन्यालोक
ना शा — नाट्यशास्त्र
पा टि — पादटिप्पणी
पा प स — पाण्डुलिपि पत्र संख्या
पृ — पृष्ठ
भा काव्या — भामहकृत काव्यालङ्कार
मू पा — मूलपाठ
मू पा टि — मूलपाठगत टिप्पणी
रस — रसगङ्गाधर
रु काव्य — रुद्रटकृत काव्यालङ्कार
वक्रोक्ति — वक्रोक्तिजीवित
व्यक्ति — व्यक्तिविवेक
सा द — साहित्यदर्पण
सू — सूत्र
[ ] — छूटा हुआ अंश
१ — पाण्डुलिपि-पत्र समाप्ति का प्रदर्शक चिह्न तथा बाँयी ओर कोष्ठक [ ] में पत्र-संख्या
० ० — पादटिप्पणी में संकेतित अशुद्ध अंश

भूमिका

सस्कृत-साहित्य मे काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थो की एक विस्तृत परम्परा रही है। अति प्राचीनकाल से तत्सम्बन्धी ग्रन्थो की रचना की गयी। उपलब्ध साहित्य मे प्राचीनतम ग्रन्थ भरतमुनि (ई० पू० 500 से ई० पू० 200 के मध्य) का "नाट्यशास्त्र" है। सस्कृत–काव्यशास्त्र का क्रमबद्ध इतिहास भरतमुनि से ही प्राप्त होता है। यद्यपि "नाट्यशास्त्र" का प्रधान लक्ष्य नाट्य के विभिन्न तत्त्वो का विवेचन करना है, तथापि यहाँ काव्यागो का भी निरूपण किया गया है। अत "नाट्यशास्त्र" को आधार बनाकर परवर्ती सस्कृत आचार्यो ने काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थो की रचना की। अलकार-शास्त्र को नाट्यशास्त्र की परम्परा से मुक्त कर एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप मे प्रस्तुत करने का श्रेय भामह को प्राप्त होता है। आद्य आलकारिक के रूप मे विख्यात भामह (षष्ठ शतक का पूर्वार्द्ध) ने "काव्यालकार" नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके पश्चात् अनेक आचार्यो ने इस परम्परा को आगे बढाया। दण्डी (अष्टम शताब्दी) का "काव्यादर्श", उद्भट (आठवी शताब्दी का अन्तिम तथा नवम शताब्दी का प्रारम्भ) का "काव्यालकार-सार-सग्रह", वामन (आठवी शताब्दी का अन्त और नवम शताब्दी का प्रारम्भ) का "काव्यालकार सूत्र", रुद्रट (नवम शताब्दी) का "काव्यालकार", आनन्दवर्धन (नवम शताब्दी) का "ध्वन्यालोक", अभिनवगुप्त (दशम शताब्दी का अन्तिम तथा ग्यारहवी का प्रारम्भ) का "ध्वन्यालोकलोचन" तथा "अभिनवभारती", राजशेखर (दशम शताब्दी का प्रारम्भ) की "काव्यमीमासा", मुकुलभट्ट (नवम शताब्दी) की "अभिधावृत्ति-मातृका", धनञ्जय (दशम शताब्दी) का "दशरूपक", कुन्तक (दशम शताब्दी का अन्तिम भाग) द्वारा रचित "वक्रोक्तिजीवित", महिम भट्ट (दशम शताब्दी का अन्तिम भाग) का "व्यक्तिविवेक", भोजराज (ग्यारहवी शताब्दी) के दो ग्रन्थ—"सरस्वतीकण्ठाभरण" और "शृगारप्रकाश", क्षेमेन्द्रकृत (ग्यारहवी शताब्दी का प्रारम्भ) "औचित्य-विचारचर्चा", मम्मट (ग्यारहवी शताब्दी) का "काव्यप्रकाश", राजानक रुय्यक (ग्यारहवी शताब्दी का मध्य भाग) का "अलकार-सर्वस्व", हेमचन्द्र (1088 ई०–1172 ई०) का "काव्यानुशासन", जयदेवविरचित (ग्यारहवी शताब्दी) "चन्द्रालोक", विश्वनाथ

(चौदहवी शताब्दी) का "साहित्यदर्पण", अप्पयदीक्षित (16–17 शताब्दी) के "चित्रमीमासा" तथा "कुवलयानन्द", पण्डितराज जगन्नाथ (17वी शताब्दी) का "रसगगाधर" आदि प्रमुख काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इन आचार्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक आचार्यों ने भी इस विषय पर ग्रन्थों का सृजन किया। इसी सुदीर्घ शृखला की एक महत्वपूर्ण कडी है–"काव्यालोक"। अठारहवी शताब्दी में हरिप्रसाद ने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ "काव्यालोक" की रचना करके इस परम्परा को आगे बढाया है। पाण्डुलिपि के रूप मे सुरक्षित तथा अद्यावधि अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थ "काव्यालोक" भी काव्यशास्त्रीय-परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

1 कृति एव कृतिकार

(1) पाण्डुलिपि की प्राप्ति एव परिचय—

हरिप्रसाद-विरचित "काव्यालोक" की हस्तलिखित पाण्डुलिपि महाराजा सवाई मानसिह द्वितीय म्यूजियम, सिटी पैलेस, जयपुर मे उपलब्ध है। महाराजा सवाई जयसिह (1699–1743 ई०) के निजी पुस्तकागार मे "काव्यालोक" की पाण्डुलिपि रखी हुई थी, जो अब महाराजा सवाई मानसिह द्वितीय म्यूजियम मे ग्रन्थ सख्या–207 पर सुरक्षित है।

"काव्यालोक" की रचना हरिप्रसाद ने स० 1784 मे की। प्रस्तुत पाण्डुलिपि मूलग्रन्थ की प्रतिलिपि है, जो स० 1798 मे चोक्षचन्द्र नामक व्यक्ति के द्वारा की गयी।

ग्रन्थ की यह पाण्डुलिपि पूर्ण सुरक्षित अवस्था में है। एक ही कागज पर काली स्याही से लिखा गया है। कागज कही से भी फटा हुआ नही है, समय के साथ-साथ इसमे पीलापन अवश्य आ गया है। इसमे 84 पत्र हैं, जिनकी चौडाई–22 5 से मी (9 इच) और लम्बाई 11 4 से मी (4 5 इच) है। दोनो ओर 2-2 से मी (0 8 इच) तथा ऊपर-नीचे 1 5 से मी (0 5 इच) के लगभग स्थान रिक्त छोडा गया है। पत्र 53 अ तक सभी पत्रो पर मूल-पाठ के दोनो ओर दो-दो बारीक रेखाएँ तथा कागज के बिल्कुल पास एक काली रेखा खीची गयी है। पत्र 53 ब से अन्तिम पत्र तक कोई रेखा नही है। प्रत्येक पत्र के पिछले भाग मे पत्र-सख्या लिखी है। प्रथम पत्र पर "अलकार, अर्थालकार-निरूपण-पत्र-84" लिखा हुआ है। अत ग्रन्थ का प्रारम्भ पत्र [1 अ] से न होकर पत्र [1 ब] से होता है।

प्रत्येक पत्र मे पक्ति-सख्या समान नही है। पत्र के एक ओर 10 से लेकर 17 तक पक्तियाँ लिखी गयी हैं। पाण्डुलिपि मे अक्षर कही बडे और कही

छोटे लिखे जाने के कारण अक्षर-सख्या भी समान नही है, प्राय एक पक्ति मे 30 से लेकर 40 तक अक्षर लिखे गये हैं ।

ग्रन्थ का प्रारम्भ "श्री गणेशाय नम" से हुआ है और इससे पूर्व "ओम्" का प्रतीकात्मक चिह्न दिया गया है ।

इस पाण्डुलिपि मे मिलित शब्दावली का प्रयोग है, जिसमे सभी शब्द एक दूसरे से मिलाकर लिखे गये हैं । पद, वाक्य, गद्य और पद्य को अलग करके नही लिखा गया । कही-कही पक्तियो के मध्य मे विभाग-दर्शक चिह्न = ' ॥ ' लगा दिया गया है । वाक्य के बीच मे एक ही अक्षर के वर्ण कही दूर-दूर लिख दिये गये हैं और कही पर दो अक्षरो के वर्ण मिला दिये गये हैं । मिलित शब्दावली के प्रयोग के कारण गद्य अथवा पद्य की पक्ति पूर्ण हो जाने पर भी आगे की पक्ति के प्रथम शब्द के साथ उसे मिला हुआ मानकर सन्धि के नियमानुसार उसमें विसर्ग लोप अथवा अन्य परिवर्तन कर दिये गये हैं ।

पतित पाठ अर्थात् कही कोई शब्द, शब्दाश या वाक्याश लिखना रह गया है, तो वहाँ वर्णों के मध्य (पतित पाठ दर्शक चिह्न) "हस पग" (मोर पग या काक पद) " $\overset{\vee}{\wedge}$ " चिह्न लगाकर हाशिये में (मूल-पाठ के चारो ओर के रिक्त स्थान में) पक्ति की सख्या लिखकर छूटा अश लिखा है और वहाँ पतित पाठ विभाग दर्शक चिह्न—" × " लगा दिया गया है ।

मूल-पाठ से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सकेत करने के लिए शब्द के ऊपर " = " चिह्न लगाया गया है और हाशिये मे पक्ति की सख्या लिखकर उक्त अश लिखने के पश्चात् " = " चिह्न लगाया गया है अथवा पक्ति के ऊपर ही शब्द लिख दिये गये हैं ।

भूल से कोई अतिरिक्त शब्द लिखे जाने पर उसे "हरताल" (पीले रग) से मिटा दिया गया है ।

कुछ स्थलो पर पक्ति के प्रारम्भिक या अन्तिम शब्दो पर अथवा पूरी पक्ति पर लाल रग किया गया है । सम्भवत महत्त्वपूर्ण स्थल पर ध्यान आकर्षित करने के लिये अथवा प्रति की सुन्दरता बनाये रखने के लिये इसका प्रयोग किया गया हैं ।

लिखावट सामान्य रूप से सुपाठय है । मध्य के कुछ पृष्ठो मे, जहाँ बहुत छोटे-छोटे अक्षर लिखे गये हैं, पढने मे कुछ प्रयत्न अवश्य करना पडता है ।

लिपि सुपाठ्य होने पर भी कई स्थलो पर भ्रम उत्पन्न होता है । जैसे— "आ" और "ई" की मात्रा स्पष्ट नही होने पर दोनो मे भ्रम होता है । "य" और "प" मे तथा "ब्द" और "ध्द" मे भी स्पष्टता नही है । "त्स" मे "स" का

भ्रम होता है। "ट" और "ठ", "ब" और "व" तथा "स" और "श" में परस्पर दूसरा वर्ण भी लिख दिया गया है। 'ह्‌ल' को कहीं-कहीं 'ल्ह' लिखा गया है।

सन्धि-विच्छेद के लिए कहीं-कहीं वर्णों के बीच में पंक्ति के ऊपर '+' चिह्न लगाया गया है।

'ऽ' (अवग्रह) बहुत कम स्थान पर प्रयुक्त है। कहीं कहीं पंक्ति के ऊपर वर्णों के मध्य में भी इसका प्रयोग किया गया है।

मूलपाठ का कोई वर्ण या पद यदि स्पष्ट प्रतीत नहीं हो रहा है, तो उसे स्पष्ट करने के लिए भी कहीं कहीं उस वर्ण के ऊपर पुन लिख दिया गया है।

इस पाण्डुलिपि के प्रारम्भिक श्लोक तथा अन्तिम पुष्पिका से यह निश्चित हो है कि इसका रचयिता हरिप्रसाद है। पुष्पिका के पश्चात् लिखी गयी "संवत् *1798 वर्षस्य पौषशुक्लद्वितीयायां लिखितं चोक्षचन्द्रेण" इत्यादि पंक्तियों से स्पष्ट* हो जाता है कि इस पाण्डुलिपि को लिखने वाला व्यक्ति चोक्षचन्द्र है। इसमें मूल-पाठ का हस्तलेख एक ही व्यक्ति का है। परन्तु पुष्पिका के पश्चात् लिखी उपर्युक्त पंक्तियों का हस्तलेख भिन्न है। अत ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ को लिखने वाला एक व्यक्ति चोक्षचन्द्र है और बाद में अन्य किसी दूसरे व्यक्ति ने ये पंक्तियाँ लिख दी हैं।

पाण्डुलिपि के मूल-पाठ में दो स्थानों पर पाठभेद का संकेत किया गया है।[1] अत निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि "काव्यालोक" की अन्य कोई प्रति भी रही होगी। उस प्रति के आधार पर चोक्षचन्द्र ने यह प्रतिलिपि तैयार की। सर्वप्रथम चोक्षचन्द्र ने मूल-ग्रन्थ लिखा। पुन जब दुबारा पढ़ा तो आवश्यकतानुसार संशोधन करते हुए मूल-पाठ के चारों ओर के रिक्त स्थान पर आवश्यक संकेत भी किये। इस प्रकार इस पाण्डुलिपि से स्पष्ट है कि मूल-ग्रन्थ का रचयिता हरिप्रसाद है और प्रतिलिपिकर्ता चोक्षचन्द्र।

(2) अन्य स्थानों पर कृति की उपलब्धि—

ऑफ्रेट Theodor Aufrecht ने 'केटेलॉगस केटेलॉगोरम" (Catalogus Catalogorum) Part I, 1962 पृष्ठ 758 पर तथा डॉ राघवन् ने 'न्यू केटेलॉगस केटेलॉगोरम"(New Catalogus Catalogorum,) Vol IV, 1968, पृ 114 पर अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ के रूप में 'काव्यालोक' के लिये पीटर्सन–वॉल्यूम 3, पृ–356 का उल्लेख दिया है।

---

1 (1) हरिप्रसादेन नवेत्यपि पाठ।—का लो—मू 1, मू पा टि।
(2) रचनेत्यपि पाठ।—का लो—श्लोक 360, मू पा टि

एस के डे ने 'Sanskrit Poetics,' Vol I, पृष्ठ 314 पर 'काव्यालोक' के लिए ऑफ्रेट का सदर्भ दिया ।

पी वी काणे ने 'History of Sanskrit Poetics' मे अनेक सूचियो के आधार पर निर्मित Index of Authors and works (सस्कृत–काव्यशास्त्र के ग्रन्थ और ग्रन्थकार) मे "काव्यालोक" का उल्लेख किया । परन्तु 'काव्यालोक' को किस सूची मे देखा, इसका पृथक् निर्देश नही किया । उन्होने सूचियो मे डॉ राघवन् के "न्यू केटेलॉगस केटेलॉगोरम" का उल्लेख भी किया है । सम्भवत वही से यह ग्रन्थ उल्लिखित किया गया है ।

प्रो पीटर्सन ने Detailed Report of operations in search of Sanskrit manuscripts in the Bombay Circle" April, 1884–March 1886, वाल्यूम–3 पृष्ठ 356–7 पर 'काव्यालोक' का उल्लेख किया है । "भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना" तथा "ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बडौदा" मे पीटर्सन का यह वॉल्यूम उपलब्ध है ।

पीटर्सन के उल्लेख मे "काव्यालोक" की पत्र सख्या–69 है, जबकि प्रस्तुत पाण्डुलिपि मे 84 है । पीटर्सन ने 'काव्यालोक' की प्रारम्भिक तथा अन्तिम पक्तियाँ भी दी हैं । इन पक्तियो की तुलना जब "महाराजा सवाई मानसिह द्वितीय म्यूजियम, सिटी पैलेस, जयपुर" मे प्राप्त होने वाले ग्रन्थ की पाण्डुलिपि की पक्तियो मे करते हैं तो दोनो मे निम्न पाठभेद लक्षित होता है—

	महाराजा सवाई मानसिह द्वितीय म्यूजियम की प्रति	पीटर्सन–3, 356–7 का उल्लेख
	प्रारम्भ—	
1	श्री गणेशाय नम	–श्रीमहागणाधिपतये नम ।
2	प्रतिजानीते	–प्रतिजानानीते
	अन्त—	
3	वर्षमाघशुक्लमुग्नौ	–वर्षे माघशुक्लमुनौ
4	काव्यालोकेऽर्थालकारनिरूपण–नामा सप्तम प्रकाश ॥7॥ समाप्त	–काव्यालोकेऽर्थालकारनिरूपण नाम सप्तम 7 प्रकाश समाप्त ॥
5	सवद् 1798 वर्षस्य पौषशुक्ल–द्वितीयायाँ लिखित चोक्षचन्द्रे ण ।	

श्रेयो भववुत समेपाम्
अलकारावुधे पारमाप्तुमिच्छा भवेद्यदि । —ये पक्तिया नही दी गई हैं
काव्यालोकप्रवहण तदाश्रयत कठत ॥1॥

पत्र-सख्या के भेद तथा पाठ-भेद से स्पष्ट है कि ये दोनो 'काव्यालोक' ग्रन्थ की भिन्न-भिन्न पाण्डुलिपियां है ।

पीटर्सन ने अपने केटेलॉग मे कोटा का सन्दर्भ दिया है । अत यह स्पष्ट है कि पीटर्सन के समय (19वी शताब्दी के अन्त) मे इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि कोटा महाराजा के ग्रन्थागार मे स्थित रही होगी । इसी आधार पर उसकी प्राप्ति के प्रयत्न किये जाने पर भी यह पाण्डुलिपि उपलब्ध नही हो सकी ।

इस समय कोटा महाराजा द्वारा सगृहीत साहित्य दो स्थानो पर उपलब्ध है—(1) राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, शाखा—कोटा तथा (2) माधोराव म्यूजियम, गढ पैलेस, कोटा । परन्तु इन दोनो स्थानो पर ही इस समय "काव्यालोक" की पाण्डुलिपि उपलब्ध नही है ।

"राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, शाखा—अलवर" द्वारा दिनाक 5 मई 1983 को स्थानीय अखबार "राजस्थान टाइम्स" मे एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई । इसके अनुसार प्रो पीटसन अलवर से बहुत से ग्रन्थ अपने साथ बम्बई ले गये और वहाँ से अनेक ग्रन्थ लन्दन भेज दिये गये थे । इस विज्ञप्ति के आधार पर यह सम्भावना हो सकती है कि प्रो पीटसन कोटा से भी ग्रन्थो की पाण्डुलिपियाँ ले गये हो और उसी मे "काव्यालोक" की पाण्डुलिपि भी चली गयी हो ।

ए बी कीथ ने "Catalogue of the Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the library of the Indian office" Oxford, 1935 मे लन्दन से भी सस्कृत की पाण्डुलिपियाँ मँगाकर उनका सूचीपत्र प्रकाशित किया । परन्तु इसमे "काव्यालोक" की पाण्डुलिपि का उल्लेख नही है । अतएव यह निश्चित नही हो पाता कि पीटर्सन द्वारा उल्लिखित पाण्डुलिपि इस समय कहाँ उपलब्ध है ।

(3) कृति का परिचय—

'काव्यालोक' ग्रन्थ के रचयिता तथा रचनाकाल के विषय मे ग्रन्थ मे ही उल्लेख प्राप्त हो जाने से किसी प्रकार का सशय या मतभेद उत्पन्न नही होता । 'काव्यालोक' का रचयिता हरिप्रसाद है, इसका उल्लेख ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही कर दिया गया है—

काव्यस्य परमाहु सादकीर्त्यादिफलयोगिन ।
हरिप्रसादविदुषा मीमासा कापि तन्यते ॥ सू । ॥

'काव्यालोक' के प्रत्येक प्रकाश के अन्त मे भी 'हरिप्रसादनिर्मिते काव्यालोके' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया है ।

इस ग्रन्थ की पुष्पिका से स्पष्ट है कि सम्वत् 1784 सूर्य सक्रमण की माघ शुक्ला सप्तमी को यह ग्रन्थ पूर्ण कर दिया गया—

अब्धिद्विड् मुनिमू 1784 वर्षमाघशुक्लमुनौ 7 रवे ।
काव्यालोकमिद पूर्णमकारिगुरुसन्निधौ ।।

अत यह नि सन्देहरूप से कहा जा सकता है कि हरिप्रसाद ने स 1784 मे इसकी रचना की ।

'काव्यालोक' एक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें कुल सात प्रकाश हैं, जिनमे पूर्व निरूपित अलकारशास्त्र के विषयो का विवेचन किया गया है। सामान्यत इसमें काव्य का लक्षण, प्रयोजन, हेतु, भेद, शब्द-शक्तियाँ, ध्वनि, रस, गुण, दोष और अलकारो का निरूपण है । परन्तु अलकारो के विवेचन मे कृतिकार की विशेष रुचि दिखायी देती है। 'काव्यालोक' मे कुल 84 पत्रों में से 43 पत्रो मे अन्य विषयो का विवेचन है, शेष 41 पत्रो मे केवल अलकारों का निरूपण किया गया है। विशेष रूप से अर्थालकार निरूपण बहुत विस्तार से किया गया है, क्योंकि लगभग 37 पत्रो मे अर्थालकार प्रस्तुत किये गये हैं। कृति का प्रारम्भ करते हुए प्रथम पत्र पर भी 'अलकार, अर्थालकार-निरूपण पत्र–84' लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि अर्थालकारो का विवेचन करना कृतिकार का प्रमुख उद्देश्य है।

'काव्यालोक' के तीन भाग हैं—सूत्र, वृत्ति और उदाहरण । प्राय कृतिकार ने सर्वप्रथम एक विषय को सक्षेप मे सूत्ररूप मे कहा है। सूत्र कहीं पर कारिका-रूप मे, पद्य मे हैं और कहीं पर गद्य मे । सूत्र के बाद उसे स्पष्ट करने के लिए वृत्ति लिखी गई है और उसका उदाहरण-सहित विवेचन किया गया है। सूत्र और वृत्ति हरिप्रसाद के स्वरचित हैं, परन्तु उन पर अन्य ग्रन्थो का प्रभाव लक्षित होताहै ।[1]

---

1 उदाहरणार्थ यथा—

(1) भ्रान्तिमानन्यसवित् तत्तुल्यदर्शने । का प्र–सू 199
तत्तुल्यदर्शने स्याद्भ्रान्तिस्तद्वानलकार ।—का लो–सू 137

(2) सादृश्य सुन्दर वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालङ्कृति ।-रस—2, पृ. 211
वाक्यार्थोपस्कारकमुपमा सादृश्यमतिचमत्कारि ।-का लो 1—सू 121

(3) इहान्यानपि भेदानन्ये निगदन्ति—वाचकलुप्ता षड्विधोपवर्णिना ।→

उदाहरण कही स्वरचित हैं[1] और कही अन्य ग्रन्थो से भी उद्धत हैं।[2] कतिपय स्थलो पर अन्य ग्रन्थो मे उद्धत उदाहरणो का प्रभाव लक्षित होता है,[3] क्योकि

'कर्तर्यु पमाने' इति णिनौ सप्तम्यपि दृश्यते। कोकिल इवालपति कोकिलालापिनीति। तथाष्टम्यपि—"इवे प्रतिकृतौ" इति कनि 'लुम्मनुष्ये" इति लुपि चचेवेत्यर्थे 'चचा पुरुष सोऽय य स्वहित नैव जानीते' इत्यत्र। नवम्यपि—आचार—क्विपि पदान्तरेण प्रतिपादिते समाने धर्मे दृश्यत। "आह्लादि वदन तस्या शरद्राकामृगाकति" इत्यादौ।—रस 2, 26

वाचकलुप्तासु "कर्त्तर्यु पमान" इति णिनौ सप्तम्यपि। यथा—कोकिल इवालपति कोकिलालापिनी। तथा—"इवे प्रतिकृताविं" तिकनि 'लुम्मनुष्ये" इति चचेवेत्यर्थे 'चचा पुरुष" इत्यष्टमी। "आह्लादि वदन तस्या शरदाकामृगाकति" इत्यादावाचारक्विपि पदान्तरेण प्रतिपादिते समाने धर्म्मे नवम्यपि।—का लो—सू 125 की वृत्ति।

1 उदाहरणार्थ—

(1) अप्यवलोकितभुवन चक्षुर्न-का लो—197
(2) बधूर्वकिंशुक—का लो 241
(3) हरिपदनखता वदन्ति लोका-का लो—334

2 उदाहरणार्थ यथा—

(1) मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरल-का प्र-159, का लो-101
(2) धीरो विनीतो निपुणो वराराको-का प्र 211, का लो 106
(3) नाशयन्तो घनध्वान्त तापयन्तो-सा द-पृष्ठ 239, का लो-109
(4) वारिधिराकाशसमो-रस-2, 392, का, लो-190
(5) महत परमव्यक्त-रस-3, 555, का लो-329

3 (1) किं गौरि मा प्रति रुषा ननु गौरह किम्-रु काव्या-2,15
किं गौरीद्दन गौरहम्। -का लो-सू 108 की वृत्ति।

(2) दृष्ट्वैकासनसस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा—
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छल।
ईषद्वक्रितकन्धर सपुलक प्रेमोल्लसन्मानसा—
मन्तर्हासलसत्कपोलफलका धूर्तोऽपरा चुम्बति॥—द रु, पृ 110
आच्छाद्य लोचनयुगल इतराया हर्षविकसितकपोलम्।
यत् चुम्ब्यते वदन तदपि प्रणयस्य सौभाग्यम्॥-का लो 66

(3) तीर्थान्तरेषु
सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम्। का प्र-144
अममर्ममय गगा हन्ति सम्प्रति सादरम्॥ का लो,-सू 88 की वृत्ति

शरत्काल—
करोति ते मुख तन्वि चपेटापातनातिथिम्। -का-प्र-157
नेयार्थमिन्दु कुरुते चपेटापातनातिथिम्—का लो-सू 88 की वृत्ति

उनके श्लोक या श्लोकाश के भाव को दूसरे शब्दो मे अथवा सक्षेप मे दे दिया गया है।

काव्यालोककार ने 2 स्थलो पर "काव्यप्रकाश" को मूल ग्रन्थ कहा है।[1] "काव्यालोक" के प्रथम पाँच प्रकाशो पर विशेषरूप से "काव्यप्रकाश" का प्रभाव लक्षित होता है। अन्तिम दो प्रकाश षष्ठ तथा सप्तम का अलकार-विवेचन बहुत कुछ "रसगगाधर" पर आधारित है। वास्तव मे यह कृति एक प्रकार से शोध ग्रन्थ के समान ही प्रतीत होती है, क्योकि इसमे पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थो से विषय ग्रहण कर उन्हे नवीन रूप मे प्रस्तुत किया गया है। मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ के अतिरिक्त रुद्रट, वामन, अप्पयदीक्षित, भोजराज, विश्वनाथ आदि अन्य काव्यशास्त्रकारो का भी स्थल-स्थल पर उल्लेख किया गया है। स्वय हरिप्रसाद के शब्दो मे उनकी यह कृति माधुकरी भिक्षा के समान है—

इय माधुकरीभिक्षा सुमनोभ्य समाहृता।
बालाना तुष्टये गर्वो न मनागपि विद्यते।।[2]

मधुमक्खी एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर जाकर ही मधु का सचय करती है, इसी प्रकार घर-घर जाकर भिक्षा मागना ही 'माधुकरी भिक्षा' कहलाता है। इस माधुकरी भिक्षा के समान ही हरिप्रसाद ने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो से सचय करके, नवीनरूप मे "काव्यालोक" को प्रस्तुत किया है।

(4) अध्याय-क्रम से ग्रन्थ परिचय—

"काव्यालोक" के प्रथम-प्रकाश का प्रारम्भ काव्य-प्रयोजन से हुआ है। उसके पश्चात् काव्य-स्वरूप, काव्य-हेतु और काव्य की आत्मा पर विचार किया गया। हरिप्रसाद ने काव्य की आत्मा "चमत्कार" को माना, अत इस चमत्कार की स्थापना के लिये उन्होंने पूर्ववर्ती मतो का भी विवेचन किया। आचार्य मम्मट, विश्वनाथ और वामन के काव्य-लक्षण पर आक्षेप करते हुए उन्होंने स्वरचित काव्य-लक्षण दिया है।

इसी प्रकाश मे शब्द का स्वरूप, शब्द के तीन भेद—वाचक, लाक्षणिक और व्यजक का निरूपण किया गया है। तीन शब्द-शक्तियाँ-अभिधा, लक्षणा,

---

1 अत्रेत्य मूलग्रन्थाभिप्राय न काव्यधर्मो गुण —का लो –सू 97 की वृत्ति
भोज प्रमादो माधुर्यं चेति मूलग्रन्थ —का लो —सू 10 की वृत्ति

2 का लो —पुष्पिका

व्यजना का तथा लक्षणा के भेदोपभेद का वर्णन करने के साथ ही अनेक तर्कों के आधार पर व्यजना की अनिवार्यता बताते हुए व्यजना के भेद बताये हैं। उत्तम, मध्यम और अधम भेद से काव्य के तीन भेदो का उदाहरण सहित विवेचन किया गया है।

द्वितीय प्रकाश का नाम "ध्वनिनिरूपणम्" है। नाम से ही स्पष्ट है कि इसमे ध्वनि का विस्तार से विवेचन किया गया है। ध्वनि की परिभाषा तथा ध्वनि-भेद का उदाहरणसहित वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् गुणीभूतध्वनि काव्य (मध्यमकाव्य) के आठ भेदो की परिभाषा तथा उदाहरण दिये गये हैं।

तृतीय प्रकाश "रसविलास-प्रकाश" है। इसमे रस का निरूपण विस्तार से किया गया है। अभिनवगुप्त, भट्टनायक तथा नव्य-मत के अनुसार रस का विवेचन करके भरतमुनि के रससूत्र को प्रस्तुत किया है। रस विवेचन के पश्चात् रस-भेद मे स्थायिभाव और रस का सम्बन्ध बताते हुए भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव को स्पष्ट किया है। इस विवेचन के मध्य ही आलम्बनस्वरूप नायक-नायिका-भेद भी उदाहरण-सहित विस्तार से प्रस्तुत किये गये हैं। तत्पश्चात् शृगार, हास्य, करुण, भयानक, रौद्र, वीर, बीभत्स, अद्भुत और शान्त, इन नौ रसो के उदाहरण-सहित विवेचन के साथ इस प्रकाश की समाप्ति हो गयी है।

चतुर्थ प्रकाश मे काव्य-दोषो का विवेचन है। उदाहरणसहित 16 प्रकार के दोष बताकर उन्हें पदगत, वाक्यगत, पदांशगत और समासगत रूप मे प्रस्तुत किया है। 23 प्रकार के अर्थदोष और 13 प्रकार के रस-दोष तथा रस-दोष की अनित्यता का वर्णन किया गया है।

पचम प्रकाश का नाम "गुणनिरूपणम्" है। काव्य मे गुणो की स्थिति पर विभिन्न मत दिये गये हैं। मम्मटकथित ओज, प्रसाद और माधुर्य गुण की स्वीकृति तथा वामनोक्त दस शब्द-गुण और दस अर्थ-गुण का वर्णन करके उनका अन्तर्भाव तीन गुणो मे किया गया है। मधुर, प्रौढ, परुष, ललित और भद्र इन पाँच वृत्तियो का स्वरूप बताया गया है। वैदर्भी, पाचाली, लाटी और गौडी, इन चार रीतियो का सक्षिप्त विवेचन किया गया है।

षष्ठ प्रकाश "शब्दालकार-विवेचनम्" है। काव्य मे अलकार की स्थिति तथा गुण और अलकारो मे भेद स्पष्ट करते हुये पाँच शब्दालकार-वक्रोक्ति, अनु-

प्रास, यमक, श्लेष और चित्र का भेदोपभेद तथा उदाहरणसहित निरूपण किया गया है। "सरस्वतीकण्ठाभरण" मे कथित 24 शब्दालकारो का लक्षण और उदाहरणसहित विवेचन करके अन्य अलकारो मे उनके अन्तर्भाव का सकेत दिया है।

सप्तम प्रकाश "अर्थालकार निरूपणम्" इस ग्रन्थ का सबसे बडा भाग है। इसमे 71 अर्थालकारो का भेदोपभेद तथा उदाहरणसहित विस्तार से विवेचन किया गया है।

(5) अन्य कृतियाँ—

हरिप्रसाद ने "काव्यालोक" के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो की भी रचना की, इस विषय मे उल्लेख प्राप्त होते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानो पर कुछ ग्रन्थो की प्रतियाँ भी उपलब्ध हैं। इन सभी ग्रन्थो मे एक विशिष्टता या समानता यह है कि हरिप्रसाद को *"माथुर मिश्र गणेशात्मज" कहा गया है।*

पीटर्सन ने "Detailed report of operations in search of Sanskrit Manuscripts in the Bombay Circle' के वॉल्यूम-II, पृ 188 पर हरिप्रसादरचित "सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक" तथा वॉल्यूम III, पृ 356–7 पर "काव्यालोक" का उल्लेख दिया है।

आफ्रेट ने "केटेलॉगस केटेलॉगोरम्" पार्ट 1, पृ 758 पर माथुर मिश्र गङ्गेश के पुत्र हरिप्रसाद के नाम से दो ग्रन्थ दिये हैं-"काव्यालोक" और "सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक"। इसी स्थल पर अन्य हरिप्रसाद के नामो से "पिंगलसार" और "शास्त्रजलधिरत्नम्" ग्रन्थो का उल्लेख किया है। पार्ट II, पृ 236 पर भी हरिप्रसाद के नाम से "महाविद्यामहिम्नस्तोत्र" ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस विवेचन से प्रतीत होता है कि उन्होने हरिप्रसाद नाम के कई विद्वान् स्वीकार किये हैं। जिनमे से "काव्यालोक" और "सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक" ग्रन्थ के रचयिता तो गणेश के हरिप्रसाद हैं। शेष "पिंगलसार", "शास्त्रजलधिरत्न" और "महाविद्यामहिम्नस्तोत्र" के रचयिता अन्य भिन्न-भिन्न हरिप्रसाद नामक व्यक्ति हैं।

डा राघवन् ने "केटेलॉगस केटेलॉगोरम", वॉल्यूम 5, पृ 226 पर गणेश *को हरिप्रसाद का पिता कहा है तथा हरिप्रसाद के नाम से चार ग्रन्थ दिये हैं—* (1) काव्यार्थगुम्फ, (2) काव्यालोक, (3) शास्त्रजलधिरत्न, और (4) सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक।

पी वी काणे ने "हिस्ट्री ऑफ सस्कृत पॉइटिक्स" (इन्डेक्स ऑफ ऑथर्स एण्ड वर्क्स) मे माथुर मिश्र गणेश के पुत्र हरिप्रसाद (लगभग 1718–1728 ई) के नाम से दो ग्रन्थो का उल्लेख किया है—"काव्यार्थगुम्फ" और "काव्यालोक"।

एस के डे ने "संस्कृत पॉइटिक्स"—वाल्यूम 1, पृ 314 पर "काव्यालोक" तथा "काव्यार्थगुम्फ" ग्रन्थो के लिए प्राफेट तथा पीटर्सन का सन्दर्भ दिया है।

इन ग्रन्थो के अतिरिक्त हरिप्रसादरचित 'मन्त्ररत्न" तथा "रुक्मिणीहरण" नामक ग्रन्थो का भी सकेत मिलता है। इस प्रकार हरिप्रसाद के नाम से आठ ग्रन्थो का उल्लेख प्राप्त होता है—(1) काव्यालोक, (2) सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक, (3) महाविद्यामहिम्न, (4) पिंगलसार, (5) मन्त्ररत्न, (6) काव्यार्थगुम्फ, (7) शास्त्रजलधिरत्न और (8) रुक्मिणीहरण। "काव्यालोक" के प्रतिरिक्त ग्रन्थ रचनाओ का विवरण इस प्रकार है—

सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक—

प्राफेट ने "केटेलॉगस केटेलॉगोरम" 1, 758 पर इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जिसमे "पीटर्सन केटेलॉग",2, 188 का सन्दर्भ देते हुए लाहौर का उल्लेख किया गया है।

इस ग्रन्थ की तीन प्रतियाँ भिन्न-भिन्न स्थलो पर उपलब्ध हैं—(1) भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, (2) राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर और (3) राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अलवर।

भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना मे यह प्रति एम एस न 68/ए 1883–84 पर प्राप्त होती है। इसमे कुल पत्र हैं। माप –32×18 से मी, पक्ति-15, अक्षर–45 हैं। इसमे ग्रन्थ या प्रति के समय का उल्लेख नही किया गया है।

जोधपुर के प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान मे यह "आह्निककृत्य" (सद्धर्मतत्त्व का भाग) नाम से ग्रन्थ-सख्या 26354 पर सुरक्षित है। यह प्रति वि स 1917 की है। इसमे कुल पत्र-सख्या–9, माप –25 5×11 7, पक्ति–10, अक्षर-34 हैं।

राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अलवर मे यह ग्रन्थ-सख्या-3440 पर "आचारतत्त्व"(आह्निककृत्यमन्त्रबोध्यम्) नाम से प्राप्त है। इसमे पत्र-सख्या-16, पक्ति-7, अक्षर 26, माप–13 2×25 5 है। इस प्रति का भी समय नही दिया गया है, परन्तु लिपि के आधार पर यह भी 20वी शती की प्रतीत होती है।

सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक" की तीनो प्रतियो का अवलोकन करने पर स्पष्ट है कि इनमे अनेक स्थानो पर पाठभेद है। पूना की प्रति मे कई स्थलो पर वर्ण, पद या वाक्य छूट गये हैं, जो जोधपुर और अलवर की प्रतियो मे प्राप्त होते हैं। जोधपुर और पूना की प्रति मे सख्या 61 के पश्चात् समानता है। जोधपुर

की प्रति मे समय का उल्लेख किया गया है, जो पूना की प्रति मे नही है । अलवर की प्रति मे आगे भी बहुत-सी पक्तियाँ दी गयी हैं, जिनमे हरिप्रसाद के वश इत्यादि के बारे मे विवरण दिया गया है । पूना और जोधपुर की प्रतियो मे प्रत्येक विषय का वर्णन करके "इति शौचप्रकरणम्" इत्यादि लिखा है । परन्तु अलवर की प्रति मे यह नही है । जोधपुर की प्रति मे कही पाठ पूना की प्रति के समान है, तो कही अलवर की प्रति के समान है । ऐसा प्रतीत होता है कि इन तीनो प्रतियो का मूल एक ही है, परन्तु प्रतिलिपिकार भिन्न-भिन्न होने से इनमे पाठभेद लक्षित होता है ।

"काव्यालोक" के समान इस ग्रन्थ का प्रारम्भ भी "श्री गणेशाय नम " से ही हुआ है । तीनो प्रतियो मे ही ग्रन्थ के अन्त मे हरिप्रसाद को माथुर मिश्र गणेश का पुत्र बताया गया है । अत यह निश्चित है कि "काव्यालोक" के रचयिता हरिप्रसाद की ही यह कृति है ।

यह धर्मशास्त्र का ग्रन्थ है । इसमे शौच, आचमन, दन्तधावन, स्नान, सध्या, होम, तर्पण, देवपूजा, वैश्वदेव, भोजन तथा शयनविधि बतायी गयी है ।

जोधपुर की प्रति के अनुसार ग्रन्थ का प्रारम्भ तथा अन्त इस प्रकार है—

प्रारम्भ—

।। श्री गणेशाय नम ।।

नत्वाहेरवमातु पदकमलयुग प्रातरुत्थाय पुण्य—
श्लोकाम्स्मृत्वाऽथ रक्षो दिशिपटपिहित क विषायेपु मात्रम् ।
गत्वा ग्रामार्द्ध यज्ञैस्तृणदलनिचयैराऽऽवृतायामऽमस्म
क्षेत्रामो पर्वताया मुविविगतवचा कर्ममैत्र विदध्यात् ।।1।।

अन्त—

नि शक धर्मशास्त्रेष्ववितथवचसा तन्निबधैरनेकै—
र्मारो मा भूदिति क्ष्मासुरमुकुटमणे मिश्रगणेश्वरस्य ।
पुत्रेण प्राक्प्रसादाद्हरिपदललितेन प्रबद्धेन वर्द्ध॰
पद्यै सद्धर्मतत्त्वे सममवदखिल पूर्णमाह्नि यकृत्यम् ।। 62 ।।

इति शयनविधि ।।

इति श्रीमन्माथुरमिश्रगणेशात्मजहरिप्रसादविरचित सद्धर्मतत्त्वे आह्निक समाप्तम् । शुभ लेखकपाठकयो । सम्वत् 1917 मि मार्ग व 3

पूना की प्रति मे भी कुछ पाठ-भेद के साथ यही अश दिये गये हैं, केवल अन्त मे समय का उल्लेख नही है । अलवर की प्रति मे भी कुछ पाठ भेद के साथ प्रारम्भ तथा अन्त सख्या–61 तक समान है । तत्पश्चात् आगे भी कुछ पक्तियाँ

दी गई हैं, जिनमे हरिप्रसाद के वशादि का विवरण दिया गया है। अलवर की प्रति के अनुसार अन्तिम अश इस प्रकार है—

पोडवा[1] इव तस्यासन् पचपुत्रा महौजस ।
प्रकाशते धरावेद्या[2] तेष्वग्नय इव त्रय ॥ 66 ॥
श्रीविद्यानदरूपेशश्रीगणेशेन सा त्रयी[3] ।
मुख्येन राजते भूमौ रुद्रेणेव गुरुत्रयी ॥ 67 ॥
हरिप्रसादेन कृत तत्पुत्रेणेदमाह्निक ।
आकल्पमाकल्पमिव कठधार्यं द्विजातिभि ॥ 68 ॥
इति हरिप्रसादकृत आचारतत्त्व समाप्तम् ।

महाविद्यामहिम्न—

यह ग्रन्थ राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अलवर मे उपलब्ध है। आफ्रेट के "कैटेलागस केटेलॉगोरम", 11, 236 पर भी इसका उल्लेख किया गया है। अलवर मे उपलब्ध प्रति से स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ भी "काव्यालोक" की रचना करने वाले मथुरा-निवासी गणेश के पुत्र हरिप्रसाद की ही रचना है। इस ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका मे लिखा है—

इति श्री मद्गणेश्वरतनुजवर्येण हरिणा ।
प्रसादोपात्ताख्येन[4] च मधुपुरीवासिविदुषा[5] ॥
महाविद्यायत्रोद्धति[6] सकलरूपोद्धृतियुतम् ।
कृत स्तोत्र पुण्य[7] गगनवसुशैलेन्दुसमये ॥ 22 ॥

इति श्री मन्मिश्रगणेशस्या[8]परतनुजहरिप्रसाद[9]मिश्रविरचित महाविद्यामहिम्न समाप्तम् ॥ 1 ॥

---

1 ० इव
2 तेष्य ०
3 ० त्रय
4 ० ताख्योन
5 ० रीवांसीविदुषा
6 ० यत्रौद्धति
7 पुमण्य
8 ० शमाप ०
9 ० सादिमि ०

अलवर मे उपलब्ध इस प्रति मे कुल 7 पत्र हैं। माप – 20×8 5 से मी पक्ति – 5, अक्षर – 25 हैं। प्रति अच्छी अवस्था मे है तथा लिपि स्पष्ट है। पुष्पिका से स्पष्ट है कि ग्रन्थ का रचनाकाल स 1780 है। "काव्यालोक" का रचनाकाल स 1784 है, अत यह उससे पूर्व की रचना है।

यह ग्रन्थ स्तोत्र से सम्बन्धित है। पद्य मे विरचित 22 श्लोकों का यह एक छोटा-सा ग्रन्थ है। इसका प्रारम्भिक अश इस प्रकार है—

श्री गुरुभ्यो नम ।
कालीताराछिन्नमस्ताषोडशीभुवनेश्वरी ।
भैरवी श्रीमतगी च बगलाधूमवत्यपि[1] ।।1।।
चिदानदे विदौ चिदजलमयूखोदरचरी,[2]
[3]हरीशानब्रह्मेश्वरघटितमचे कृतपदाम् ।
प्रपच सिचामामृतरसलावण्यलहरी,
गमीरार्मिदिग्मिर्जननि[4] तव वन्दे महिकलाम् ।।2।।

पिंगलसार—

ऑफ्रेट के "कैटेलॉगस केटेलॉगोरम" पार्ट 1, पृ 758 पर उल्लिखित इस ग्रन्थ की प्रति "राजस्थान प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान" की बीकानेर तथा जोधपुर दोनो शाखाओं मे मिलती है।

प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर मे यह ग्रन्थ-सख्या – 1253 पर उपलब्ध है, जिसमे पाँच पत्र हैं। माप – 25 3×12 1, पक्ति – 14, अक्षर – 40 हैं। इस प्रति मे ग्रन्थ-रचना अथवा प्रतिलिपि के समय का कोई उल्लेख नही है।

प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, बीकानेर मे ग्रन्थ सख्या 1878 पर उपलब्ध प्रति मे भी पाँच पत्र हैं। माप – 22×9 8, पक्ति – 14, अक्षर – 40 हैं। इस प्रति मे ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है—

इति हरिप्रसादोद्योते पिंगलसारे नष्टोद्दिष्टादिलक्षणम् ।।
सवत् 1806 मगसरवदि 2 दिने ।

इससे स्पष्ट है कि मगसरवदि 2, सम्वत् 1806 मे यह ग्रन्थ लिखा गया।

---

1 ० धूमेवत्यपि
2 ० चरी
3 हरिशा ०
4 ० जननि

परन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि कि स० 1806 ग्रन्थ-रचना का समय है या प्रतिलिपि का। ग्रन्थ की वृत्ति के अन्त मे प्रतिलिपिकार का भी उल्लेख है—

पडितलक्ष्मीचन्दगणिना लेखि विक्रमपुरे।

अत यह ज्ञात होता है कि विक्रमपुर (बीकानेर) मे ही पण्डित लक्ष्मीचन्द गणि ने इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि की। सवत् 1806 को "पिंगलसार" का रचनाकाल माना जा सकता है। "काव्यार्थगुम्फ" का रचनाकाल स० 1775, "महाविद्यामहिम्न" का स 1780 और "काव्यालोक" का स 1784 है। अत सम्भव है कि यह हरिप्रसाद की परवर्ती रचना हो।

"पिंगलसार" ग्रन्थ की जोधपुर तथा बीकानेर, दोनो ही प्रतियो के मूल-भाग मे यह उल्लेख नहीं है कि ग्रन्थकार हरिप्रसाद "माथुर मिश्र गणेश" के ही पुत्र है या भिन्न व्यक्ति है। परन्तु ग्रन्थ के अन्त मे वृत्ति में लिखा है—

गणेशगुरुपादाब्जमकरदप्रसादत ।

इससे प्रतीत होता है कि गणेश के पुत्र हरिप्रसाद ने इस ग्रन्थ की रचना की।

"पिंगलसार" की दोनो प्रतियो मे पाठ तथा लेखन-शैली प्राय समान ही है। इसे पचपाट या पचपाठ के रूप मे लिखा गया है अर्थात् मूल-ग्रन्थ पत्र के मध्य-भाग मे कुछ मोटे अक्षरो मे लिखा गया और वृत्ति-भाग उसके ऊपर-नीचे कुछ बारीक अक्षरो मे लिखा गया है, तथा दाहिने और बायें हाशिये मे भी आवश्यक विवेचन किया गया है।

"पिंगलसार" एक छदशास्त्र का ग्रन्थ है। मूल-ग्रन्थ मे 25 पद्य हैं। छन्दो को स्पष्ट करने के लिए मूल-पाठ के साथ ही मात्रा-गणना आदि का भी सकेत किया गया है।

प्रारम्भ—षट्पचचतुस्त्रिद्विप्रमिताष्टठडढणा पच गणा मात्रा ।
विश्वे वसु पचाग्नि द्वाविति भेदा क्रमेण विस्तारे ॥ 1 ॥

अन्तिम—प्रस्तारज्ञानार्थं कौतुकहेतोश्च निखिलसुधियाम् ।
मेरुपताकादीनां लक्षणमुक्त समासेन ॥ 25 ॥

इति हरिप्रसादोन्नीते पिंगलसारे नष्टोद्दिष्टादिलक्षणम्। सम्वत् 1806 मगसरवदि 2 दिने।

वृत्ति का अन्तिम अश—

गणेश-गुरु-पादाब्जमकरदप्रसादत ।
सारोद्धार कृतोनेन प्रीयता परमेश्वर ॥26॥

इति नष्टोद्दिष्टादिलक्षणम्। पडितलक्ष्मीचन्दगणिना लेखि विक्रमपुरे ॥

बीकानेर और जोधपुर दोनो ही प्रतियो मे प्रारम्भ समान ही है, परन्तु अन्त-भाग मे उपर्युक्त पक्तियाँ बीकानेर की प्रति की हैं। जोधपुर की प्रति मे—"इति हरिप्रसादोन्नीते पिंगलसारे नष्टोद्दिष्टादिलक्षण समाप्तम्" लिखा है, आगे समयोल्लेख की पक्ति नही है। इसी प्रकार वृत्ति-भाग मे भी "26 इति" लिखकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया है, आगे पक्तियाँ नही लिखी हैं।

मन्त्ररत्न—

ऑफ्रेट तथा डॉ० राघवन् के "केटेलॉगस केटेलॉगोरम" मे इस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं है। परन्तु राजस्थान प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, जयपुर शाखा मे ग्रन्थ-सख्या—187 पर इसकी प्रति मिलती है। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है—

"इति श्रीमत्समस्ततत्रार्णवप्रज्ञानौकर्णधारमिश्रगणेशात्मजहरिप्रसादमाथुरनिर्मिते मन्त्ररत्ने तृतीयो मयूख ।"

इस पुष्पिका से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ भी माथुर मिश्र गणेशात्मज हरिप्रसाद का लिखा हुआ है।

इस प्रति मे 13 पत्र, 7पक्तियाँ तथा 20 अक्षर हैं। इसकी माप–14 6 × 9 2 है। इसमे रचनाकाल अथवा प्रति के समय के विषय मे कोई उल्लेख नही है, लिपि के आधार पर यह प्रतिलिपि उन्नीसवी शताब्दी की ही प्रतीत होती है।

यह ग्रन्थ पूर्ण उपलब्ध नही है। इस प्रति मे ग्रन्थ का केवल द्वितीय तथा तृतीय मयूख ही दिया गया है। प्रत्येक पत्र के 'ब' भाग मे "श्री" शब्द लिखा हुआ है। यह एक छोटा-सा पद्यात्मक ग्रन्थ है। इसके 13 पत्रो मे से 10 पत्रो मे द्वितीय मयूख है, जिसमे 53 पद्य है। अन्तिम तीन पत्रो मे तृतीय मयूख है, जिनमे केवल 9 पद्य हैं।

"मन्त्ररत्न" ग्रन्थ तन्त्र पर आधारित है। द्वितीय मयूख का नाम "नित्य-कृत्य" है, जिसमे "षडक्षरी मन्त्रविधि" तथा "पूजाविधि" वर्णित है। तृतीय-मयूख मे "जप-ध्यान" दिया गया है।

प्रारम्भ—श्री गणेशाय नम ।

> ओम् उन्नतैककुचमुन्नतनास चक्त शलयमदद्कूलम् ।
> एकत कनकहरमुदारणेरमस्तु सुखद शिववस्तु ।। 1 ।।
>
> प्रणव कमलामयोद्धरेद् भुवनेशीं मकरध्वज तत ।
> वनिता वनवैरिण [ ] स्मृता जगदुज्जीवनिका षडक्षरी ।।2 ।।

अन्तिम—नीला नाभेरधस्तादुपरिपरिपतन्मत्तमैलन्दकान्ति,
कान्ता शम्भोस्तदूर्ध्वं समुदिततपनस्पष्टरोचि प्रसन्ना ।

ख्याता सर्वेष्टसिद्ध्यै सुरनरनमिता मर्ममार्गैकसीमा,
भूयादित्यद्रिपुत्री पतिमुपनयति स्वीयवाक्पेलवेषु ॥ 9 ॥

काव्यार्थगुम्फ—

एस के डे ने "सस्कृत पोइटिक्स", वॉल्यूम 1, पृ 314 पर इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। डॉ० राघवन् ने वॉल्यूम 4, पृ 111 पर इसका सन्दर्भ दिया है—BORID (Descriptive Catalogue of the Government Collection of manuscripts deposited in the Bhandarker Oriental Institute, Poona–4) Vol XII–131

पूना से सन् 1936 मे प्रकाशित इस केटेलॉग के वॉल्यूम 12 (अलकार, सगीत और नाट्य) मे पृ 145 पर ग्रन्थ सख्या—131 पर यह ग्रन्थ उल्लिखित है। "भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना" मे इस ग्रन्थ की प्रति उपलब्ध है।

पूना की इस प्रति का माप 7½ इच × 4½ इच है। इसमे कुल 12 पत्र हैं, एक पृष्ठ मे 10 पक्तिया हैं। इसे बहुत पुराने व पतले कागज पर देवनागरी लिपि से लिखा गया है। परन्तु इसके अक्षर बहुत स्पष्ट और पठनीय हैं। ग्रन्थ का रचनाकाल सवत् 1775 है तथा यह गगेशतनय हरिप्रसाद की ही रचना है—

इति श्री श्रीमद्गगेशतनयहरिप्रसादमाथुरनिर्मित परिसमाप्तोऽय काव्यार्थगुफ। श्रीरस्तु। सवत् 1755 माघशुक्लपौर्णिमाया शनौ। (काव्यार्थगुफ की पुष्पिका)।

"काव्यार्थगुफ" के पत्र 5 अ, पक्ति 7 पर "तदुक्त तातचरणै" लिखकर इसके ऊपर सकेत करके दक्षिणपार्श्व मे "श्रीमद्गगेशमिश्रै" लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि निश्चितरूप से यह रचना गगेशमिश्र के पुत्र हरिप्रसाद की है। इसके समय–उल्लेख से स्पष्ट है कि हरिप्रसाद की कृतियो मे सम्भवत यह उसकी प्रथम रचना है।

"काव्यार्थगुफ" एक अलकारशास्त्रीय रचना है। इस ग्रन्थ का अध्याय के रूप मे विभाजन नहीं किया गया है। अलकारशास्त्रीय विषयो का क्रमश विवेचन कर दिया गया है। विषय-विवेचन मे लक्षण देकर उसे समझाया गया है, उदाहरण बहुत कम स्थलो पर दिये गये हैं।

"काव्यार्थगुफ" तथा "काव्यालोक" का विषय एक ही है। "काव्यार्थगुफ" मे प्रत्येक विषय का अतिसक्षेप मे वर्णन किया गया है परन्तु "काव्यालोक" मे उन्हीं विषयों का विस्तार से उदाहरण-सहित विवेचन किया गया है। ऐसा

प्रतीत होता है कि हरिप्रसाद ने पहले "काव्यार्थगुफ" मे अलकारशास्त्रीय विषयो का सक्षेप मे विवेचन किया । परन्तु कालान्तर मे उनके विस्तार की आवश्यकता समझकर "काव्यालोक" का निर्माण किया ।

प्रारम्भ—॥श्री गणेशाय नम ॥

लोकोत्तराह्लादकार्थविशिष्ट शब्द काव्यम् । तस्य चाह्लादकीर्त्याद्यनेक-प्रयोजनवतो देवताप्रसादाद्व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्या वा घटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिरेव कारण, काव्य श्रुतमर्थो नावगत इत्यादौ शब्द एव लोकप्रतीतिपर्यवसानात् ।

अन्तिम—इत्यलकारा । इत्थ चादुष्ट गुणवत्सालकार काव्य परमपुरुषार्थ-समर्थकमिति सर्वं शिवम् ।

प्राचा मतानुरोधेन बालव्युत्पत्तिहेतवे ।
काव्यगुफ कृतोनेन प्रीयता हरवल्लभा ॥ 1 ॥
य शब्दरचनामगो यश्चार्थगुणविप्लव ।
नावमान्यो हि बालाना थावय कर्णरसायनम् ॥ 2 ॥

इति श्रीमद्गगेशतनयहरिप्रसादमाथुरनिर्मित परिसमाप्तोय काव्यार्थगुफ ॥ श्रीरस्तु ॥ सवत् 1775 माघशुक्लपौर्णिमाया शनौ ॥

(6) शास्त्रजलधिरत्न—

"आफ्रेट" के केटेलॉगस केटेलॉगोरम", पार्ट 1 पृ 758 पर इस ग्रन्थ का उल्लेख है । डॉ० राघवन् के "न्यू केटेलॉगस केटेलॉगोरम", वॉल्यूम 5, 1969, पृ 226 पर उल्लिखित इसका सन्दर्भ पी यू एल –II पृष्ठ 67 का दिया है । पी यू एल से अभिप्राय है—

"A Catalogue of Sanskrit manuscripts in the Punjab University Library" Lahore, Vol I, 1932, Vol II, 1941

परन्तु इस ग्रन्थ की कोई भी प्रति प्राप्त नही हो सकी ।

रुक्मिणीहरण—

यह ग्रन्थ किसी भी सूचीपत्र मे अथवा किसी स्थान पर प्राप्त नही हुआ है । परन्तु "काव्यालोक" के षष्ठ प्रकाश मे इस ग्रन्थ का सकेत दिया गया है—

एतेषामुदाहरणान्तराणि अस्मत्कृतरुक्मिणीहरणादौ स्पष्टमवलोकनीयानि ।[1]

इससे स्पष्ट है कि हरिप्रसाद ने "रुक्मिणीहरण" की रचना की होगी, परन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध नही हो पाया है ।

---

1 का लो —मू 119 की वृत्ति ('प्रेक्ष्य' के विवेचन के अन्तर्गत)

कृतिकार का समय एव स्थान—

पी वी काणे[1] ने माथुर मिश्र गगेश के पुत्र हरिप्रसाद का समय लगभग सन् 1718–1728 बताया है ।

काव्यालोककार हरिप्रसाद के समय के विषय मे उनकी कृतियो मे सकेत प्राप्त होता है । हरिप्रसाद के चार ग्रन्थो मे रचना-काल दिया गया है, जिनके आधार पर हरिप्रसाद का समय-निर्धारण किया जा सकता है ।

"काव्यार्थगु फ" की रचना उन्होने सम्वत् 1775 की माघशुक्ल पूर्णिमा को की—"सम्वत् 1775 माघशुक्लपौर्णिमायां शनौ ।"

"महाविद्यामहिम्न" की पुष्पिका मे उसका रचनाकाल 1780 दिया है—

कृत स्तोत्र पुण्य गगनवसुशैलेन्दुसमये ।

गगन–0 वसु–8, शैल–7, और इन्दु 1 सख्या का वाचक है, अत सम्वत् 1780 मे यह ग्रन्थ लिखा गया है ।

"काव्यालोक" के अन्त मे लिखा है—

अब्धिदिङ्मुनिभू 1784 वर्षमाघशुक्लसुतौ 7 रवे ।
काव्यालोकमिद पूर्णमकारिगुरुसन्निधौ ।।

अब्धि–4, दिक्–8, मुनि–7 तथा भू–1 सख्या का वाचक है, अत अब्धि-दिड मुनिभू का अर्थ हुआ—1784 । हरिप्रसाद ने सूर्य के सक्रमण की माघ शुक्ला सप्तमी को सवत् 1784 मे "काव्यालोक" पूरा किया ।

"पिंगलसार" मे हरिप्रसाद ने लिखा है—

"इति हरिप्रसादोन्नीते पिंगलसारे नष्टोद्दिष्टादिलक्षणम् । सवत् 1806 मगसरवदि 2 दिने ।"

इससे स्पष्ट है कि "पिंगलसार" की रचना सम्वत् 1806 मे हुयी ।

इन उल्लेखो से स्पष्ट है कि हरिप्रसाद ने स 1775 मे "काव्यार्थगुम्फ", स 1780 मे "महाविद्यामहिम्न", स 1784 मे "काव्यालोक" तथा स 1806 मे "पिंगलसार" ग्रन्थों की रचना की । सम्वत् 1775 से 1806 तक वह निश्चित रूप से ग्रन्थों की रचना करते रहे । अत हरिप्रसाद का समय भी यही स्वीकार करते हुए 18वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे उनको माना जा सकता है ।

---

1 History of Sanskrit Poetics—Index of Authors & Works

हरिप्रसाद के निवास-स्थान के बारे मे भी उनकी कृतियो से सकेत मिलता है। हरिप्रसाद के प्रत्येक ग्रन्थ की पुष्पिका मे उनको "माथुर मिश्र गगेशात्मज" कहा गया है। "काव्यालोक" के प्रत्येक प्रकाश की समाप्ति पर भी इसका उल्लेख किया गया है। "महाविद्यामहिम्न" ग्रन्थ की पुष्पिका मे हरिप्रसाद को "मधुपुरीवासी" (मथुरा का निवासी) कहा गया है। अत हरिप्रसाद को मूलरूप से मथुरा का रहने वाला माना जा सकता है।

हरिप्रसाद के ग्रन्थो के प्राप्ति-स्थल पर अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि इनमे से "काव्यालोक" जयपुर-महाराजा के पुस्तकालय मे प्राप्त होता है। अन्य ग्रन्थ भी राजस्थान के अन्य स्थानो अलवर, जोधपुर, बीकानेर और जयपुर में उपलब्ध हैं। केवल एक प्रति पूना मे उपलब्ध है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि हरिप्रसाद का सम्बन्ध राजपूताना से अवश्य रहा होगा। कछवाहा नरेश से भी इनका सम्बन्ध होगा, क्योकि "काव्यालोक" के सप्तम प्रकाश मे प्रतीप अलकार के उदाहरण मे कूर्माधिप (कछवाहा नरेश) के पृथ्वी पर प्रतिष्ठित होने का उल्लेख किया गया है—

रत्नाना निलय सुधासमुदय· क्षोणीतलेऽद्धासन
गामीर्येण पराश्रय सुविदितो मत्वेति मा गा मदम्।
भो रत्नाकर! तावकीयमहिमानिर्माणसर्वं सह
सम्प्रत्येष धरावलम्बितपदो जागर्ति कूर्माधिप ॥[1]

"लिट्रेरी हेरिटेज ऑफ दी रूलर्स ऑफ आम्बेर एण्ड जयपुर" मे श्री गोपाल नारायण बहुरा ने लिखा है—

"The author, somehow or other, seems to be connected with the royal कूर्मवंश as he mentions It is a verse as an example of प्रतापवर्णन—

रत्नाना निलय· ....कूर्माधिप ॥

On the margin the word कूर्म is explained as कछवाहा इति भाषा।

The date of composition 1784 V. S (1728 A D) corresponds to the time of Sawai Jai Singh and the auspicious years of the foundations of the City of Jaipur by him ...."(Page 350–1)

---

1 का लो —360

इन पंक्तियों में श्री बहुरा ने हरिप्रसाद का सम्बंध कूर्मवंश से स्वीकार किया है। कूर्मवंश का अभिप्राय कछवाहा वंश से है। कछवाहा राजपूतों का पिछली लगभग एक सहस्राब्दि तक जयपुर और इससे पूर्व आमेर राजधानी वाले राज्य पर आधिपत्य रहा है। "काव्यालोक" का रचनाकाल सन् 1727 (वि स 1784) है, यह वही सन् है, जिस वर्ष सवाई जयसिंह ने जयपुर का निर्माण प्रारम्भ किया था। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि जयपुर राजघराने से भी हरिप्रसाद का सम्बन्ध रहा होगा।

(7) व्यक्तित्व--

काव्यशास्त्रीय परम्परा में "काव्यालोक" परवर्ती रचना है, अतः किसी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में "काव्यालोक" अथवा हरिप्रसाद के बारे में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। किसी भी ग्रन्थकार के बारे में बाह्य प्रमाण अथवा अन्तः प्रमाण के आधार पर ही कुछ कहा जा सकता है। हरिप्रसाद के व्यक्तित्व के लिए बाह्य-प्रमाण का अभाव होने से केवल उनकी कृतियों द्वारा अन्तःसाक्ष्य के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है।

हरिप्रसाद की प्रत्येक कृति के अन्त में तथा "काव्यालोक" के प्रत्येक प्रकाश के अन्त में हरिप्रसाद को "माथुर मिश्र गणेशात्मज" कहे जाने से यह निश्चित है कि हरिप्रसाद गणेश के पुत्र थे।

हरिप्रसाद के वंश के विषय में संकेत "सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक" की अलवर-प्रति के अन्तिम पत्र से मिला है। हरिप्रसाद के पूर्व पुरुष भी विद्वान् थे और परम्परागत विद्वत्ता उनमें विद्यमान थी। प्रसिद्ध माथुर कुल में उनका जन्म हुआ, जिसमें प्रथम मकरंद नामक व्यक्ति हुए। ये परम विद्वान् थे। इनके पाँच पुत्रों में से तीन पुत्र प्रसिद्ध हुए—श्री विद्यानन्द, रमेश और गणेश। इनमें से गणेश प्रतिभाशील थे। इन्हीं गणेश के पुत्र हरिप्रसाद हुए जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की—

> मकरंद प्रथमो भून्माथुरकुलपुंडरीकमकरंद ।
> देवपुरोहितमपि यो पुरोहितेनात्मना जहास सुखम् ।। 63 ।।
> पांडवा[1] इव तस्यासन् पंचपुत्रा महौजसः ।
> प्रकाशते धरावेद्या[2] तेष्वग्नय इव त्रयः ।। 66 ।

---

1 ० इव

2 तेष्व ०

> श्रीविद्यान दरूपेशश्रीगगेशेन सा त्रयी[1] ।
> मुख्येन राजते भूमौ रुद्रेणेव सुरत्रयी ।। 67 ।।
> हरिप्रसादेन कृत तत्पुत्रेणेदमाह्निक ।
> म्रावल्पमाक्ल्पमिव कठेधार्यं द्विजातिभि ।। 68 ।।
>
> —म्राचारतत्त्वम्, पत्र 16

गगेश के पुत्रो मे से हरिप्रसाद दूसरे पुत्र थे क्योकि "महाविद्यामहिम्न" मे इन्हे म्रपरतनुज कहा गया है—

इति श्रीमन्मिश्रगगेशस्या[2]परतनुजहरिप्रसाद[3]मिश्रविरचित महाविद्यामहिम्न समाप्तम् ।।

—महाविद्यामहिम्न, पत्र 7 व

हरिप्रसाद के गुरु श्री रामार्य थे जिन्होने "म्रष्टोत्तरशतमणिमाला" नामक ग्रन्थ की रचना की । इस ग्रन्थ का एव पद्य "काव्यालोक" मे परिकर म्रलकार के उदाहरण-रूप मे उद्धृत है ।[4] 'गुण-विवेचन मे भी उन्होने म्रपने गुरु के मत का उल्लेख किया है ।[5] हरिप्रसाद म्रपने गुरु का म्रादर करते थे ।[6]

हरिप्रसाद के शिष्य सुखलाल थे, जिन्होने "म्रलकारमजरी" नामक ग्रन्थ की रचना की । सुखलाल गगेश म्रौर हरिप्रसाद दोनो के शिष्य थे ।[7]

हरिप्रसाद की "काव्यालोक" तथा म्रन्य कृतियो से यह स्वत स्पष्ट है कि वह सस्कृत के परम विद्वान् थे । इन्होने काव्यशास्त्रीय म्रनेकानेक ग्रन्थो का गहन म्रध्ययन तथा मनन किया होगा । "काव्यालोक" मे म्रनेक स्थलो पर रुद्रट, वामन, भोजराज, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ म्रादि विद्वानो का उल्लेख किया गया है । इनका क्षेत्र केवल काव्यशास्त्र तक ही सीमित नही था, म्रन्य

---

1 ० त्रय

2. ० शमाप ०

3 ० सादिमि ०

4 म्रतएव श्रीरामार्याष्टोत्तरशतमणिमालायामस्मद्गुरूणा पद्ये परिकरप्रस्ताव । यथा—कोशलपाल कृपालय पालय मामपि लघीयासम् ।
तिरयति कथ तमो मा त्वमिनुसृत्याशुमालिवशमणिम् ।। 278 ।।

5 " इत्यस्मत्तातचरणा "—का लो सू 97 की वृत्ति

6 "काव्यालोकमिद पूर्णमकारिगुरुसन्निधौ ।"—का लो, पुष्पिका

7 "केटेलॉगस केटेलॉगोरम"—म्रॉफ्रेट, II, 182

विषयो पर भी इन्होंने ग्रन्थ-रचना की। काव्यशास्त्र पर इनके दो ग्रन्थ हैं—"काव्यालोक" और "काव्यार्थगुम्फ"। अन्य ग्रन्थों में से "सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक" धार्मिक ग्रन्थ है। महाविद्यामहिम्न" स्तोत्र से सम्बन्धित है। "पिंगलसार" छन्द शास्त्र का ग्रन्थ है। "मन्त्ररत्न" तन्त्र पर लिखा गया है। "रश्मिरणीहरण" काव्य का उल्लेख भी मिलता है। अतः काव्यशास्त्र, धर्म, स्तोत्र, छन्द, तन्त्र तथा काव्य सभी विषयों का उन्हें विशिष्ट ज्ञान था।

हरिप्रसाद विद्वान् होने के साथ ही श्रेष्ठ कवि भी थे। "काव्यालोक" में अनेक स्थानों पर उन्होंने उदाहरणरूप में स्वरचित पद्य भी दिए हैं। इससे स्पष्ट है कि श्रेष्ठ कवित्व-रचना-सामर्थ्य उनमें विद्यमान थी।

हरिप्रसाद के स्वभाव में विनम्रता व्याप्त थी। माधुकरीभिक्षारूप "काव्यालोक" की रचना से उनके मन में कोई गर्व नहीं है। "काव्यालोक" की पुष्पिका में उन्होंने पाठकों को विद्यागुरु और स्वयं को शिशु के समान माना है।

2—ग्रन्थ का विषय-विवेचन एवं अन्य काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों से तुलनात्मक अध्ययन

(1) काव्य-प्रयोजन

"काव्यालोक" ग्रन्थ का प्रारम्भ काव्य-प्रयोजन से हुआ है। वर्णनीय विषय प्रस्तुत करने से पूर्व काव्य के प्रयोजन इस प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं—

> "काव्यस्य परमाह्लादकीर्त्यादिफलयोगिनः।
> हरिप्रसादविदुषा मीमांसा कापि तन्यते॥ सू 1॥

उक्त कारिका में काव्य को परमाह्लाद, कीर्ति आदि फल से युक्त बताया गया है। "आदि" पद को स्पष्ट करते हुए कारिका की वृत्ति में कहा है—

"आदिपदाद्धावकादीनामिव धनं मयूरादीनामिवानर्थनिवृत्तिरित्यादि धनानर्थनिवृत्तिव्यवहारज्ञानादिकं सगृह्यते।" —"आदि" पद से धावक आदि कवियों को धन, मयूर आदि कवियों की अनर्थ-निवृत्ति इत्यादि धन, अनर्थनिवृत्ति, व्यवहारज्ञान आदि प्रयोजनों का ग्रहण होता है।

इस प्रकार "काव्यालोक" में परमाह्लाद, कीर्ति, धनप्राप्ति, अनर्थनिवृत्ति, व्यवहारज्ञान आदि काव्य-प्रयोजन बताये हैं। इनमें से परमाह्लाद को "सकलप्रयोजनमौलिभूतम्" समस्त काव्य-प्रयोजनों का शिरोमणि माना गया है।

भामह, वामन, रुद्रट, कुन्तक, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि प्राय सभी संस्कृत काव्यशास्त्रियो ने अपने ग्रन्थो मे काव्य-प्रयोजनो[1] का निरूपण किया है।

काव्य-प्रयोजन के सम्बन्ध मे विभिन्न आचार्यों के अभिमतो मे मम्मट का विवेचन सर्वाधिक स्पष्ट एव व्यावहारिक है। मम्मट ने काव्य के 6 प्रयोजन बताये हैं—1 यश, 2 धन की प्राप्ति, 3 व्यवहार-ज्ञान, 4 अनर्थनिवृत्ति, 5 आनन्द-प्राप्ति और 6 कान्तासम्मित उपदेश।[2]

स्पष्ट है कि मम्मटोक्त काव्य-प्रयोजन ही हरिप्रसाद ने प्रस्तुत किये है। "काव्यालोक" मे परमाह्लाद, कीर्ति, धन-प्राप्ति, अनर्थनिवृत्ति और व्यवहार-ज्ञान, इन पाँच काव्य-प्रयोजनो का उल्लेख किया है।

मम्मटोक्त "उपदेश" का कथन नही किया गया। परन्तु "आदि" पद से प्रतीत होता है कि सम्भवत उन्हें अन्य प्रयोजन भी स्वीकार हैं और उनमे "उपदेश" भी हो सकता है। आचार्य मम्मट के समान हरिप्रसाद ने भी आनन्द को "सकलप्रयोजनमौलिभूतम्" समस्त प्रयोजनो मे शिरोमणि स्वीकार किया है।

(2) काव्य-हेतु

हरिप्रसाद के अनुसार अतिशय चमत्कारात्मक काव्य के शरीर का कारण बीजसहित कवि का सरस प्रतिभारूपी अकुर ही है—

> सबीजस्य कवेस्तत्र सरसप्रतिभाकुर ।
> कारण वपुषस्तस्य चमत्कारपरात्मन ।। सू 4 ।।

"बीज" को स्पष्ट करते हुए कारिका की वृत्ति मे लिखा है—"प्राक्तनसंस्कार-विशेषो बीज य विना निर्मातृत्वस्वादकताविरह"—पहले से रहने वाला संस्कार विशेष बीज है, जिसके बिना निर्मातृत्व की स्वादकता नही हो सकती। यह बीज ही काव्य का कारण है। काव्य-सघटना के अनुकूल जो शब्द और अर्थ की उपस्थिति होती है, उसमे बीज तो मूलरूप मे विद्यमान रहता ही है, साथ ही उसके तीन अन्य कारण भी हैं—(1) देवताओ की प्रसन्नता, (2) लोक-व्यवहार,

---

1. भा काव्या—1, 20, काव्या सू—1, 1, 5, रु काव्या—12, 1, वक्रोक्ति-1, 3-5, सा द 1, 2, रस, 1, पृ 8
2. काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
   सद्य परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।। का प्र-1, 2

शास्त्र, काव्य, इतिहास आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न व्युत्पत्ति और (3) पुन पुन काव्य-शिक्षा का अभ्यास। संस्कारविशेष बीज में इन तीनों कारणों से काव्यसंघटना के अनुकूल शब्दार्थ की उपस्थिति होती है और इस बीज के प्रतिभा रूपी अकुर से काव्य उत्पन्न होता है। अत कवि में पूर्वविद्यमान संस्काररूप बीज का सरस प्रतिभारूपी अकुर ही काव्य का कारण है और इसमें देवताओं की प्रसन्नता, व्युत्पत्ति और अभ्यास भी अनुकूल शब्दार्थ की उपस्थिति में सहायक हैं।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राय सभी आचार्यों ने काव्यहेतु पर विचार किया है। भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, मम्मट, राजशेखर, पण्डितराज जगन्नाथ, जयदेव आदि अनेक आचार्यों ने इस विषय पर अपने मत प्रस्तुत किये हैं।[1] अधिकाश आचार्यों ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास, इन तीनों को काव्यहेतु के रूप में प्रतिपादित किया। कुछ आचार्यों ने केवल प्रतिभा को हेतु कहा है।

पण्डितराज जगन्नाथ यद्यपि केवल प्रतिभा को काव्य का कारण मानते हैं, परन्तु उस प्रतिभा के भी दो हेतु बताये हैं—देवता अथवा महापुरुष की प्रसन्नता से उत्पन्न अदृष्ट और विलक्षण व्युत्पत्ति एव अभ्यास।[2]

काव्यालोककार हरिप्रसाद द्वारा प्रस्तुत काव्य-हेतु का विवेचन पण्डितराज जगन्नाथ से समानता रखता है। दोनों में ही प्रतिभा को काव्य का कारण माना गया है। इसके साथ ही अदृष्ट, व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी कारण माना है, परन्तु प्रमुखता प्रतिभा को ही प्रदान की है।

(3) काव्य की आत्मा

हरिप्रसाद ने चमत्कार को काव्य की आत्मा माना है—

चमत्कार एव पर आत्मा यस्येत्यर्थ। (सू 4 की वृत्ति)

रस आत्मा इति परे आचार्या ऊचु। स्वमते तु चमत्कार एवात्मा काव्यस्य। (सू 5, मू पा टि)

---

1 भा काव्या 1, 5, 10, काव्या—1, 103, काव्या सू 1, 3, 1, रु काव्या, 1, 14, का प्र 1, 3, काव्यमी पृ 29, रस 1, पृ 27-9 चन्द्रा 1, 6

2 तस्य च कारण कविगता केवला प्रतिभा।
तस्याश्च हेतु क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम् क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्यकरणाभ्यासौ। —रस 1, पृ 27, 29

तत्सुखातिशयकारण चमत्कार एव काव्यप्राणा इति सिद्धम् ।

(सू 6 की वृत्ति)

विशिष्टशब्दरूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृति (सू 200)

अन्य आचार्यों के मतानुसार रस काव्य की आत्मा है, परन्तु काव्यालोककार चमत्कार को आत्मा स्वीकार करते हैं। रस को काव्य की आत्मा और ध्वनि को काव्य का प्राण नही मानना चाहिये, अपितु सुखातिशय का कारण चमत्कार ही काव्य का प्राण है। शब्द काव्य का शरीर है। "काव्य को सुना, अर्थ ज्ञात न हो सका" इत्यादि प्रयोग से "शब्द" ही लोक-प्रतीति द्वारा निश्चय कराने वाला होता है, अत शरीर मे पुरुष नाम के व्यवहार के समान शब्द के लिए ही काव्य शब्द का प्रयोग होता है।

काव्य मे चमत्कार सुखातिशय का कारण है। वस्तु और अलकार रूप भी काव्य के आत्मरूप माने गये हैं—

भाव्यमाने चमत्कार सुखातिशयकारणम् ।
वस्त्वलङ्काररूपोऽपि काव्यस्यात्मा मत मतम् ।। सू 6 ।।

सस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास मे काव्यगत विविध तत्त्वो को आत्मतत्त्व के रूप मे प्रतिपादित किया गया है सर्वप्रथम वामन ने "रीतिरात्मा काव्यस्य" लिखकर रीति को काव्य की आत्मा माना। भामह, दण्डी और उद्भट ने अलकार को काव्य का सर्वस्व एव अनिवार्य तत्त्व स्वीकार किया। आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना—"काव्यस्यात्मा ध्वनि"। मम्मट ने भी ध्वनि को स्वीकार किया। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना। वाक्य रसात्मक काव्यम्" लिखकर विश्वनाथ ने रस को आत्मा स्वीकार किया।

इस प्रकार सस्कृत काव्यशास्त्र मे रस, अलकार, रीति, वक्रोक्ति अथवा ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप मे माना गया। परन्तु हरिप्रसाद ने 'काव्यालोक' मे नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। अन्य काव्यगत तत्त्वो को स्वीकार करते हुए उन्होने आत्मा के रूप मे चमत्कार को स्वीकार किया है। काव्य के सुखातिशय का कारण चमत्कार है, अत यही काव्य की आत्मा है, काव्य का प्राण है।

(4) काव्य-लक्षण

"काव्यालोक" मे काव्य का लक्षण दिया गया है—

लोकोत्तराह्लादकार्थं शब्द काव्यम् ।।सू 7।।

लोकोत्तर आह्लाद उत्पन्न करने वाले अर्थ से युक्त शब्द काव्य है। "लोकोत्तर" को स्पष्ट करते हुए वृत्ति मे लिखा है—

लोकोत्तरत्व च सुखातिशयकारणं चमत्कारविशेष ।

सुख के मतिशय का कारण चमत्कार-विशेष ही लोकोत्तरता (मलौकिकता) है।

हरिप्रसाद ने केवल शब्द को काव्य माना है। लक्षण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने वृत्ति में बताया है—"सर्वथा विशिष्टशब्दनिष्ठमेव काव्यत्वमित्यर्थ"—सर्वथा विशिष्ट शब्दनिष्ठ ही काव्य है। यह शब्द एक विशिष्टता लिये हुए है कि वह (शब्द) मलौकिक माह्लाद उत्पन्न करने वाले मर्थ से युक्त है।

साहित्यशास्त्र के माद्य मालकारिक भामह ने शब्द और मर्थ के सहभाव को काव्य कहा है—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् ।[1]

दण्डी ने "शरीर तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली"[2] लिखकर इष्ट (हृदयाह्लादक) मर्थ से युक्त पदावली (शब्द और मर्थ) को काव्य का शरीर बताया है।

वामन ने रीति को काव्य की मात्मा मानते हुए भी गुण और मलंकार से संस्कृत शब्द और मर्थ के लिये काव्य शब्द का प्रयोग किया है।[3]

रुद्रट ने भी शब्द और मर्थ को काव्य माना—"ननु शब्दार्थौ काव्यम्।[4]

ध्वनि को काव्य की मात्मा मानने वाले मानन्दवर्धन ने भी काव्य को शब्दार्थ शरीर वाला माना है।[5]

कुन्तक का काव्य-लक्षण है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ।।[6]

काव्य-मर्मज्ञों के लिए माह्लाददायक, कवि-व्यापार-वक्रता से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और मर्थ मिलकर काव्य है।

1 भा काव्या –1, 16
2 काव्या,–1,10
3 काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते ।
—काव्या सू 1, 1, 1 की वृत्ति
4 रु काव्या 2, 1
5 शब्दार्थशरीरंतावत् काव्यम् ।
सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् ।
—ध्वन्या 1, 1 की वृत्ति, पृ 5
6 वक्रोक्ति 1, पृ -3

मम्मट के अनुसार दोष-रहित, गुणयुक्त, सामान्यत अलकार-सहित, किन्तु कही-कही अलकार-रहित भी शब्द और अर्थ काव्य हैं—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुन क्वापि ।[1]

विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को काव्य माना है—वाक्य रसात्मक काव्यम् ।[2]

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य-लक्षण दिया है—

रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम् ।[3]

रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। लक्षण मे प्रयुक्त "रमणीयता" शब्द को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि जिसके ज्ञान मे अलौकिक आह्लाद प्राप्त होता है, वह अर्थ रमणीय होता है । लोकोत्तर आनन्द को उत्पन्न करने वाले ज्ञान की गोचरता ही रमणीयता है । लोकोत्तराह्लाद को ही चमत्कार कहा गया है ।

भारतीय काव्यशास्त्र मे निरूपित उपर्युक्त काव्य-लक्षणो से स्पष्ट है कि भामह से लेकर विश्वनाथ तक प्राय शब्द और अर्थ को काव्य माना गया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने किंचिद् भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए केवल शब्द को काव्य माना । "काव्यालोक" मे प्रस्तुत काव्य-लक्षण "रसगगाधर" के सदृश है । "रसगगाधर" मे *"रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है"*, और *"काव्यालोक"* मे "अलौकिक आह्लाद को उत्पन्न करने वाला शब्द काव्य है" । "रमणीय" शब्द भी अलौकिक आह्लाद को ही प्रतिपादित करने वाला है ।

आचार्य विश्वनाथ ने अनेक तर्क-वितर्कों का आधार लेकर मम्मट के काव्य लक्षण का खण्डन किया है । "काव्यालोक" मे उसी विवेचन को सक्षिप्तत प्रस्तुत करते हुए मम्मट के काव्य-लक्षण पर आक्षेप किया गया है । हरिप्रसाद ने विश्वनाथ के "वाक्य रसात्मक काव्यम्" तथा वामन के "रीतिरात्मा काव्यस्य" पर भी आक्षेप किया है तथा "लोकोत्तराह्लादकार्य शब्द काव्यम्" को काव्य-लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया है ।

(5) शब्द-शक्ति

"काव्यालोक" मे तीन प्रकार के शब्द बताये गये हैं—वाचक, लाक्षणिक

---

1 का प्र-1, 4
2 सा द 1, 3
3 रस 1, पृ 10

मौर व्यजक । इन शब्दो से मर्थों का बोध कराने वाली तीन शब्द शक्तियाँ हैं—ग्रभिधा, लक्षणा और व्यजना ।

ग्रभिधा-शक्ति-वाचक शब्द का ग्रभिधेय है—

ग्रभिधाशक्तिरेतस्याभिधेय ॥ सू 10 ॥

सकेतित ग्रर्थ को धारण करने वाला वाचक शब्द होता है । पद और पदार्थ मे शब्द और उसके बोध के ग्रनुकूल होने वाला सम्बन्ध सकेत है । वाचक शब्द के उस सकेतित ग्रर्थ का बोध ग्रभिधा शक्ति से होता है ।

वृत्ति मे स्पष्ट करते हुए हरिप्रसाद ने बताया है कि किसी शब्द का ग्रर्थगत (ग्रर्थ मे रहने वाला) ग्रथवा ग्रर्थ का शब्दगत (शब्द मे रहने वाला) कोई सम्बन्ध-विशेष ही ग्रभिधा कहलाता है—

शक्यान्तरानन्तरित शब्दस्यार्थगतोऽर्थस्य वा शब्दगत सम्बन्धविशेष एवाभिधा । (सू 10 की वृत्ति)

शब्द का ग्रारोपित व्यापार लक्षणा कहलाता है—"लक्षणारोपिता क्रिया" ॥ सू 11 ॥

लक्षणा के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध ग्रर्थ का प्रतिपादन किया जाता है ।

वह लक्षणा शक्यतावच्छेदक (ग्रभिहित-शब्दार्थ के परिचायक) धर्म से भिन्न धर्म-विशेष का ज्ञान उत्पन्न करने वाली व्यक्ति की इच्छा है । ग्रथवा शक्यार्थ (ग्रभिधा-वृत्ति से बोध्य ग्रर्थ) से सम्बद्ध ग्रर्थ का प्रतिपादन करने वाली शब्दवृत्ति है ।[1]

लक्षणा के दो भेद हैं-शुद्धा और गौणी । सादृश्य सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध होने पर शुद्धा लक्षणा और सादृश्य मूलक होने पर गौणी लक्षणा होती है ।

शुद्धा लक्षणा दो प्रकार की है—उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा । शुद्धा और गौणी दोनो मे से प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं—सारोपा और साध्यवसाना । इस ग्राधार पर चार भेद हुए—शुद्धा सारोपा, शुद्धा साध्यवसाना, गौणी सारोपा और गौणी साध्यवसाना ।

सभी लक्षणा रूढि ग्रथवा प्रयोजन से होती है । रूढि लक्षणा व्यग्य-रहित होती है और प्रयोजनवती लक्षणा व्यग्य-सहित होती है । व्यग्य के गूढ

1 सा च शक्यतावच्छेदकधर्मभिन्नधर्मावच्छिन्नबोधजनिका पुरुषेच्छा, शक्यार्थसबद्धप्रतिपादिका शब्दवृत्तिर्वा । —का लो -सू 11 की वृत्ति

(सहृदयैकगम्य) और अगूढ (सर्वजनसवेद्य) होने पर प्रयोजनवती लक्षणा दो प्रकार की होती है—

लक्षणा का बीज "तात्पर्यानुपपत्ति "अथवा "अन्वयानुपपत्ति" है।

अभिधा अथवा लक्षणा के विराम पर उत्पन्न होने वाली व्यजनावृत्ति रसादि का उद्‌बोधन करने मे समर्थ होती है—

वृत्तिद्वयविरामोत्या रसाद्युद्‌बोधनक्षमा।
व्यजना ॥ सू 17 ॥

व्यजना दो प्रकार की होती है—(1) शाब्दी व्यजना और (2) आर्थी व्यजना। शाब्दी व्यजना के दो भेद होते हैं – (1) अभिधामूला व्यजना और (2) लक्षणामूला व्यजना।

सस्कृत काव्यशास्त्र के अनेक आचार्यों ने शब्द-शक्ति का निरूपण किया। मम्मट[1] और विश्वनाथ[2] ने वाच्यार्थ अथवा साक्षात् सकेतित अर्थ का बोध कराने वाले शब्द के व्यापार को अभिधा शक्ति कहा है। हरिप्रसाद की "अभिधाशक्तिरेतस्याभिधेय" पक्ति भी इसी आशय को अभिव्यक्त करने वाली है।

पण्डितराज जगन्नाथकृत लक्षण है—

शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगत, शब्दस्यार्थगतो वा सम्बन्धविशेषोऽभिधा।[3]

शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध को अभिधा कहा है। अर्थ का शब्दगत और शब्द का अर्थगत सम्बन्ध-विशेष अभिधा है, जिसे शक्ति कहा जाता है।

पण्डितराज के सदृश ही काव्यालोककार ने लिखा है–"शक्यान्तरित शब्दस्यार्थगतोऽर्थस्य वा शब्दगत सम्बन्धविशेष एवाभिधा"। रसगगाधरकार ने अभिधा का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। "काव्यालोक" का विवेचन प्राय उसी का सक्षिप्तीकरण है।

लक्षणा-निरूपण करते हुये मम्मट लिखते हैं—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया॥[4]

मुख्यार्थ का बाध होने पर, उस मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होने

---

1. स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥-का प्र-सू 8
2. तत्र सकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाऽभिधा ।-सा द-2, 4
3. रस —2, पृ —134
4. का प्र —2,9

पर, किसी रूढ़ि अथवा विशेष प्रयोजन के प्रतिपादन के लिये जिस शब्दशक्ति द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है, वह शब्द का आरोपित व्यापार लक्षणा है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी मम्मट के समान लक्षणा का विवेचन किया है।[1] काव्यालोककार हरिप्रसाद ने "लक्षणारोपिता क्रिया" लिखकर मम्मट और विश्वनाथ के कथन को ही प्रस्तुत किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने "रसगंगाधर" मे कहा है-'शक्यसम्बन्धो लक्षणा'[2]। शक्यार्थ (अभिधावृत्ति द्वारा बोध्य अर्थ) के साथ शक्येतर (लक्ष्यार्थ) का सम्बन्ध लक्षणा है।

हरिप्रसाद ने "शक्यार्थसबद्धप्रतिपादिका शब्दवृत्तिर्वा" लिखकर "रसगंगाधर" के लक्षण को ही प्रस्तुत किया है। इस प्रकार काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों—मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ—सभी के अनुसार परिभाषाएँ "काव्यालोक" म प्रस्तुत की गयी है।

"काव्यालोक" म लक्षणा-भेद का आधार "काव्यप्रकाश" ही प्रतीत होता है।

व्यंजना का लक्षण "साहित्यदर्पण" मे दिया गया है—

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते पर ।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।[3]

अभिधा आदि (अभिधा और लक्षणा) वृत्तियो के अपना-अपना अर्थ बताकर शान्त होने पर जिसके द्वारा अन्य अर्थ का बोधन होता है, वह शब्द मे तथा अर्थादि मे रहने वाली व्यजना वृत्ति होती है। आचार्य मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ स्पष्ट लक्षण नही देते पर भी व्यजना का यही स्वरूप स्वीकार करते हैं।

"काव्यालोक" मे प्रस्तुत परिभाषा "वृत्तिद्वयविरामोत्था रसाद्युद्बोधनक्षमा व्यजना" भी इसी अभिप्राय को स्पष्ट करती है। पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत व्यजना ही "काव्यालोक" मे वर्णित है। व्यजना-भेद तथा उसकी अपरिहार्यता के लिये प्रस्तुत युक्तियाँ भी प्राय "काव्यप्रकाश" पर ही आधारित हैं।

---

1 मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थ प्रतीयते ।
रूढे प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ।।—सा द 2,5

2 रस—2, पृ 162

3. सा द—2, 12

इस प्रकार शब्दशक्तियो के निरूपण मे पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रस्तुत विवेचन को ही "काव्यालोक" मे प्रस्तुत किया गया है ।

(6) काव्य के भेद

"काव्यालोक" मे 3 प्रकार के काव्य बताये गये है—उत्तम काव्य, मध्यम काव्य और अधम काव्य ।

उत्तम ध्वनिर्वैशिष्ट्ये ॥ सू 25 ॥

ध्वनि का वैशिष्ट्य होने पर उत्तम-काव्य होता है । यहां ध्वनि से अभिप्राय है—व्यग्य । जब वाच्य की उपेक्षा व्यग्य अधिक चमत्कार-युक्त होता है तो उत्तम-काव्य कहलाता है ।

मध्यमे तच्च मध्यमम् ॥ सू 26 ॥

ध्वनि के मध्यम होने पर मध्यम-काव्य होता है । व्यग्य-चमत्कार और वाच्य-चमत्कार के असमानाधिकरण होने पर, व्यग्यार्थ के वाच्य से अधिक चमत्कारी न होने पर, वह मध्यम-काव्य होता है ।

अधम नार्थवैचित्र्या किन्तु शब्दैकगोचरम् ॥ सू 27 ॥

शब्दो की विचित्रतामात्र दिखाना अधम-काव्य होता है । यह अर्थ की विचित्रता से नही, केवल शब्द की विचित्रतामात्र से होता है ।

सस्कृत आचार्यों मे ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना से पूर्व तथा उत्तरयुग मे काव्य-वर्गीकरण पर कुछ भिन्न दृष्टिकोण पाया जाता है । आनन्दवर्धन के पूर्व भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने काव्य के बाह्यरूप शैली, विषय, भाषा आदि का आश्रय लेकर काव्य-वर्गीकरण किया । काव्यालोककार हरिप्रसाद ने इस प्रकार का वर्गीकरण नही किया है ।

आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने काव्य के तीन भेद माने[1], जो 'काव्यालोक" मे भी स्वीकार किये गये हैं । इनमे से उत्तम और मध्यम काव्य का स्वरूप समान ही है, परन्तु अधम काव्य मे भिन्नता है । आनन्दवर्धन और मम्मट ने शब्द-वैचित्र्य और अर्थ-वैचित्र्य मे अधम-काव्य माना है । परन्तु हरिप्रसाद ने केवल

1 ध्वन्या –3, 42, का प्र –1, 4-5

शब्दों की विचित्रता होने पर ग्रधम-काव्य कहा है। मम्मट द्वारा प्रस्तुत ग्रधम काव्य के उदाहरणों को हरिप्रसाद ने मध्यम-काव्य के उदाहरण माने हैं।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ[2] ने काव्य के 4 भेद किये हैं, परन्तु हरिप्रसाद तीन ही भेद मानते हैं। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि कुछ लोग काव्य के उत्तमोत्तम या ग्रधमाधम भेद भी मानते है, परन्तु इन भेदों का ग्रन्तर्भाव उत्तम, मध्यम ग्रौर ग्रधम–इन तीनों काव्य-भेदों में ही हो जाता है।[3]

(7) ध्वनि

काव्यालोककार ने "काव्य-भेद" के ग्रन्तर्गत उत्तम काव्य वहाँ बताया है जहाँ ध्वनि की विशिष्टता होती है। व्यंग्य ही ध्वनि है ग्रौर वाच्य के व्यंग्य में ग्रधिक चमत्कार-युक्त न होने पर ग्रर्थात् वाच्य की ग्रपेक्षा व्यंग्य ग्रधिक चमत्कार-युक्त होने पर ही उत्तम-काव्य होता है[4]।

"ध्वनि–निरूपणम्" नामक द्वितीय प्रकाश में ध्वनि की परिभाषा है—

शब्दस्थानविलासोत्थ परमाह्लादकारणम्।
ग्रर्थरूपपरामर्शवेद्य कश्चिद् ध्वनिर्बुधा ॥ सू 29 ॥

शब्द स्थान के विलास से उत्पन्न, परमाह्लाद का कारण, ग्रर्थरूप परामर्श से वेद्य कोई ध्वनि है।

इस परिभाषा में ध्वनि के सम्बन्ध में तीन बातें कही गयीं—(1) ध्वनि शब्द-स्थान के विलास से उत्पन्न है, (2) ध्वनि परमाह्लाद का कारण है ग्रौर (3) वह ग्रर्थरूप परामर्श से वेद्य है।

यहाँ प्रथम विशेषण "शब्द-स्थान के विलास में उत्पन्न है", कहा गया है। इस विशेषण से स्पष्ट होता है कि किसी के द्वारा उच्चारित शब्द किस प्रकार

---

1 ग्रर्थचित्रशब्दचित्रयो"विनिर्गत मानदमात्ममदिरात्", "स्वच्छन्दोच्छलदच्छे"-त्यनयोरतारतम्योपलब्धे शब्दार्थयो समप्राधान्ये तु मध्यमतैव।
—का लो–सू 27 की वृत्ति

2 रग–I, पृ 37

3 तदेवमुत्तममध्यमाधमभेदात्काव्य त्रिविधम्। केचित् उत्तमोत्तम ग्रधमाधममपि भेदमिच्छन्ति। तदेतेष्वेवान्तर्गतमिति विविच्य नोक्तम्।
—का लो–सू 27 की वृत्ति

4 उत्तम ध्वनिवैशिष्ट्ये ॥ सू 25 ॥
व्यंग्यमेव ध्वनिस्तद्विशिष्टता चानतिशयिते वाच्ये। –का लो–सू 25 की वृत्ति

ध्वनिरूप मे प्रकट होते हैं इसे स्पष्ट करते हुए हरिप्रसाद ने कहा कि शब्दस्थान का अभिप्राय है-शब्द का आश्रय। आकाश, मुरज (मृदग), तन्तुवाद्य, करताल, मुख आदि शब्द के आश्रय हैं। विलास का अभिप्राय है-प्रतिध्वनि के सयोग से उत्पन्न होना। अर्थात् आकाश मे मुखादि के द्वारा उच्चारित का प्रतिध्वनि के साथ सयोग होने पर ध्वनि उत्पन्न होती है।

काव्य मे प्रयुक्त असाधारण ध्वनि है, जो अर्थरूप परामर्श से जानी जाती है। यह ध्वनि सौन्दर्ययुक्त शब्द से उपस्थापित चमत्कारातिशयरूप है जो अर्थरूप परामर्श के द्वारा जानी जाती है। लौकिक घट-पट आदि वस्तुओ के समान ध्वनि की प्रत्यक्ष उपलब्धि नही होती, अपितु उस प्रस्तुत वाच्यार्थ का तिरोधान हो जाने पर, जो व्यग्यार्थ की चारुसन्निवेश अतिशयता (सुन्दरता से स्थिति की अतिशयता) की अभिव्यक्ति होती है, वही ध्वनि है।

ध्वनि परमाह्लाद का कारण है, इस तृतीय विशेषण से स्वत स्पष्ट है कि विलक्षण चमत्कारातिशय को प्रकट करने के कारण ध्वनि से परमाह्लाद की प्राप्ति ही होगी।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन का कथन है कि सबसे प्रधान विद्वान् वैयाकरण सुनाई देने वाले वर्णों को ध्वनि कहते हैं। उन्ही के मत का अनुकरण करने वाले काव्यतत्त्वार्थदर्शी विद्वानो ने वाच्य, वाचक, व्यग्यार्थ, व्यजना-व्यापार और काव्य को ध्वनि कहा।[1] मम्मट ने भी इसी प्रकार ध्वनि-सिद्धात की प्रामाणिकता के लिये वैयाकरणो के मत को प्रस्तुत किया।[2] काव्यालोककार की ध्वनि-परिभाषा मे कथित "शब्दस्थानविलासोत्थ" पद आनन्दवर्धन और मम्मट के इसी मत को सकेतित करता हुआ-सा प्रतीत होता है। ध्वनि की उत्पत्ति किस प्रकार से होती है, इस विषय को हरिप्रसाद ने सरलता से प्रस्तुत किया है।

आनन्दवर्धन के अनुसार जहाँ वाच्य अर्थ अथवा वाचक शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वान् ध्वनि कहते हैं।[3]

काव्यालोककार की ध्वनि-परिभाषा मे कथित पद "अर्थरूपपरामर्शवेद्य" ध्वनिकार के मत को स्वीकार करता है। पहले सौन्दर्ययुक्त शब्द से अर्थ-ज्ञान

---

1 प्रथमे हि विद्वासो ध्वनिरित्युक्त। ध्वन्या-1, 13 की वृत्ति

2 का प्र-1, 4 की वृत्ति

3 यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्त काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभि कथित ॥-ध्वन्या-1, 13

होता है, पुन उस अर्थ के तिरोधान होने पर अन्य अर्थ प्रकट होता है, यही "अर्थरूपपरामर्शवेद्य" का भावार्थ प्रतीत होता है। यही बात ध्वनिकार ने बतायी है कि वहाँ एक अर्थ गौण होकर अन्य अर्थ अभिव्यक्त हो जाता है।

"काव्यालोक" मे "व्यंग्यमेव ध्वनि "[1]—"व्यंग्य ही ध्वनि है", यह कहा गया है। वास्तव मे व्यंग्यार्थ ही ध्वनि नहीं है, अपितु व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक चमत्कृत होने पर ध्वनि कहा जाता है। परन्तु यहाँ हरिप्रसाद ने व्यंग्य और ध्वनि को पर्याय माना है और उसी के आधार पर ध्वनि-काव्य के दो भेद किये हैं। ध्वनि की प्रधानता होने पर ध्वनि-काव्य या उत्तम काव्य। ध्वनि गौण होने पर गुणीभूतध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य, गुणध्वनि या मध्यम काव्य।

इस प्रकार ध्वनि-परिभाषा मे आनन्दवर्धन का समर्थन करते हुए भी "काव्यालोक" मे नवीनता से उसका प्रस्तुतीकरण किया गया है।

ध्वनि-भेद

"काव्यालोक" मे ध्वनि के 51 भेद बताये गये—लक्षणामूला ध्वनि के चार भेद—(1) वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य, (2) पदगत अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य (3) वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य, (4) पदगत अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य रसादि ध्वनि (1) पदैकदेश, (2) पद, (3) वाक्य, (4) प्रबन्ध, (5) वर्ण और (6) रचना भेद से छह प्रकार की होती है। ध्वनि के अन्य दो भेद हैं—(1) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और (2) अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य। संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि मे शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि दो प्रकार की है—(1) वस्तुध्वनि (2) अलंकारध्वनि। अर्थशक्त्युत्थध्वनि मे (1) स्वत सम्भवी के चार भेद, (2) कविप्रौढोक्तिसिद्ध के 4 भेद और (3) कविकल्पित वक्तोक्तिसिद्ध के 4 भेद। इन 12 भेदो के 12 पदगत, 12 वाक्यगत और 12 प्रबन्धगत भेद होने से कुल 36 भेद हो जाते हैं। उभयशक्त्युत्थध्वनि का एक ही भेद है। इस प्रकार ध्वनि के कुल—$4+6+2+2+36+1=51$ भेद हो जाते हैं।

काव्यालोककार के अनुसार 51 भेदो को परस्पर मिला देने पर अन्य भेद भी हो सकते हैं। 51 शुद्ध भेदो को परस्पर मिलाने पर $51 \times 51 = 2601$ भेद हो जाते हैं। इन 2601 भेदो को तीन प्रकार के संकर (1 सन्देह संकर, 2 अंगांगिभाव संकर, 3 एकाश्रयानुप्रवेश संकर) और संसृष्टि रूप मानने पर $2601 \times 4 = 10404$ भेद हो जाते हैं।

---

1 का लो—सू 25 की वृत्ति

"काव्यप्रकाश" मे ध्वनि के 51 भेद बताये गये हैं। "काव्यप्रकाश" और "काव्यालोक" मे यह सख्या समान ही है। परन्तु दो भेदो मे भिन्नता लक्षित होती है। "काव्यप्रकाश" मे शब्दशक्त्युत्थ के भेद वस्तुध्वनि और अलकारध्वनि के पुन पदगत और वाक्यगत भेद करके 4 भेद बताये गये हैं। परन्तु "काव्यालोक" मे शब्दशक्त्युत्थ के केवल 2 भेद वस्तुध्वनि और अलकारध्वनि ही बताये हैं। इनके स्थान पर काव्यालोककार ने अर्थान्तरसक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य 2 भेद बताये हैं, जिनकी गणना लक्षणामूलध्वनि के 4 भेदो मे पहले ही कर दी है। इन भेदो को समान मानकर यदि गणना की जाती है तो 49 भेद ही रह जाते हैं। परन्तु उन्होने यह सख्या 51 ही मानी है। "काव्यालोक" का यह ध्वनि-भेद निरूपण पूर्णत "काव्यप्रकाश" पर ही आधारित है, अत यही सम्भावना हो सकती है कि काव्यालोककार सम्भवत शब्दशक्त्युत्थ के ये दो भेद देना भूल गये हैं और सख्या पूर्ति के लिए अन्य दो भेद कर दिये हैं। "काव्यप्रकाश" और "काव्यालोक" दोनो मे ही ससृष्टि और सकर से युक्त होने पर ध्वनि के 10404 भेद बताये गये है। काव्यप्रकाशकार ने इन 10404 भेदो के साथ शुद्ध 51 भेद और मिलाकर 10404 + 51 = 10455 भेद बताये हैं, जिनका उल्लेख काव्यालोककार ने नही किया।

गुणीभूतध्वनि काव्य केभेद

"काव्यालोक" के द्वितीय प्रकाश मे ध्वनि के आधार पर काव्य के दो भेद किये गये—(1) ध्वनिकाव्य और (2) गुणीभूतध्वनि या गुणीभूतव्यग्य या मध्यमकाव्य।

गुणध्वनि या गुणीभूतव्यग्य काव्य के आठ भेद बताये गये हैं (1)–अगूढ (2) गूढ, (3) वाच्याग, (4) अपराग, (5) असुन्दर, (6) सदिग्धप्राधान्य, (7) तुल्य प्राधान्य और (8) काक्वाक्षिप्त।

काव्यालोककार का गुणीभूतध्वनि काव्य के भेदो का यह विवेचन मम्मट के "काव्यप्रकाश" पर आधारित है। गुणीभूत व्यग्य काव्य के भेद मम्मट के समान ही हैं उदाहरणार्थ कथित श्लोको मे से कुछ मम्मट के समान हैं और कुछ श्लोको मे भिन्नता है, परन्तु वहाँ भी अनेक स्थलो पर मम्मट के उद्धृत श्लोको की छाया लक्षित हो जाती है।

(8) रस

भरत से लेकर आज तक काव्यशास्त्र मे रस के विषय मे निरन्तर विवेचन किया जा रहा है, अत इस सम्बन्ध मे विभिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं। हरिप्रसाद ने

"काव्यालोक" के तृतीय प्रकाश मे पूर्वनिरूपित मतो मे से तीन प्रमुख मतो का विवेचन इस प्रकार किया है—

(1) अभिनवगुप्त का मत—

"काव्यालोक" मे सर्वप्रथम अभिनवगुप्त का मत विस्तार से निरूपित किय गया है। उनके अनुसार रस का लक्षण है—

समूहाऽऽलम्बनावृत्तिस्फूर्तिश्चित्समवायिनी ।। सू 49 ।।

चित्समवायिनी समूहालम्बनावृत्ति की स्फूर्ति (प्रकाश) रस है। अर्थात् विभाव, अनुभाव एव व्यभिचारिभाव समूह हैं और रत्यादि स्थायिभाव अन्तःकरण की वृत्ति है। स्थायीभाव रूप अन्तःकरण की वृत्ति का विभावादि समूहविषयक और आत्मा (चैतन्य) से समवायरूप से सम्बद्ध प्रकाश ही रस है।

इसके अनुसार रस की दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती है—

(1) चिद्विशिष्ट रत्यादि स्थायी भाव ही रस है।
(2) रत्यादि स्थायी भाव विशिष्ट चित् ही रस है।

इन दोनो ही रूपो मे प्रकाशक तत्त्व एव मात्र चैतन्य ही है। चैतन्य का प्रकाश तभी हो सकता है जब उसका अज्ञानरूपी आवरण भग हो जाता है।

स्थायी भाव प्रमाता के भीतर सस्काररूप मे विद्यमान रहता है। लोक मे जो कारण, कार्य और सहकारी कारण होते हैं, वही काव्य मे कवि के द्वारा और नाट्य मे नट के द्वारा काव्यार्थ के पुन पुन अनुसधानरूप भावना से उपस्थापित किये जाने पर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव शब्दो से कहे जाते हैं। उन विभावादि के द्वारा प्रमाता का अज्ञानरूपी आवरण दूर होने पर आत्मा या वह चिद्रूप अनावृत हो जाता है और तब (1) चिद्विशिष्ट रूप से अनुभूयमान रत्यादि स्थायिभाव ही रस होता है अथवा (2) विभावादि की चर्वणा के समय स्थायिभाव के द्वारा उपस्थापित स्वरूपानन्दाकार वृत्ति वाले अन्तःकरण मे रस का उदय होता है, अत स्थायियुक्त भग्नावरण (जिसका अज्ञानरूपी आवरण नष्ट हो चुका है ऐसा) चित् ही रस है।

उपर्युक्त दोनो ही पक्षों म रस को चित् और रत्यादि स्थायिभाव, इन दो अशो मे युक्त स्वीकार करना पड़ेगा। अत रस के दो अश है—चैतन्य और रत्यादि। चिदश के कारण रस नित्य है और रत्यश के कारण अनित्य।

रसास्वाद की अवस्था म प्राप्त होने वाली आनन्द की अनुभूति तथा ब्रह्मास्वाद मे होने वाली आनन्द की अनुभूति मे भिन्नता होती है।

रसास्वाद मे आनन्द की अनुभूति होती है, इस विषय मे शका नही होनी चाहिए। इस सम्बन्ध मे शब्द और प्रत्यक्ष ये दो प्रमाण हैं—(1) जिस प्रकार समाधि-अवस्था की आनन्दानुभूति मे "सुखमात्यन्तिकम्" इत्यादि शब्द-प्रमाण है, उसी प्रकार इस विषय मे "रसो वै स" इत्यादि श्रुति-वाक्य प्रमाण हैं। (2) सहृदय व्यक्तियो को रस की साक्षात् अनुभूति होती है, अत यह प्रत्यक्ष का विषय है।

अभिनवगुप्त के अनुसार भरत के रससूत्र "विभावानुभाव-व्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति" की व्याख्या है—

विभावादि के सयोग से अर्थात् व्यग्यव्यजकभावसम्बन्ध से चिदानन्दविशिष्ट रत्यादि स्थायिभावात्मक रस की निष्पत्ति होती है। "निष्पत्ति" का अभिप्राय है—अपने रूप का प्रकाशन।[1]

(2) भट्टनायक का मत—

जब सहृदय काव्यात्मक शब्दो को सुनता है, तो सवप्रथम अभिधा के द्वारा पदार्थों की उपस्थिति होती है, जिससे काव्यार्थ समझा जाता है। तत्पश्चात् भावकत्व व्यापार से उन पदार्थों की रसानुकूल विशिष्ट धर्म के साथ उपस्थिति होती है और इस प्रकार विभावादि का साधारणीकरण हो जाने पर शब्द के तृतीय व्यापार भोजकत्व या भोगीकृति से साधारणीकृत स्थायीभाव का रस रूप मे भोग किया जाता है। अर्थात् विभावादि के द्वारा रत्यादि स्थायिभाव का भोग ही रस है।[2]

यहाँ "भोग" से अभिप्राय है कि रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण की प्राधान्येन स्थिति होने पर, प्रकाशमान आनन्दस्वरूप (चैतन्यात्मक) ज्ञान होना, जो लौकिक सुख से विलक्षण होता है।

भट्टनायक के अनुसार भरत के रस-सूत्र की व्याख्या होगी—

भावकत्व व्यापार से विभावादि का (सयोग) साधारणीकरण होने पर

---

1 विभावादीना सयोगाद्व्यञ्जनाच्चिदानदविशिष्टस्थाय्यात्मन, स्थाय्यवच्छिन्नचिदानन्दात्मनो वा रसस्य निष्पत्ति स्वरूपेण प्रकाशनम्।

-का लो -सू 49 की वृत्ति

2 भट्टनायकस्तु अभिधया निवेदिताना पदार्थाना भावकत्वव्यापारेण रसानुकूलधर्मपुरस्कारेणोपस्थिति। इत्थ च साधारणीकृतेषु विभावादिषु तृतीयव्यापारमहिम्ना तयाकृत एव स्थायी भुज्यते।

-का लो सू-49 की वृत्ति

भोजकत्व व्यापार से (रस की निष्पत्ति) अर्थात् स्यायी भावों का रसरूप में भोग किया जाता है।[1]

नव्यमत—

नव्यमत का निरूपण करते हुए हरिप्रसाद ने लिखा है—

नव्यास्तु साक्षिभास्यालम्बनादिविषयक स्थायी रस

(सू 49 की वृत्ति)

साक्षिभास्य अर्थात् आत्मा मे भासित होने वाले आलम्बनादिविषयक रत्यादि स्थायिभाव ही रस है।

काव्य अथवा नाट्य मे सहृदय को विभावादि का बोध होने पर व्यजनावृत्ति से यह ज्ञान होता है कि दुष्यन्त शकुन्तलाविषयक रतिवाला था। तत्पश्चात् पुन-पुन अनुसन्धानरूप सहृदयत्वरूपी भावनाविशेषरूप दोष की महिमा मे सहृदय अपने आपको दुष्यन्त मानने लगता है, अर्थात् कल्पित दुष्यन्तत्व मे आच्छादित हो जाता है और मैं शकुन्तलाविषयक रति वाला हूँ, यह भ्रम करने लगता है।

इस प्रक्रिया मे, अपने आपको दुष्यन्त मान लेना और अपने मे शकुन्तला-विषयक रति को स्वीकार करना, ये दोनो ही अनिर्वचनीय हैं, क्योकि यह सद्-असत् विलक्षण है। सत् यह है नही और असत् होता तो प्रतीत ही नहीं होता, परन्तु कल्पित होने पर भी इसका ज्ञान होता है, अत इसे अनिर्वचनीय कहा गया है।

जबतक भावनारूप दोष विद्यमान रहता है, तभी तक शकुन्तलादि रति की रसरूप मे प्रतीति होती है अत यह रस भावनारूप दोष का कार्य है और इस भावनारूप दोष के नष्ट हो जाने पर रस भी नष्ट हो जाता है।

शकुन्तलाविषयक रतिवाला मैं दुष्यन्त हूँ, इस रस-प्रतीति के पश्चात् ही अलौकिक आह्लाद उत्पन्न होता है। रस और अलौकिक आह्लाद मे भेद होने पर भी इनका भेद ज्ञान नही होता, अत रस को सुखरूप कहा जाता है। रस को व्यग्य और वर्णनीय भी कहा गया है।

"काव्यालोक" मे नव्यमत की समालोचना भी की गई है। नव्यमत मे रस को अनिर्वचनीय कहा गया है। यहाँ इसी "अनिर्वचनीय" शब्द पर आक्षेप किया गया है।

---

1 भावनाविशेषरूपाद्दोषाद् रसस्यानिर्वचनीयदुष्यन्तरत्याद्यात्मना निष्पत्तिर्वेति।
-का लो-सू 49 की वृत्ति

अनिर्वचनीयता की समालोचना के साथ अन्य कतिपय शकाएँ प्रस्तुत कर उनका समाधान किया गया है।

नव्यमत के अनुसार भरतमुनि के रससूत्र का अभिप्राय है—

भावनाविशेषरूपाद्दोषाद् रसस्यानिर्वचनीयदुष्यन्तरत्याद्यात्मनो निष्पत्ति ।

(सू 49 की वृत्ति)

विभावादि के सयोग से अर्थात् काव्यार्थ के पुन पुन अनुसधानरूप भावना-विशेषरूप दोष से अनिर्वचनीय दुष्यन्तविषयक रत्यादि स्थायिभावात्मक रस की निष्पत्ति होती है।

हरिप्रसाद ने "काव्यालोक" मे अभिनवगुप्त भट्टनायक तथा नव्यमत, इन तीन मतो की विवेचना की है। इन तीनो मे से काव्यालोककार को कौन सा मत अभिप्रेत है, यद्यपि इसका उन्होने स्पष्ट निर्देश नही दिया, तथापि अन्य स्थलो पर आये उल्लेखो से यही प्रतीत होता है कि उन्हे अभिनवगुप्त का मत ही स्वीकार्य है।

रस-भेद का कारण

यद्यपि चिदानन्दात्मा सभी रसो मे व्याप्त है, परन्तु फिर भी रस-भेद बताये जाते हैं। इसका कारण शम आदि स्थायिभाव युक्त चित्तवृत्तियाँ ही हैं। इन नौ प्रकार की वृत्तियो के कारण ही रस-भेद होते हैं।

सभी रसो से आह्लाद-प्राप्ति—

काव्य मे सभी रसो से आह्लाद की प्राप्ति होती है, ऐसा कहा जाता है, किन्तु कुछ करुण, रौद्र, बीभत्स, भयानक आदि ऐसे रस है जो आह्लाद की वृत्ति के प्रतिकूल हैं। तब प्रश्न यह उठता है कि इनसे आह्लाद-प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए काव्यालोककार ने लिखा है कि लोकोत्तर आह्लादकार्थ विशिष्ट व्यजना-व्यापारयुक्त काव्य-व्यापार की महिमा से उक्त करुण आदि रसो मे भी सुख की ही प्रवृत्ति होती है, अत सभी रसो से आह्लाद-प्राप्ति कही जाती है।

स्थायी भाव—

रति, हास, शोक, भय, क्रोध, उत्साह, घृणा, विस्मय और शम—ये स्थायी भाव हैं।

स्थायीभावो के परिपुष्ट होने पर ही विभिन्न रसो की अभिव्यक्ति होती है। चित्त मे सस्काररूप मे स्थित ये स्थायीभाव विभावादि के साथ सम्बद्ध होने

पर रसरूप मे प्राप्त होते है। रस से स्थायीभाव उसी प्रकार भिन्न हैं, जैसे घटावच्छिन्न आकाश से घट भिन्न होता है।

भाव, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव—

चैतन्य से समवायरूप से सम्बन्धित होने पर अन्त करणवृत्ति की प्रथम विक्रिया का नाम भाव है।

भाव का विशेष भावन (बोधन) कराने के कारण विभाव कहे जाते हैं, जो आलम्बन और उद्दीपन रूप होते है। नायिका आदि का आलम्बन लेकर ही रस और भाव की उत्पत्ति होती है, अत वह आलम्बन विभाव हैं। चन्द्रोदय आदि उस भाव को उद्दीप्त करते हैं, अत उद्दीपन विभाव हैं।

काव्य और नाट्य मे आलम्बन और उद्दीपन कारण से उत्पन्न हुए स्थायी भाव को बाह्यरूप मे प्रकाशित करने वाले अश्रुपात आदि अनुभाव होते हैं।

निर्वेद, ग्लानि आदि 33 व्यभिचारी भाव हैं, जो स्थायी भावो के साथ-साथ आविर्भाव और तिरोभाव रूप मे स्थित होते है।

ये विभावादि ही मिलकर रस की अभिव्यक्ति के कारण होते हैं। जब तक रसाभिव्यक्ति नही होती तभी तक विभावादि का भान रहता है, रसविशेष से युक्त होने पर विभावादि का भान नही होता। एक विशिष्ट रस के साथ एक विभाव, अनुभाव या व्यभिचारी भाव की कार्यकारणता नही हो सकती।

रस-भेद—

शृगार, हास्य, करुण, भयानक, रौद्र, वीर, बीभत्स, अद्भुत, तथा शान्त इन नौ रसो का लक्षण तथा उदाहरण-सहित सक्षिप्त विवेचन "काव्यालोक" मे किया गया है।

सस्कृत-काव्यशास्त्र मे भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक रस के सम्बन्ध मे विवेचन होता रहा है। "नाट्यशास्त्र" मे कथित भरत का प्रसिद्ध रससूत्र है—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति ।[1]

भरतमुनि के इस रससूत्र को सभी आचार्यों ने स्वीकार किया। परन्तु इसकी अलग-अलग व्याख्या करने के कारण भिन्न-भिन्न मतो का प्रतिपादन हुआ। "नाट्यशास्त्र" की टीका 'अभिनवभारती" के अन्तर्गत अभिनवगुप्त ने पूर्ववर्ती भट्टलोल्लट, श्रीशकुक, भट्टनायक तथा सांख्यसिद्धान्तानुसारी मतो का खण्डन करते

1 ना शा—६, पृ 272

हुए स्वमत प्रस्तुत किया ।[1] ध्वनिवादी आचार्यों ने रस को व्यग्य और काव्य को व्यजक मानते हुए काव्य से व्यजनावृत्ति के द्वारा ही रसादि की प्रतीति स्वीकार की। परन्तु दशरूपककार धनजय ने काव्य-शब्दो द्वारा अभिधा से ही रस की प्रतीति का निरूपण किया ।[2] महिमभट्ट ने न्यायमतानुसार विवेचन करते हुए अनुमान के द्वारा रसादि की प्रतीति मानी ।[3] मम्मट ने "काव्यप्रकाश" के चतुर्थ उल्लास मे भरतप्रणीत "नाट्यशास्त्र" के व्याख्याकार भट्टलोल्लट, श्रीशकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त के रस-सम्बन्धी विचारो को सक्षिप्त एव स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत किया । विश्वनाथ ने अभिनवगुप्त के मम्मट-प्रतिपादित रस-स्वरूप को ही विस्तार से सरल रूप मे प्रस्तुत किया है ।[4] पडितराज जगन्नाथ ने "रसगगाधर" मे रस-सम्बन्धी ग्यारह मतो का उल्लेख किया ।

"काव्यालोक" मे निरूपित रस-विवेचन पर "रसगगाधर" का प्रभाव परिलक्षित होता है । "रसगगाधर" मे उल्लिखित ग्यारह मतो मे से "काव्यालोक" मे केवल प्रथम तीन अभिनवगुप्त, भट्टनायक तथा नव्यमत का निरूपण किया गया है । रसगगाधरकार ने अभिनवगुप्त के मत का निरूपण करते हुए मम्मट द्वारा कथित पक्ति—*"व्यक्त स तैर्विभावाद्यै स्थायी भावो रस स्मृत" की नवीन* व्याख्या प्रस्तुत की है । उनके अनुसार अज्ञानरूपी आवरण से मुक्त शुद्ध चैतन्य का विषय बना हुआ रति आदि स्थायी भाव रस है । "रसो वै श्रुति" के अनुरोध से चैतन्य के विषयीभूत रत्यादि को रस नही कहना चाहिये, अपितु रति आदि स्थायीभाव जिसके विषय हो, ऐसे आवरणमुक्त शुद्ध चैतन्य को ही रस कहना चाहिये ।[5] "काव्यालोक" मे भी अभिनवगुप्त के मत का निरूपण इसी के समान *किया गया है । शेष दो भट्टनायक तथा नव्यमत के विवेचन मे भी "रसगगाधर"* के सदृश शैली का प्रयोग करते हुए बहुत कुछ उन्हीं वाक्यो अथवा वाक्याशो का प्रयोग किया गया है । नव्य-मत के अन्तर्गत "काव्यालोक" मे "रस की अनिर्वचनीयता" के सम्बन्ध मे समालोचना भी की गई है, जो "रसगगाधर" मे वर्णित

1 अ भा –पृ 442-83
2 द रू–पृ 4, 37
3 व्यक्ति –पृ 79
4 सा द–3, 1-16
5 इत्य चाभिनवगुप्तमम्मटादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणाचिद्विशिष्टा रत्यादि स्थायी भावो रस इति स्थितम् । वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रस । —रस –1, पृ 96-7

नही है । परन्तु सामान्यत "काव्यालोक" के रस-विवेचन मे पूर्ववर्ती मतो का ही प्रतिपादन किया गया है ।

(9) नायक-नायिका-भेद

"काव्यालोक" मे रस के आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद का निरूपण किया गया है ।

नायक-भेद

सर्वप्रथम नायक के चार भेद बताये हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरप्रशान्त और धीरललित ।[1]

क्षमाप्रधान धीरोदात्त नायक होता है, जैसे-युधिष्ठिर । गर्व और अहकार प्रधान धीरोद्धत होता है, जैसे-भीमसेन । मृदु और कलावान् धीरललित होता है, जैसे-वत्सराज उदयन । अन्य सामान्य गुणो से युक्त ब्राह्मण आदि धीरप्रशान्त होता है, जैसे-माधव ।

दक्ष, धृष्ट, अनुकूल और शठ, इन चार भेदो मे विभक्त होकर धीरोदात्त आदि चार नायको के 16 भेद हो जाते हैं ।

नायक-नायिका-भेद प्रमुखत नाट्यशास्त्र का विषय है, तथापि कतिपय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे भी इसका वर्णन किया गया है । सर्वप्रथम भरत-प्रणीत "नाट्यशास्त्र" मे इस विषय पर विवेचन किया गया है । भरत ने प्रकृति के आधार पर नायक के तीन भेद किये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम । शील के आधार पर चार भेद हैं—धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशान्त । नारी के प्रति रति-सम्बन्धी तथा अन्य व्यवहार के आधार पर पाँच भेद हैं—चतुर, उत्तम, मध्यम, अधम और सम्प्रवृद्ध ।[2] रुद्रट ने नायिका के प्रति नायक के प्रेम-व्यवहार के आधार पर नायक के चार भेद बताये हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ, और धृष्ट ।[3] धनजय ने "दशरूपक" मे धीरोदात्तादि चार भेद करके प्रेम की अवस्था के आधार पर अन्य चार नायक बताये हैं—दक्षिण शठ, धृष्ट और

---

1 उदात्तोद्धतगामानौ प्रशान्तललितौ पुन ।
आलम्बन रसम्यैते धीराद्याम्तत्र नायका ॥ —का लो –सू 61

2 ना शा –23, 52-57, 24, 1-3

3 रु काव्या –12, 9

अनुकूल। इस प्रकार 16 प्रकार के नायक होते हैं।[1] विश्वनाथ ने इन 16 *प्रकार के नायकों के उत्तम, मध्यम और अधम, ये तीन भेद और बताकर नायक* के 48 भेद किये हैं।[2]

स्पष्ट है कि "काव्यालोक" मे हरिप्रसाद ने नायक-भेद विवेचन मे पूर्वोक्त विवरण को ही सक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत किया है। विशेषत "साहित्यदर्पण" और "दशरूपक" के अनुसार ही निरूपण किया गया है।

नायिका-भेद

"काव्यालोक" के अनुसार सर्वप्रथम तीन प्रकार की नायिका हैं—स्वकीया परकीया और साधारण स्त्री। इनमे से स्वकीया नायिका के कुल 13 भेद हैं। प्रथम स्वकीया नायिका के तीन प्रकार हैं–मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। मध्या और प्रगल्भा नायिका के पुन धीरा, अधीरा और धीराधीरा भेद से छह भेद हो जाते हैं। इन छह भेदो के पुन दो-दो भेद होते हैं—ज्येष्ठा और कनिष्ठा। इस प्रकार मुग्धा का 1 भेद, मध्या के 6 भेद और प्रगल्भा के 6 भेद, कुल 13 भेद स्वकीया के हो जाते हैं। परकीया नायिका के 2 भेद हैं—परोढा और कन्या। साधारण स्त्री का 1 भेद मिलाकर कुल षोडश प्रकार की नायिकाएँ होती हैं।

अवस्था-भेद से नायिका के आठ भेद हैं-(1) स्वाधीनभर्तृका, (2) खण्डिता, (3) अभिसारिका, (4) कलहान्तरिता, (5) विप्रलब्धा, (6) प्रोषितभर्तृका, (7) वासकसज्जा और (8) विरहोत्कण्ठिता।

पूर्वोक्त सोलह नायिका अवस्था–भेद से आठ प्रकार की होने पर कुल $16 \times 8 = 128$ नायिका-भेद होते हैं।[3]

भरत ने "नाटयशास्त्र"[4] मे भिन्न-भिन्न आधार पर नायिका-भेद कियेहैं—

(1) प्रकृति के आधार पर—उत्तमा, अधमा और मध्यमा।

(2) नायिका के 12 भेद—सर्वप्रथम चार भेद-दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री और गणिका। दिव्या और नृपपत्नी के 4-4 भेद-धीरा, ललिता उदात्ता और निभृता। कुलस्त्री के दो भेद—उदात्ता और निभृता गणिका के दो भेद-उदात्ता और ललिता।

---

1 द रू.–2, 3, 6

2 सा द –3, 31, 35, 38

3 का लो - सू —64-71

4 ना शा -24, तथा 7-9, 22 144-5 तथा 203-4

(3) आचरण के आधार पर 3 भेद—बाह्या, आभ्यन्तरा और बाह्याभ्यन्तरा। कुलीना नायिका आभ्यतरा होती है, बाह्या वेश्या होती है और इन दोनो की मिश्र प्रकृति से निर्मित बाह्याभ्यतरा यद्यपि वेश्यागना होती है, पर आचरण नितान्त पवित्र होता है।

(4) कामावस्था पर आधारित आठ भेद—वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, स्वाधीनभर्तृका, कलहान्तरिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका और अभिसारिका।

रुद्रट ने "काव्यालकार"[1] मे नायिका-भेद निरूपण किया है, जो प्राय दशरूपककार के सदृश है। 'दशरूपक'[2] मे धनजय ने पूर्व आचार्यों द्वारा निरूपित नायिका-भेद को व्यवस्थित रूप मे प्रस्तुत किया है। उन्होंने नायिका के कुल 16 भेद माने है। सर्वप्रथम तीन प्रकार की नायिका हैं—स्वकीया, अन्या और साधारण स्त्री। प्रथम स्वकीया के तीन भेद मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा है। मुग्धा और प्रगल्भा के धीरा, धीराधीरा और अधीरा-इन तीनो भेदो के ज्येष्ठा और कनिष्ठा रूप होने पर प्रत्येक के 6-6 भेद हो जाते हैं। इस प्रकार स्वकीया के 13 भेद हैं। अन्या के दो भेद कन्या और ऊढा है। साधारण स्त्री का एक भेद मिलाकर कुल नायिका के षोडश-भेद हो जाते हैं। अवस्था भेद से आठ प्रकार है—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया और अभिसारिका।

"साहित्यदर्पण"[3] मे विश्वनाथ ने दशरूपक के सदृश नायिका के 16 भेद बताकर, अवस्था भेद से आठ प्रकार मानकर $16 \times 8 = 128$ भेद दिये हैं। इनके उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन भेद होने पर $128 \times 3 = 384$ भेद बताये हैं।

सस्कृत नाट्यशास्त्र मे प्राय दशरूपककार के नायिका-भेद स्वीकार किये गये हैं। "काव्यालोक" का विवेचन भी "दशरूपक" पर ही आधारित प्रतीत होता है, इसमे कोई नवीन बात न होकर पूर्ववर्ती विवेचन की ही पुनरुक्ति मात्र है।

(10) दोष

"काव्यालोक" के चतुर्थ प्रकाश मे दोष-निरूपण किया गया है—

---

1 रु काव्या-12, 16-7 तथा 28-30

2 द रु-2,15-27

3 सा द-3,56-87

अपकर्ष प्रधानस्य वाह्लादक्षतिरित्यसौ ।। सू 82 ।।

प्रधान (रस) का अपकर्ष अथवा आह्लाद का क्षय जिससे होता है, वह दोष है।

दोष के विषय में हरिप्रसाद ने दो बातें बतायी—(1) दोष रस के अवरोधक हैं और (2) दोष से 'आह्लादक्षति" होती है।

भारतीय काव्यशास्त्र मे अनेक आचार्यों ने दोष-निरूपण किया। ध्वनि-पूर्ववर्ती तथा ध्वनि-परवर्ती आचार्यों की दोष-विषयक धारणाओं मे अन्तर परिलक्षित होता है। ध्वनि-पूर्ववर्ती भरत, भामह, दण्डी और वामन ने दोष के बाह्य वस्तुगत अर्थात् शब्दार्थगत रूप पर बल दिया।

भामह ने दोष का सामान्य लक्षण नही दिया, केवल यह बताया कि कवि को काव्य मे एक भी दोषयुक्त शब्द का प्रयोग नही करना चाहिये। दोषयुक्त काव्य कुपुत्र के सदृश निन्दनीय होता है। कवि नहीं होने पर मनुष्य धर्म, व्याधि अथवा दण्ड का पात्र होता है, परन्तु विद्वानो ने कुकवित्व को साक्षात् मृत्यु के समान कहा है।[1]

दण्डी का कहना है कि विद्वानो को काव्य मे छोटे से छोटे दोष की भी उपेक्षा नही करनी चाहिये। सुन्दर शरीर भी श्वेतकुष्ठ के दाग से घृणा उत्पन्न करता है।[2]

सर्वप्रथम वामन ने काव्यशास्त्र के एक महत्वपूर्ण विषय के रूप मे दोषो का वर्णन किया। उनके अनुसार गुण से विपर्यय (विपरीत) स्वरूप वाले दोष होते हैं।[3]

ध्वनि की स्थापना हो जाने पर काव्य का सौन्दर्य वाह्य वस्तुगत न रहकर आत्मगत हो गया, अतएव दोष-स्वरूप मे भी परिवर्तन आ गया। अब दोष मुख्यत आत्मगत (रस से सम्बद्ध) और उसके आश्रय से गौणरूप से शब्द और अर्थगत माने गए। आनन्दवर्द्धन ने सर्वप्रथम रस के अपकर्ष और अनपकर्ष के आधार पर नित्य और अनित्य दोषो की व्यवस्था की तथा रस-दोषो की गणना की।[4]

---

1 सर्वथा पदमप्येक .. मनीषिण।—भा काव्या —1, 11, 12

2. तदल्पमपि नोपेक्ष्य काव्ये दुष्टं कथचन।
स्याद्वपु सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ।। —काव्या —1,7

3 गुणविपर्ययात्मानो दोषा।—काव्या सू —2,1, 1

4 ध्वन्या 2, 11, 3, 19

आनन्दवर्द्धन की धारणाओं को मम्मट ने स्पष्टरूप में प्रस्तुत किया—

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्य ।
उभयोपयोगिन स्यु शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि स ।।[1]

मुख्यार्थ का अपकर्ष जिससे होता है उसे दोष कहते हैं। यहाँ मुख्यार्थ का अभिप्राय रस है, अत रस के अपकर्षजनक कारण को दोष कहते हैं। रस का आश्रय वाच्यार्थ है, अत वाच्य का अपकर्षकारक भी दोष माना जाता है। रस और वाच्यार्थ की प्रतीति शब्द, वर्ण और रचना की सहायता से होती है, अत इनमें भी दोष हो सकते है।

मम्मट के समान ही विश्वनाथ का कथन है कि रस के अपकर्षक दोष कहलाते है।[2]

अलकारवादी जयदेव ने शब्द और अर्थ में दोषों की स्थिति स्वीकार की-जिसके द्वारा मन में उद्वेग उत्पन्न होता है और काव्य की रमणीयता नष्ट होती है, वह दोष होता है। यह दोष शब्द और अर्थ में रहता है।[3]

काव्यालोककार हरिप्रसाद के दोष-लक्षण में "रस का अवरोध" तथा "आह्लादक्षति" बताया गया है। हरिप्रसाद ने ध्वनि-पूर्ववर्ती आचार्य भरत, भामह, दण्डी तथा वामन की दोष-विषयक धारणाओं को नहीं अपनाया। ध्वनि-परवर्ती आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ के समान उन्होंने भी प्रधान (रस) का अपकर्ष जिससे होता है, उसे दोष कहा। इस प्रकार ध्वनिवादी आचार्यों से हरिप्रसाद का दोष-लक्षण समानता रखता है।

काव्यालोककार ने अपनी "दोष" की परिभाषा में एक नवीनता का भी समावेश किया। उन्होंने "आह्लादक्षति"—जिसमे आह्लाद का क्षय होता है उसे भी दोष बताया। काव्य का प्रमुख प्रयोजन आह्लाद-प्राप्ति है, परन्तु जब उसमे जिससे बाधा उत्पन्न हो जाती है, वह भी दोष होता है। अतएव हरिप्रसाद ने रस के अपकर्ष तथा आह्लादक्षति दोनों को दोष कहा। काव्यशास्त्रीय परम्परा में किसी भी आचार्य ने "आह्लादक्षति" को दोष नहीं कहा। इस प्रकार हरिप्रसाद ने ध्वनि-परवर्ती विद्वानों के दोष-लक्षण को स्वीकारते हुए उसमें नवीनता का भी समाहार किया।

---

1 का प्र,—7, 49

2 रसापकर्षका दोषा ।—सा द—7,1

3 स्याच्चेतो विशता येन सक्षता रमणीयता ।
शब्देऽर्थे च कृतोन्मेष दोषमुद्घोषयन्ति तम् ।।—चन्द्रा—1,2

(10) दोष-भेद

"काव्यालोक" मे छह प्रकार के दोष बताये गये हैं—पद-दोष, वाक्य-दोष, पदांश-दोष, समासगत-दोष, अर्थ-दोष और रस-दोष ।

पद-दोष के 16 भेदो को उदाहरण सहित स्पष्ट किया गया है । पदांशदोष तथा समासगत दोष का उल्लेख करते हुए वाक्यगत दोष का वर्णन किया है। पद-दोषो मे से च्युतसस्कार, असमर्थ तथा निरर्थक, इन तीन पद-दोषो को छोड़कर शेष दोष वाक्यगत भी होते है । इनके अतिरिक्त अन्य 20 वाक्यगत-दोष, 23 प्रकार के अर्थदोष तथा 13 प्रकार के रसदोष और दोषो की अनित्यता (दोषा-कुश) का निरूपण भी किया गया है ।

काव्यशास्त्र के अनेक आचार्यों ने दोष-वर्गीकरण प्रस्तुत किया है । परन्तु व्यवस्थित रूप मे वर्गीकरण मम्मट के "काव्यप्रकाश" मे किया गया है । "काव्या-लोक" मे हरिप्रसाद ने मम्मट को आधार मानकर ही अपना विवचन किया है । दोष-भेद तथा दोषो की अनित्यता का निरूपण "काव्यप्रकाश" से प्रभावित परिलक्षित होता है ।

(11) गुण

गुण के विषय मे "काव्यालोक" मे कहा गया है—

> विशेषाधायकस्तेन गुण शौर्यादिवत्सत ।
> अ.ह्लादस्याविशिष्टस्य धर्म सर्वत्र धर्मिण ।।सू 98।।

शौर्य आदि के समान विशेषाधायक (विशेषता पैदा करने वाले) धर्म गुण हैं, जो सर्वत्र अलौकिक आह्लादरूप धर्मी (काव्य) के धर्म हैं ।

गुण-निरूपण का प्रारम्भ करते हुए भी "काव्यालोक" मे विशिष्ट शब्द के धर्म को गुण बताया गया ।[1] अलौकिक आह्लाद से युक्त विशिष्ट शब्द है, जिसे काव्य कहा जाता है । अत काव्य का धर्म गुण है जो शब्द, अर्थ, रस और रचना मे रहता है—

> शब्दार्थरसरचनागतत्वेन काव्यधर्मत्व गुणत्वम् । (सू 97 की वृत्ति)

अर्थात् शब्द, अर्थ, रस और रचना मे रहने वाले काव्य के धर्म गुण हैं ।

---

1 विशिष्टशब्दधर्माणा गुणानामथ निर्णय -का लो सू -97

इस प्रकार गुण के विषय मे हरिप्रसाद ने दो बातें बतायी— (1) गुण शौर्य आदि के समान विशेषाधायक धर्म है और (2) गुण शब्द, अर्थ, रस और रचना मे रहने वाले अलौकिक आह्लादरूप धर्मी (काव्य) के धर्म हैं।

गुण के विषय मे उन्होंने मूलग्रन्थ "काव्यप्रकाश," नवीन आलोचक "रसगगाधर" आदि तथा अपने गुरु के मतो का उल्लेख किया है।

"काव्यप्रकाश" का मत है कि गुण काव्य के धर्म नहीं हैं, अपितु रस के धर्म हैं। जिस प्रकार शौर्य आदि धर्म आत्मा के ही धर्म होते हैं, आकार (शरीर) के नही। परन्तु शरीर मे शौर्य आदि गुणो की स्थिति उपचार से मानी जाती है, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रस के ही धर्म होते है तथा योग्य वर्णों से अभिव्यक्त होते हैं, केवल वर्णों के आश्रित रहन वाले नही हैं।

नवीन आलोचक रसगगाधरकार के मतानुसार गुण रस के धर्म नही हैं। जिस प्रकार आत्मा निर्गुण होने से उसमे गुण नही रहता, उसी प्रकार रस मे भी माधुर्य आदि गुण नही रह सकते। विभिन्न रसो मे द्रुति आदि जो विभिन्न चित्तवृत्तियाँ हैं, वही चित्तवृत्तियाँ गुण है। अर्थात् द्रुति आदि चित्तवृत्तियाँ जब रस आदि के साथ प्रयोजकता सम्बन्ध रखती है, तब उन्हे माधुर्य आदि गुण कहते हैं। रस मे रहने वाली द्रुत्यादि प्रयोजकता अदृष्ट, काल आदि से विलक्षण (उसमे न रहने वाली), शब्द, अर्थ, रस और रचना मे रहने वाली है। अत जिस प्रकार रस गुणो के प्रयोजक हैं, उसी प्रकार शब्द, अर्थ और रचना भी। अत प्रयोजकता सम्बन्ध से वे गुण उनमे रहते ही हैं।

हरिप्रसाद के गुरु का मत है कि गुण रस के धर्म नही हैं। द्रुति, दीप्ति और विकास, ये तीनो चित्तवृत्तियाँ क्रमश माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणो से विशिष्ट रसो के आस्वाद से उत्पन्न होती हैं, अत गुण उन चित्तवृत्तियो से उत्पन्न होने वाले या उनके जनक हैं। वे चित्तवृत्तियाँ गुणो से उत्पन्न नही है, क्योकि गुण उन चित्तवृत्तियो का प्रयोजन नही है और गुण उन चित्तवृत्तियो को उत्पन्न करने वाले नही हैं, क्योकि रस के रूप मे उन चित्तवृत्तियो की उत्पत्ति नही होती। समुचित वर्णों से ही तीनो गुण व्यजित होते हैं। अलौकिक आह्लाद से युक्त विशिष्ट शब्द मे काव्य का प्रयोग होता है और शब्दार्थ की शोभा के द्वारा आह्लादरूपी धर्मी के धर्म ही गुण हैं।

इन तीनो मतो का उल्लेख करने के पश्चात् हरिप्रसाद ने अपना मत बताते हुए "विशेषाधायकस्तेन" इत्यादि पक्तियाँ लिखकर इस प्रकरण को समाप्त कर दिया है। इन मतो का अवलोकन करने पर स्पष्ट है कि मम्मट के समान गुण को रस का धर्म हरिप्रसाद ने नही माना। मम्मट ने "काव्यप्रकाश" मे लिखा है—

ये रसस्यागिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा ।।[1]

आत्मा के शौर्यादि धर्मों के समान काव्य के आत्मभूत अगी रस के जो अपरिहार्य और उत्कर्षाधायक धर्म हैं, वे गुण कहलाते हैं।

यहां मम्मट ने गुणो को रस के धर्म बताया है तथा गुण को उत्कर्षहेतु और काव्य मे अपरिहार्य माना है। इन दोनो बातो को काव्यालोककार ने नही माना। उन्होने गुणो को रस का धर्म नही, अपितु आह्लादरूपी धर्मी (काव्य) के धर्म (अर्थात् विशिष्ट शब्द के धर्म) माना तथा गुणों को विशेषाधायक बताया है।

"रसगगाधर" के गुण-विवेचन मे मम्मट के मत का खण्डन मात्र किया गया है। अनेक तर्क-वितर्कों के आधार पर उन्होंने यह प्रतिपादित करना चाहा कि गुण रस के धर्म नहीं, अपितु उसके कार्य है। पण्डितराज ने रस को गुणों का प्रयोजक माना है उसी प्रकार शब्द, अर्थ और रचना भी गुणो के प्रयोजक हैं। अत रस के समान प्रयोजकता सम्बन्ध से गुण शब्द, अर्थ, रचना आदि मे भी रहते हैं।[2] हरिप्रसाद ने इस प्रकार के विवाद में न उलझते हुए इतना ही लिख दिया है कि शब्द, अर्थ, रस और रचना मे रहने वाले काव्य के धर्म गुण हैं।

हरिप्रसाद ने तृतीय मत अपने गुरु का दिया और उसे स्वीकार किया। जिसके अनुसार गुण शौर्य आदि के समान विशेषाधायक तत्त्व है तथा अलौकिक आह्लादरूपी धर्मी के धर्म हैं।

काव्यशास्त्रीय परम्परा मे अन्य विद्वानो ने भी गुण के विषय मे अपने मत दिये हैं। वामन ने गुण का स्पष्ट लक्षण दिया—"काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा"।[3] शब्द और अर्थ के वे धर्म जो काव्य को शोभा-सम्पन्न करते हैं, गुण कहलाते हैं। गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, क्योंकि उनके बिना काव्य मे शोभा की उत्पत्ति नही हो सकती।[4]

---

1 का प्र -8, 66

2 प्रयोजकत्व चाहष्टादिविलक्षण शब्दार्थ-रस-रचनागतमेव ग्राह्यम्, अतो न व्यवहारातिप्रसक्ति। तथा च—शब्दार्थयोरपि माधुर्यादिरीदृशस्य सत्वादुपचारो नैव कल्प्य, इति तु मादृशा। रस —1, पृ 228

3 काव्य सू -3, 1, 1

4 पूर्वे नित्या। पूर्वे गुणा नित्या। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्ते।
—काव्या सू -3, 1, 3

आनन्दवर्धन से पूर्व आचार्य गुण को काव्य का धर्म मानते थे। सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने इसे रस का आश्रित धर्म स्वीकार किया—जो प्रधानभूत (रस) अंगी के आश्रित रहते हैं वे गुण कहे जाते हैं।[1] विश्वनाथ ने भी इसी तत्त्व को स्वीकार किया।[2]

गुण-परिभाषा में काव्यालोककार ने पूर्व विद्वानों के कुछ मतों को स्वीकार करते हुए भी नवीनता की उद्भावना की। वामन ने गुण को शब्दार्थ का धर्म माना। आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ ने रस का धर्म बताया। हरिप्रसाद ने शब्द, अर्थ, रस और रचना में रहने वाले आह्लाद रूपी धर्मों के धर्म को गुण बताया। वामन ने गुण को शोभाधायक कहा, मम्मट ने उत्कर्षाधायक हरिप्रसाद ने गुण को विशेषाधायक बताया। इस प्रकार सभी मतों का समावेश करते हुए हरिप्रसाद ने गुण की नयी परिभाषा दी है।

गुण—भेद

"काव्यालोक" में मम्मटोक्त तीन गुण तथा वामन द्वारा बताये गये दस गुणों का निरूपण किया गया है।

मम्मट के द्वारा कथित गुण तीन हैं—ओज, प्रसाद और माधुर्य।

चित्त के द्रवीभाव का कारण आह्लादस्वरूप माधुर्य गुण है, जो सामान्यत सम्भोग शृंगार में रहता है, परन्तु करुण, विप्रलम्भ शृंगार तथा शान्त रस में में उत्तरोत्तर अधिक चमत्कारजनक होता है।

चित्त के विस्तारभूत दीप्ति का हेतु ओज गुण है, जो सामान्यरूप से वीररस में रहता है, परन्तु बीभत्स और रौद्र रसों में क्रमश अधिक चमत्कारजनक होता है।

स्वच्छ वस्त्र में पानी के सदृश चित्त में सहसा व्याप्त होने वाला धर्मविशेष प्रसादगुण होता है, जो सभी रसों में रहता है।[3]

---

1 तमर्थमवलम्बन्ते येऽगिन ते गुणा स्मृता। –ध्वन्या 2, 6

2 रसस्यागित्वमाप्तस्य धर्मा शौर्यादयो यथा। —सा द 8, 1

3 तत्र द्रुतिकारणमाह्लादक माधुर्य शृगारवृत्ति सातिशय चेत करुणवि-प्रलम्भशान्तेषु। विस्ताररूपदीप्तिजनकत्वमोज वीरवृत्ति सातिशय चेत् बीभत्सरौद्रयो। स्वच्छजलवच्चित्तव्यापको धर्मविशेष प्रसाद सर्वरसवृत्ती।
-का लो सू-90 की वृत्ति

"काव्यालोक" मे वामनोक्त दस गुण–श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता या विकटता, ओज, कान्ति और समाधि का वर्णन भी किया गया है।

वामन[1] ने दस शब्दगुणो तथा दस अर्थगुणो का विवेचन किया। इन शब्द-गुणो तथा अर्थगुणो के नाम एक ही हैं, परन्तु लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। "काव्यालोक" मे शब्द-गुण के पश्चात् अर्थ-गुण का विवेचन न करके शब्द-गुण के साथ ही अर्थ-गुण भी बना दिये हैं। कही-कहीं शब्दगुण और अर्थगुण की भिन्न-भिन्न परिभाषा नही दी है। इस प्रकार "काव्यालोक" मे मम्मट और वामन, दोनो के अनुसार गुणभेद का विवेचन किया गया, स्वमत नही दिया गया है।

मम्मट[2] ने वामनोक्त दस गुणो का खण्डन किया है। वामन के दस गुणो में से कुछ का अन्तर्भाव माधुर्य, ओज और प्रसादरूप तीन गुणो मे किया है, कुछ को दोषाभाव रूप कहा है और कुछ कही पर गुण न होकर दोषरूप हो जाते हैं, अत तीन ही गुण माने जा सकते हैं। "काव्यप्रकाश" मे कथित इस प्रकरण को हरिप्रसाद ने "काव्यालोक" मे भी उद्धृत किया।[3] परन्तु काव्यालोककार को वामन का मत स्वीकार है अथवा मम्मट का, इस विषय मे उन्होंने कोई स्पष्ट उल्लेख नही किया है। परन्तु "काव्यप्रकाश" को "मूलग्रन्थ" कहने से सम्भवत मम्मटोक्त मत ही उन्हें मान्य है।

गुणों की व्यजक पांच वृत्तियां—

"काव्यालोक" मे पांच प्रकार की वृत्तियां बताती गयी हैं-मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा।[4] गुण मे वर्ण और पदघटना विशेष होने पर ये पांच वृत्तियां होती हैं।

"काव्यालोक" के विवेचन मे प्रतीत होता है कि ये वृत्तियां गुणो की व्यजक हैं। परन्तु यह स्पष्ट नही है कि कौन सी वृत्ति किस गुण की व्यजक है। विवेचन

---

1 काव्या सू -3, 1-2

2 का प्र -8, 72

3 एव केषाचिद्दोषाभावरूपत्व केषाचिदुक्तगुणेष्वन्तर्भाव इति न पृथग्गुण-कल्पितेति मूलग्रयाभिप्राय ।-का लो -सू 104 की वृत्ति

4 अथ गुणविशेषे वर्णघटनाविशेष मधुर प्रौढपरुषौ ललितो भद्र इत्यपि ॥सू 105॥

के अन्त मे केवल इतना लिखा है कि गुणो मे मधुर आदि रचना विशेष यथानुसार जानना चाहिये।

रुद्रट ने अनुप्रास अलकार के अन्तर्गत मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा, इन पाँच वृत्तियो का निरूपण किया है।[1] इन पाँचो वृत्तियो के नाम तथा लक्षण[2] मे "काव्यालोक" से समानता है। अत इस विवेचन मे हरिप्रसाद रुद्रट से प्रभावित प्रतीत होते है।

रीति

"काव्यालोक" मे रीतियो का सक्षेप मे निरूपण किया गया है। रीति गुणो की सहचारिणी होती है। समास के भेद से अर्थात् समासरहित और समासयुक्त होने पर रीति होती है।[3] वैदर्भी, पाचाली, लाटी और गौडी ये चार रीतियाँ बतायी गयी है।

समासरहित वैदर्भी रीति होती है। इसमे क्रियापदो का उपसर्ग के साथ योग व्याघात उत्पन्न नही करता। दो या तीन समस्तपद होने पर पाचाली रीति होती है। पाँच या सात समासयुक्त पद होने पर लाटी रीति होती है और अनेक समस्तपद होने पर गौडी रीति होती है।

गुण वृत्ति और रीति—

"काव्यालोक" मे गुण-निरूपण मे मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा ये पाँच वृत्तियाँ तथा वैदर्भी पाचाली, लाटी और गौडी–ये चार रीतियाँ बतायी गयी है। गुण–विशेष मे वर्ण तथा पदघटना विशेष होने पर वृत्तियाँ होती हैं। रीति गुण की सहचारिणी है तथा समास के भेद से होती है। इस प्रकार गुण, वृत्ति और रीति अलग-अलग माने गये है।

काव्यशास्त्र मे रीति और गुण के परस्पर सम्बन्ध के विषय मे विवेचन किया गया है।

काव्यशास्त्र मे वामन की परिभाषा "विशिष्टपदरचना-रूप रीति"[4]

---

1 मधुरा प्रौढा परुषा ललिता भद्रेति वृत्तय पच।
वर्णाना नानात्वादस्पति यथार्थनामफला॥ —रु काव्या-2, 19

2 रु काव्या –2, 20, 31

3 रीति समासभेदेन सापि तत्सहचारिणी॥ सू 106॥

4 विशिष्टपदरचना रीति। विशेषो गुणात्मा। —काव्या सू –1, 2, 7-8

रार्वमान्य रही। वामन ने शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्मों के रूप मे गुणो को और उनसे अभिन्न रीति को अपने आप मे सिद्ध माना। परन्तु आनन्दवधन आदि परवर्ती आचार्यो के अनुसार रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना-चमत्कार का नाम है, जो गुण के द्वारा रसदशा तक पहुँचाने मे साधनरूप से सहायक होती है।[1] काव्यालोककार ने इस विषय पर विचार नही किया। उन्होन वृत्ति तथा रीति की परिभाषा नही दी, केवल इतना बताया कि गुण-विशेष मे वर्ण और पदघटना विशेष होने पर पदवृत्तियाँ होती है *तथा समास के भेद से रीति होती है*, जो गुण की सहचारिणी है।

"काव्यालोक" के प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होने वृत्ति और रीति को अलग-अलग माना है। काव्यशास्त्रीय अन्य आचार्यों न इस प्रकार का भेद नही किया। मार्ग, वृत्ति रीति, सघटना तथा शैली शब्द प्राय समानार्थक हैं। एक ही पदार्थ को भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अलग-अलग नाम दिया। वर्णों के आधार पर विभाजन करके उद्भट ने तीन वृत्तियाँ बतायी—उपनागरिका, परुषा और कोमला।[2] *इन्ही वृत्तियो को वामन ने तीन रीतियो के रूप मे,* कुन्तक और दण्डी ने मार्ग के रूप मे तथा आनदवर्धन ने सघटना के रूप मे वैदर्भी, पाचाली और गौडी ये तीन वृत्तियाँ बतायी। आनन्दवर्धन ने समास के आधार पर रीतियो का भेद किया।[3] मम्मट ने वर्णों के आधार पर वृत्तियां बताकर उपनागरिका को वैदर्भी, परुषा को गौडी और ग्राम्या को पाचाली बताया।[4] विश्वनाथ ने वर्ण *तथा समास दोनो के आधार पर लाटी रीति भी स्वीकार करते हुए चार रीतियाँ* कही।[5] परन्तु काव्यालोककार ने उपर्युक्त समस्त विवरण से भिन्न अपना मत दिया। उन्होंने वृत्तियो और रीतियो का अलग-अलग विवेचन किया। रुद्रट ने अनुप्रास अलकार के अन्तर्गत जो पाँच वृत्तियाँ बतायी, उनको हरिप्रसाद ने गुण-व्यजक के रूप मे स्वीकार किया। रीतियो को गुण की सहचारिणी बताया, *परन्तु केवल समास के आधार पर उनका भेद किया।* इस प्रकार वृत्तियो और रीतियो का इस रूप मे विभाजन अन्य आचार्यों से अलग अपनी विशेषता रखता है।

---

1 गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान्। ॥ ध्वन्या –3, 6

2 का सा स –6, 8, 10

3 ध्वन्या –3, 5

4 का प्र –9, 80-1

5 सा द –9, 2-5

(12) अलंकार

अलंकार काव्य के आह्लाद का हेतु होता है और काव्य में सयोगवृत्ति से विद्यमान रहता है। जैसे तिलक आदि स्त्रियों की सौन्दर्य-वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार शब्द और अर्थ की सौन्दर्य-वृद्धि ही उसकी (अलंकार की) गति है—

> सयोगवृत्त्यालंकार काव्यस्याह्लादकारणम्।
> तिलकादिरिव स्त्रीणां शब्दार्थं चोन्मियद्गति ॥ सू 107 ॥

उक्त लक्षणानुसार काव्यालोककार ने अलंकार के सम्बन्ध में तीन बातें कही—(1) अलंकार काव्य के आह्लाद का कारण है। (2) अलंकार काव्य में सयोग सम्बन्ध से स्थित रहते हैं और (3) इससे शब्द और अर्थ की सौन्दर्यवृद्धि होती है।

भामह ने अलंकार को काव्य का सौन्दर्याधायक तत्त्व मानते हुए कहा कि जिस प्रकार कामिनी का सुन्दर मुख भी आभूषण के बिना शोभित नहीं होता, उसी प्रकार अलंकारों के बिना काव्य की शोभा नहीं होती।[1]

दण्डी के अनुसार काव्य के शोभाकारक धर्मों को अलंकार कहा जाता है।[2] इस परिभाषा के अनुसार उन्होंने उपमा आदि अलंकारों के अतिरिक्त अन्य सभी शोभाकारक धर्मों को भी अलंकार कहा।

वामन ने उपमादि अलंकारों को काव्यशोभा का हेतु बताया।[3]

आनन्दवर्धन ने पूर्ववर्ती आचार्यों से कुछ भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। अब तक आचार्यों ने अलंकार को काव्य का शोभाकारक अथवा शोभा की वृद्धि करने वाला बताया था। आनन्दवर्धन ने काव्य के शरीर शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाने वाले अलंकारों का प्रयोग रस के उपकारक के रूप में ही स्वीकार किया। आनन्दवर्धन के अनुसार जो काव्य के अंग शब्द और अर्थ के आश्रित हैं—उनको कटक आदि के समान अलंकार कहते हैं।[4]

आनन्दवर्धन की इसी धारणा को स्वीकारते हुए मम्मट[5] तथा

---

1 न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ॥ —भा काव्या -1, 13
2 काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ॥ —काव्या -2, 1
3 काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः । —काव्या -सू 3, 1-2
4 अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्या कटकादिवत् । —ध्वन्या -2, 6
5 उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादय ॥ —का प्र -8, 67

विश्वनाथ[1] ने अलकार के लक्षण दिये । उनके अनुसार अलकार शब्द और अर्थ रूप अगो के द्वारा मुख्य रस के उपकारक हैं तथा शब्दार्थ के अस्थिर धर्म हैं ।

मम्मट तथा विश्वनाथ के समान काव्यालोककार हरिप्रसाद ने भी अलकारो को काव्य का अस्थिर धर्म माना । परन्तु जहाँ मम्मट और विश्वनाथ ने अलकार को शब्द और अर्थ के द्वारा मुख्य रस का उपकारक माना है, जहाँ हरिप्रसाद ने अलकार को शब्द और अर्थ की सौन्दर्यवृद्धि करने वाला बताया है । भामह, दण्डी और वामन ने अलकार को काव्य-शोभा का हेतु अथवा काव्य-शोभा की वृद्धि करने वाला बताया, परन्तु हरिप्रसाद ने अलकार को शब्द और अर्थ की सौन्दर्यवृद्धि करने वाला बताया है । अलकार के विषय मे हरिप्रसाद ने पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न एक नवीन बात कही कि अलकार काव्य के आह्लाद का कारण है । हरिप्रसाद के अनुसार काव्य मे आह्लाद का विशेष महत्त्व है और अलकार *उस आह्लाद का कारण है, जो सयोग सम्बन्ध से काव्य मे विद्यमान रहता है ।* इस कारण अलकार-लक्षण मे हरिप्रसाद ने पूर्ववर्ती मतो को अशत स्वीकार करते हुए भी नवीनता का समावेश किया है ।

गुण और अलकार—

काव्यालोककार गुण और अलकारो मे भेद मानते हैं । गुण शौर्य आदि के समान विशेषाधायक धर्म है, जो आह्लादरूपी धर्मी के धर्म हैं ।[2] अलकार काव्य-आह्लाद के कारण हैं, जो सयोग सम्बन्ध मे विद्यमान रहते हैं और स्त्रियो के तिलकादि के समान शब्द और अर्थ की सौंदर्यवृद्धि करते हैं ।[3] गुण और अलकार दोनो पदो मे रहते हैं परन्तु—"पदसमवेता गुणा भवन्ति अलकारास्तु पदाना सयोगेन भवन्ति ।"[4] गुण पदो मे समवेत होते हैं (अर्थात् समवाय सम्बन्ध से विद्यमान होते हैं) और अलकार पदो मे सयोग सम्बन्ध से रहते हैं ।

गुण और अलकार के विषय मे सस्कृत काव्यशास्त्र मे तीन प्रमुख मत हैं—(1) भट्टोद्भट, (2) वामन और (3) आनन्दवर्धन, मम्मट तथा विश्वनाथ

---

1 शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिन ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ —सा द–10,1

2. विशेषाधायकस्तेन गुण शौर्यादिवत्सत ।
आह्लादस्याविशिष्टस्य धर्मं सर्वत्र धर्मिण ॥—का लो–सू 98

3 सयोगवृत्त्यालकार काव्यस्याह्लादकारणम् ।
तिलकादिरिव स्त्रीणा शब्दार्थे चोन्मिषद्गति ॥ —का लो–सू 107

4 का लो–सू 107, वृत्ति पर सू पा टि

का मत। हरिप्रसाद ने "काव्यालोक" में भट्टोद्भट[1] के अभेदवादी मत को स्वीकार नहीं किया। गुणों को समवाय सम्बन्ध से तथा अलंकारों को संयोग सम्बन्ध से स्थिर मानकर उन्होंने भी वामन,[2] मम्मट[3] और विश्वनाथ[4] के समान गुणों को अपरिहार्य तथा अलंकार को अस्थिर धर्म स्वीकार किया। परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ भिन्नता भी परिलक्षित होती है। वामन ने गुणों को काव्य-शोभा का जनक तथा अलंकार को उस शोभा के अतिशय का हेतु बताया। हरिप्रसाद ने वामन के इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। आनन्दवर्धन[5], मम्मट और विश्वनाथ ने गुणों को रस का धर्म और अलंकार को शब्दार्थ द्वारा रस का उपकारक माना। परन्तु हरिप्रसाद ने गुण और अलंकार दोनों को ही पद में स्थित माना है। गुण पद के साथ समवेत रहते हैं और अलंकार पद में संयोग सम्बन्ध में स्थित रहते हैं। इस प्रकार मम्मट आदि आचार्यों ने रस के आधार पर गुण-अलंकार का भेद किया, परन्तु हरिप्रसाद ने पद के साथ उसके सम्बन्ध के आधार पर भेद स्पष्ट किया।

अलंकारों की संख्या, भेद तथा वर्गीकरण—

"काव्यालोक" के षष्ठ व सप्तम प्रकाश में क्रमश शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का विवेचन किया गया है।

शब्दालंकार शब्दविशेष की महिमा से, संयोगवृत्ति से ही काव्यास्वाद के

---

1 समवायवृत्त्या शौर्यादय संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेद', ओजप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेद'। —का प्र 8,-पृ-384

2 काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा'।
तदतिशयहेतवस्त्वलंकारा ॥
पूर्वे नित्या।—काव्य सू-3, 1, 1-3

3 ये रसस्यागिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा ॥
उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादय' ॥—का प्र-8, 66-7

4 रसस्यांगित्वमाप्तस्य धर्मा शौर्यादयो यथा गुणा'।
शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिन'।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ —सा द—10, 1

5 तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिन ते गुणा' स्मृता'।
अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्या' कटकादिवत् ॥—ध्वन्या-2, 6

हेतु कहे जाते हैं ।[1] श्लेष-लक्षण में शब्दालकार के लिये "शब्दभूषण" शब्द का प्रयोग भी किया गया है ।[2]

"काव्यालोक" मे निरूपित पाँच शब्दालकार हैं—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्रक । इन सभी अलकारो का भेदोपभेद तथा उदाहरणसहित लक्षण यहाँ प्रस्तुत किया गया है । "सरस्वतीकण्ठाभरण" में भोजराज द्वारा निरूपित 24 शब्दालकारो का भी उदाहरणसहित विवेचन यहाँ किया गया है । परन्तु ये 24 शब्दालकार उन्हें स्वीकार्य नहीं हैं । इनमे से कुछ का "काव्यालोक" मे कथित पाँच शब्दालकारो मे तथा कुछ का अर्थालकारो मे अन्तर्भाव हो जाता है और कुछ सकीर्ण के सदृश प्रतीत होते हैं ।[3] इस प्रकार पाँच ही शब्दालकार स्वीकार किये गये ।

"काव्यालोक" मे निरूपित अर्थालकार 70 हैं । यद्यपि पाण्डुलिपि मे इसकी सख्या 71 दी गई है । प्राय सभी अलकारो के अन्त मे सख्या का निर्देश किया गया है । इकतालीसवें अलकार का विवेचन प्रारम्भ करते हुए श्रृंखलामूलक अलकारो का उल्लेख है, जिनमे कारणमाला तथा एकावली अलकारो का वर्णन है । परन्तु अन्त मे सख्या का परिगणन करते हुए सम्भवत प्रतिलिपिकार की भूल से श्रृंखला को अलग अलकार मान लिया गया है ।[4] "काव्यालोक" मे निरूपित 70 अर्थालकार हैं—(1) उपमा, (2) उपमेयोपमा, (3) अनन्वय, (4) असम, (5) उदाहरण, (6) स्मरण, (7) रूपक, (8) परिणाम (9) सन्देह, (10) भ्रान्तिमान्, (11) उल्लेख, (12) अपह्नुति, *(13)* उत्प्रेक्षा, *(14)* अतिशयोक्ति, *(15)* तुल्ययोगिता, *(16)* दीपक, (17) प्रतिवस्तूपमा, (18) दृष्टान्त, (19) निदर्शना, (20) व्यतिरेक (21) सहोक्ति, (22) विनोक्ति, (23) समासोक्ति, (24) परिकर, (25) श्लेष, (26) अप्रस्तुतप्रशसा, (27) पर्यायोक्ति, (28) व्याजस्तुति, (29) आक्षेप, (30) विरोध, (31) विभावना, (32) विशेषोक्ति,

---

1 एते शब्दालकारा शब्दविशेषमहिम्ना सयोगवृत्त्यैव काव्यास्वादहेतव इत्याहु । —का. लो -सू 119 की वृत्ति (षष्ठ प्रकाश के अन्तिम प्रकरण मे)

2 का लो —सू 118

3 अत्र केचिदुक्तशब्दालकारेषु केचिदर्थचमत्कारप्रधानार्थालकारेषु केचित्तु काव्यवैचित्रीमात्रहेतव इति परस्पर सकीर्णा इव लक्ष्यन्ते ।
—का लो -सू 119 की वृत्ति (षष्ठ प्रकाश के अन्तिम प्रकरण मे)

4. का लो -सू 171, वृत्ति की मू. पा टि

(33) असगति, (34) सम, (35) असम, (36) अधिक, (37) विचित्र, (38) अन्योन्य, (39) विशेष, (40) व्याघात, (41) कारणमाला, (42) एकावली, (43) सार, (44) काव्यलिंग, (45) अर्थान्तरन्यास, (46) अनुमान (47) यथासख्य, (48) पर्याय, (49) परिवृत्ति, (50) परिसख्या, (51) अर्थापत्ति, (52) विकल्प, (53) समुच्चय, (54) समाधि, (55) प्रत्यनीक, (56) प्रतीप, (57) मीलित, (58) सामान्य, (59) तद्गुण (60) अतद्गुण, (61) सूक्ष्म, (62) व्याजोक्ति, (63) वक्रोक्ति, (64) स्वाभावोक्ति, (65) भाविक (66) प्रौढोक्ति, (67) लेश, (68) उदात्त, (69) ससृष्टि और (70) सकर।

पाण्डुलिपि के प्रारम्भ मे "अर्थालकारनिरूपण" लिखा होने से ही स्पष्ट है कि इसमे अर्थालकारो का भेदोपभेद तथा उदाहरणसहित विस्तार से वर्णन किया गया है। अर्थालकारो को प्रारम्भ मे औपम्य, अतिशय, श्लेष और वास्तव, इन चार वर्गों मे विभाजित किया गया है। परन्तु इस वर्गीकरण के अनुसार अर्थालकारो का निरूपण नही किया गया।

सस्कृत काव्यशास्त्र मे अनेक आचार्यों ने अलकारो का विवेचन किया है। "काव्यालोक" के अलकार-विवेचन पर प्रमुखत रुद्रट के "काव्यालकार", मम्मट के "काव्यप्रकाश" तथा पण्डितराज जगन्नाथ के "रसगगाधर" का प्रभाव लक्षित होता है। हरिप्रसाद से पूर्व विद्वानो ने अलकारो के विषय मे जो कुछ भी विवेचन किया था, उसका पुन अवलोकन करते हुए हरिप्रसाद ने अलकारो के सम्बन्ध मे एक निश्चत मत देने का प्रयत्न किया है। जिस आचार्य का मत अलकारविशेष मे उन्हें उचित प्रतीत हुआ, उसे ही यहाँ प्रस्तुत कर दिया गया है। अत उनका यह विवेचन अनेक आचार्यों से प्रभावित है। शब्दालकारो का आधार रुद्रट का "काव्यालकार" तथा मम्मट का "काव्यप्रकाश" है। अर्थालकारो का प्रमुख आधार "रसगंगाधर" है, परन्तु कही-कही भिन्नता भी है। दोनो मे अलकार-सख्या समान होते हुए भी 8 अलकार भिन्न हैं। अर्थालकार का लक्षण, उदाहरण तथा शास्त्रीय विवेचन प्रमुखत "रसगगाधर" को आधार बनाकर किया गया है। कुछ स्थलो पर, यथा-भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, समासोक्ति, विरोध, काव्यलिंग, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तदगुण, अतदगुण, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, ससृष्टि तथा सकर अलकार मे "काव्यप्रकाश" को आधार बनाया गया। स्वल्परूप मे यथा—उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि मे "कुवलयानन्द" का विवेचन भी प्रस्तुत किया है। अत इस प्रसग मे किसी नवीनता का प्रस्तुतीकरण नही हो सका। केवल इतनी ही नवीनता है कि पूर्ववर्ती ग्रन्थों के विस्तृत एव शास्त्रीय गूढ विवेचन को सरलता मे प्रस्तुत किया गया है।

3–काव्यालोक का महत्त्व

पूर्व-विवेचन से स्वत स्पष्ट है कि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ-परम्परा मे "काव्यालोक" का विशिष्ट स्थान है। इस ग्रन्थ मे पूर्व-निरूपित काव्यशास्त्रीय विषयो पर पुनर्विचार किया गया। पूर्व मतो को स्वीकार करते हुए अथवा तर्कसम्मत आलोचना करते हुए उन्ही काव्यागो का नवीन रूप मे प्रस्तुतीकरण किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय-निरूपण मे एक नवीनता परिलक्षित होती है और वह नवीनता है—"लोकोत्तराह्लाद" अथवा "चमत्कार" का विवेचन। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे इसी "अलौकिक आह्लाद" या "चमत्कार" को पुन-पुन स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। काव्य-लक्षण[1] मे "लोकोत्तर आह्लाद" को विशिष्ट महत्त्व दिया गया। "लोकोत्तरता" का अभिप्राय है—सुखातिशय का कारण चमत्कार–विशेष[2]। अत इस विशिष्ट चमत्कार से युक्त आह्लाद को उत्पन्न करने वाले अर्थ से युक्त शब्द को काव्य कहा गया है।

काव्य-प्रयोजन[3] के अन्तर्गत "परमाह्लाद" को स्वीकार किया गया और वही परमाह्लाद "सकलप्रयोजनमौलिभूत" है। "काव्य-हेतु"[4] मे भी काव्य को चमत्कारात्मक कहा गया है। "चमत्कार" को ही काव्य की आत्मा[5] माना, जो सुखातिशय का कारण है। ध्वनि-विवेचन[6] मे भी ध्वनि को परमाह्लाद का

---

1 लोकोत्तराह्लादकार्थं शब्द काव्यम्।–का लो-सू 7

2 लोकोत्तरत्व च सुखातिशयकारण चमत्कारविशेष।–का लो-सू 7 की वृत्ति

3 काव्यस्य परमाह्लादकीर्त्यादिफलयोगिन।
हरिप्रसादविदुषा मीमासा कापि तन्यते॥–का लो-सू 1

4 सबीजस्य कवेस्तत्र सरसप्रतिभाकुर।
कारण वपुपस्तस्य चमत्कारपरात्मन॥–का लो—सू 4
चमत्कार एव पर आत्मा यस्येत्यर्थं। का लो सू 4 की वृत्ति

5 रस आत्मा इति परे आचार्य्या ऊचु। स्वमते तु चमत्कार एवात्मा काव्यस्य।
—का लो-सू 5 की मू पा टि
तत्सुखातिशयकारण चमत्कार एव काव्यप्राण इति सिद्धम्।–का लो-सू 6 की वृत्ति

6 *शब्दार्थानविलासोत्थ परमाह्लादकारणम्।*
अर्थरूपपरामशश्चेद कश्चिद् ध्वनिर्बुधा॥–का लो-सू 29

कारण कहा है। विलक्षण चमत्कारातिशय को प्रकट करने के कारण ध्वनि से परमाह्लाद की प्राप्ति होती है।

रस-निरूपण[1] में भी, सभी रसों में आह्लाद-प्राप्ति का विवेचन करते हुए हरिप्रसाद ने यही लिखा है कि करुण, रौद्र, बीभत्स, भयानक आदि रस आह्लाद प्राप्त कराने वाली वृत्ति के प्रतिकूल हैं, तथापि वहाँ भी लोकोत्तराह्लादकार्य विशिष्ट काव्य-व्यापार की ही महिमा होती है जिससे उक्त रसों में चारुत्व का अनुसंधान होता है।

काव्य में दोष[2] भी वही हैं, जो रस के अपकर्षक हैं अथवा आह्लाद का क्षय करते हैं। गुण-विवेचन[3] में भी काव्य को "आह्लादरूपी धर्मी" कहा है। अलंकारों[4] को काव्य-आह्लाद का हेतु कहा है।

इस प्रकार प्रत्येक काव्यांग का विवेचन करते हुए "अलौकिक आह्लाद" अथवा "चमत्कार" का उल्लेख अवश्य किया गया है। पूर्व काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी "अलौकिक आह्लाद" का महत्त्व आचार्यों ने स्वीकार किया, परन्तु हरिप्रसाद के समान नहीं। ऐसा प्रतीत होता है मानो इसी को स्थापित करने के लिए "काव्यालोक" की रचना की गई, अतः किसी भी विषय का वर्णन करते हुए यथासम्भव पुनः-पुनः इसका प्रतिपादन किया गया है।

"काव्यालोक" में काव्यशास्त्र के सभी तत्त्वों को सरलता से समझाने का प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थ-रचना का प्रमुख उद्देश्य अलंकारों का विवेचन करना है। अलंकारों का क्षेत्र विशाल समुद्र के सदृश होने के कारण इसे पार करना कठिन प्रतीत होता है। इस पाण्डुलिपि के प्रतिलिपिकार घोक्षचन्द्र का यह कथन सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि यदि कोई व्यक्ति अलंकाररूपी विशाल समुद्र को पार करना चाहता है तो उसे कंठ से काव्यालोकरूपी जहाज का आश्रय लेना

---

1 अत्र करुणरौद्रबीभत्सभयानकादीनामनुभाववृत्त्याह्लादप्रतिकूलत्वेऽपि लोकोत्तराह्लादकार्यविशिष्टकाव्यव्यापारमहिम्ना चारुत्वमनुसंधेयम्।
—का लो-सू 50 की वृत्ति

2 अपकर्षं प्रधानस्य वाह्लादक्षतिरित्यसौ। —का लो-सू 88

3 विशेषाधायकस्तेन गुणः शौर्यादिवत्सतः।
आह्लादस्याविशिष्टस्य धर्मं सर्वत्र धर्मिणः॥ —का लो-सू 98

4 सयोगवृत्त्यालंकार काव्यस्याह्लादकारणम्॥ —का लो-सू 107

चाहिये ।[1] चोक्षचन्द्र के इस कथन से काव्यशास्त्रीय परम्परा मे "काव्यालोक" के अलकार-निरुपण का महत्त्व स्वत परिलक्षित हो जाता है । इसी प्रकार ग्रन्य विषयो के विवेचन से भी यही प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार प्रत्येक विषय को सरलता से यहाँ स्पष्ट करना चाहता है ।

"काव्यालोक" मे वर्णित सभी विषय ऐसे हैं, जिनका वर्णन पूर्व मे अनेक आचार्यों के द्वारा किया जा चुका है । अनेक स्थलो पर "काव्यप्रकाश" अथवा "रसगगाधर" के आधार पर विवेचन किया गया है कही-कही अन्य आचार्यों के मतो को भी प्रस्तुत किया गया है । इस ग्रन्थ मे प्रत्येक काव्याग के विवेचन मे विभिन्न मतो का पुन अवलोकन करते हुए एक निश्चित मत को प्रस्तुत करन का प्रयत्न किया गया है । किसी भी आचार्य का मत उचित प्रतीत होने पर उसे स्वीकार किया गया और अन्य मतो की तर्क-सम्मत आलोचना की गई । इस रूप मे इस कृति को एक शोध-ग्रन्थ के समान स्वीकार किया जा सकता है । स्वय कृतिकार के शब्दो में ही यह ग्रन्थ "माधुकरी-भिक्षा" के समान है । पूर्ववर्ती ग्रन्थो मे जो कुछ कहा गया है, वही इसमे प्रस्तुत किया गया है । हरिप्रसाद ने पूर्ववर्ती ग्रन्थो से काव्यशास्त्रीय तत्त्वो का सचय करते हुए, मधुमक्खी के सदृश नवीन मधु को "काव्यालोक" के रूप मे प्रस्तुत किया है ।[2] अतएव मधु के सदृश ही "काव्यालोक" का वैशिष्ट्य स्वीकरणीय है ।

---

1 अलकाराम्बुधे पारमाप्तुमिच्छा भवेद्यदि ।
काव्यालोकप्रवहण तदाश्रयत कठत ॥ —का लो पुष्पिका

2 इय माधुकरीभिक्षा सुमनोभ्य समाहृता ।
बालाना तुष्टये गर्वो न मनागपि विद्यते ॥
प्राचीनैर्यदिहोदित बहुविधैर्ग्रन्थैस्तदत्राहृतम् ।
यत्नेपेण न किचिदन्यदुदित गर्वेण तद्वन्मया ॥ —का लो -पुष्पिका

ओम्

श्री गणेशाय नम
श्री हरिप्रसादकृत

काव्यालोक

प्रथम प्रकाश

अभिधेयकथनपुर स्सर सप्रयोजन शास्त्रारम्भ प्रतिजानीते—

काव्यस्य परमाह्लादकीर्त्यादिफलयोगिन ।
हरिप्रसादविदुषा[1] मीमासा कापि तन्यते ।। सू 1 ।।

निपुणवर्णनारूपकविकर्मण कापीत्येकदेशमात्रकथन, मीमासा लक्षणविचार, परमाह्लाद[2] इति सकलप्रयोजनमौलिभूत तदर्थकपुरुषार्थ-साधनप्रवृत्ते, आदिपदाद्धावकादीनामिव धन मयूरादीनामिवानर्थनिवृत्तिरित्यादि धनानर्थनिवृत्तिव्यवहारज्ञानादिक सगृह्यते ।

ग्रन्थकार (अभिधेय) कथनीय या वर्णनीय विषय के पूर्व प्रयोजन-सहित शास्त्र के प्रारम्भ की प्रतिज्ञा करता है—

काव्य के प्रयोजन—

हरिप्रसाद नामक विद्वान् के द्वारा परमाह्लाद, कीर्ति आदि फल से युक्त काव्य की कोई नवीन (प्रस्तुत) मीमासा (विवेचना) की जा रही है ।। सू 1 ।।

काव्य का अर्थ है–निपुणवर्णना–रूप कविकर्म । "काऽपि" अर्थात् एकदेश-मात्र कथन । "मीमासा" का अर्थ है—लक्षण–विचार । "परमाह्लाद" काव्य-प्रयोजनो का शिरोमणि है, क्योकि पुरुषार्थ-चतुष्टय के साधन की प्रवृत्ति भी काव्य मे परमाह्लाद के लिये ही होती है । "आदि" पद द्वारा (कीर्ति के साथ ही) धावक आदि के लिये धन, मयूर आदि कवियो की अनर्थ-निवृत्ति इत्यादि धन-लाभ, अनर्थ-निवारण, व्यवहार-ज्ञान आदि (मम्मटोक्त) प्रयोजनो का ग्रहण होता है ।

---

1 रविप्रसादेन नवेत्यपि पाठ (मू पा टि) 2 ० ल्हाद

कापि दृग्व्यजनावृत्तिर्येन[1] याति रसात्मताम् ।
सद्य श्रवणमस्कारैस्तदिद काव्यमुच्यते ।। सू 2 ।।

श्रवणजन्यसुखानुभूततत्तदर्थविषयै काव्येन सद्य एव विगलितवेद्यान्तरानन्दमहिम्ना दृशो[2] व्यजनावृत्ति काव्यचमत्कारातिशयसूचनव्यापारविशेष रसात्मता स्वस्यान्यस्य च प्राप्नोति, तत् एव विचारित [1 ब] काव्य अत उच्यत इऽत्यर्थ दृशोरिति समासे तु विधेयाशतिरोधाने तद्विषये साक्षाद्व्यजनावृत्तिप्राकट्येन रसात्मता गच्छति । अत्र रस काव्यचमत्कारातिशयरूप आस्वाद ।

शास्त्रकान्तारखिन्नाया भारत्या सुखहेतवे ।
काव्यकल्पतरुच्छाया वेधसैव प्रकाश्यते ।। सू 3 ।।

अत्र कविरेव वेधा , भारत्येव भारती, शास्त्रमेव कान्तारस्तत्र परिभ्रमणमेव खेद , काव्यमेव कल्पतरु ।

काव्य का स्वरूप—

श्रवणमात्र से श्रुति-सस्कारो के द्वारा तत्काल ही जिसके द्वारा कोई अनिर्वचनीया, (चमत्कृत) नेत्रो द्वारा व्यजित होने वाली (दृक्) व्यजनावृत्ति रसात्मता (रसरूपता) मे परिणत हो जाती है--उसे काव्य कहा जाता है । (निरुक्त पद्धति से इस लक्षण के अन्तर्गत "काव्य" पद मे "काऽपि व्यजनावृत्ति" के आद्य अक्षरो का ग्रहण किये जाने की प्रतीति होती है ।) ।। सू 2 ।।

श्रवणजन्य सुख से अनुभूत विभिन्न विषयो द्वारा तत्काल ही (सुनने के साथ ही) अन्य ज्ञान-विषयो को नष्ट करने की महिमा वाले काव्य के द्वारा नेत्र से प्रकट होने वाली, काव्य के अतिशय चमत्कार को सूचित करने वाली, विशिष्ट व्यापाररूपा व्यजनावृत्ति जब स्वय वक्ता और अन्य श्रोता दोनो की रसात्मता मे परिणत हो जाती है—उसे ही विद्वानो ने विचार करके काव्य की सज्ञा दी है। "दोनो नेत्रो की" (व्यजनावृत्ति)—ऐसा समास विग्रह करने पर तो विधेयाश का तिरोधान हो जाने पर "दृशो "—इस उद्देश्याश के विषय मे व्यजनावृति के साक्षात् (प्रत्यक्ष) प्रकट होने के कारण (नेत्रो तक से चमत्कृति के अतिशय की अभिव्यक्ति दिखाई देने पर) व्यजनावृत्ति रसरूप मे परिणत हो जाती है । यहाँ रस काव्य-चमत्कार का अतिशयरूप आस्वाद है ।

1 काव्येन (मू पा टि) 2 नेत्रात् (मू पा टि)

शास्त्ररूपी विशाल जगल मे खिन्न हुई वाणी के सुख के हेतु, कवि रूपी स्रष्टा के द्वारा काव्य-रूपी कल्पवृक्ष की छाया प्रकाशित की जाती है ।। सू 3 ।।

यहाँ कवि ही स्रष्टा (वेधा) है, भारती ही भारती है (भाषा ही उसकी वाणी है), शास्त्र ही विशाल जगल है, उसमे परिभ्रमण करना ही खेद है तथा काव्य ही कल्पवृक्ष है ।

सबीजस्य कवेस्तत्र[1] सरसप्रतिमाङ्कुर ।
कारण वपुषस्तस्य[2] चमत्कारपरात्मन ।। सू 4 ।।

[2अ] तत्र प्रथम काव्यवपुष कारण सबीजस्य कवे सरसप्रतिमाङ्कुर । एतेन द्वये कवय सम्भवन्ति अरोचकिन सतृणाभ्यवहारिणश्चेति वामन । तत्र सतृणाभ्यवहारिण कवय एव न भवन्ति । सबीज इत्येव तल्लक्षम । प्राक्तनसस्कार-विशेषो बीज य विना निर्मातृत्वस्वादकताविरह । तदेव काव्यस्य कीर्त्याह्लादाद्यनेकप्रयोजनवतो देवता-प्रसादात् व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्या वा घटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिरेव कारण नवनवोल्लेखशालिन्या प्रज्ञाया एव प्रतिभात्वात् चमत्कार एव पर आत्मा यस्येत्यर्थ ।

काव्य का हेतु—

इस काव्य मे बीजसहित कवि का सरस प्रतिभारूपी अकुर ही, अतिशय चमत्कारात्मक उस काव्य के शरीर का कारण है ।। सू 4 ।।

इस काव्य मे बीजसहित कवि का सरस प्रतिभा रूपी अकुर ही काव्य-शरीर का प्रथम कारण है । इससे दो प्रकार के कवि उत्पन्न होते हैं—"अरोचकी" (विवेकी) तथा "सतृणाभ्यवहारी" (अविवेकी)-यह वामन का कथन है । इसमे "सतृणाभ्यवहारी" (अविवेकी) कवि ही नही होते । सबीज ही कवि का लक्षण है। पहले से रहने वाला सस्कार-विशेष बीज है, जिसके बिना काव्य के निर्मातृत्व की स्वादकता नही हो सकती । वह बीज ही कीर्त्ति, आह्लाद आदि अनेक प्रयोजनों से युक्त काव्य का कारण है, जिसमे देवताओ की प्रसन्नता से अथवा (लोक-व्यवहार, शास्त्र, काव्य, इतिहास आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न) व्युत्पत्ति और पुन -पुन काव्य-शिक्षा के अभ्यास से काव्य-सघटना के अनुकूल शब्द और अर्थ की उपस्थिति होती है । नवनवोन्मेष (उल्लेख)—शालिनी प्रज्ञा (बुद्धि) को ही प्रतिभा कहा जाता है । उस प्रतिभा से उत्पन्न काव्य की श्रेष्ठ आत्मा चमत्कार ही है, यही अभिप्राय है ।

---

1 काव्ये (मू पा टि)

2 सरसा या प्रतिभा स एवाङ्कुर तस्य काव्यस्य वपुष कारणम् (मू पा टि)

शब्द शरीर काव्यस्य घटनावयवस्थिति ।
हारादिवदलङ्कारा रस[1] आत्मा परे जगु ॥ सू 5 ॥

नथाहु शब्दार्थौ शरीर ध्वनिरसव आत्मा रस माधुर्य्याद्यागुणा उपमादयोऽलङ्कारा रीतिरवयवसस्थान यदि दोष श्रवणकटुतादिरेव नान्य इति । "काव्य श्रुतमर्थो नावगत" इति शब्द एव लोकप्रतीतिपर्यवसानात् शरीरे पुरुषव्यपदेशवत् शब्द एव काव्यव्यवहारस्य न्याय्यत्वादिह शब्द शरीर काव्यस्येत्युक्तम् ।

भाव्यमाने[2] चमत्कार सुखातिशयकारणम् ।
वस्त्वलङ्काररूपोऽपि काव्यस्यात्मा मत मतम् ॥ सू 6 ॥

[2ब] न खलु रस एव काव्यस्यात्मा ध्वनिरेवासव "कोह्यं व नीचं शस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वर श्रोष्यती" त्यवविधस्य रस विनापि निरात्मत्व वक्तु शक्नुयात् ।

विरहपाण्डुकपोलमुखेन्दुना क्व समतामुपयास्यति शारद[3] ।
[4]अयमधिज्यगुणेन मनोभुवा सममुदेति स जन्मकर[5] स्मृत ॥ 1 ॥

एवविधस्य वा निष्प्राणत्व वदेत् । तत्सुखातिशयकारण चमत्कार एव काव्य-प्राणा इति सिद्धम् ।

काव्य की आत्मा—

अन्य विद्वानो का कहना है कि काव्य का शरीर शब्द है, सघटना शब्द के अवयवरूप मे स्थित होती है, अलकार हार आदि के समान हैं और रस आत्मा है ॥ सू 5 ॥

(अन्य आचार्यों के मतानुसार ही रस आत्मा है, स्वमतानुसार तो काव्य की आत्मा चमत्कार ही है ।)

---

1 रस आत्मा इति परे आचार्य्या ऊचु । स्वमते तु चमत्कार एवात्मा काव्यस्य (मू पा टि)

2 भाव्यमाने विचार्य्यमाणे काव्ये । (मू पा टि)

3 चन्द्र (मू पा टि)

4 तव मुखेन्दु (मू पा टि)

5 शारदश्चन्द्रो मनोभुवो जन्मकर, चन्द्र दृष्ट्वा काम उत्पद्यते इत्यर्थ । (मू पा टि)

जैसा कि कहा गया है शब्द और अर्थ (काव्य का) शरीर है, ध्वनि प्राण है, आत्मा रस है, माधुर्य गुण हैं, उपमा आदि अलंकार हैं, रीति अवयव-संस्थान (अंग) रूप है, यदि दोष है तो श्रवणकटुता आदि ही है, अन्य नहीं। 'काव्य को सुना, अर्थ ज्ञात न हो सका", इस प्रकार के प्रयोग में "शब्द" ही लोक-प्रतीति द्वारा निश्चय कराने वाला होता है, अतः शरीर में पुरुष नाम के व्यवहार के समान शब्द में ही काव्य का व्यवहार न्यायोचित होने से यहाँ शब्द ही काव्य का शरीर है, यह कहा गया है। (अर्थात् जैसे पुरुष के शरीर को देखकर उसे ही पुरुष कहा जाता है, उसी प्रकार शब्द के लिये ही काव्य शब्द का प्रयोग होता है।)

विचार्यमाण काव्य में चमत्कार सुखातिशय का कारण है। वस्तु और अलङ्कार रूप भी काव्य के आत्मारूप माने जाते हैं यह भी मेरा अभिमत है।
॥ सू 6 ॥

न तो रस ही काव्य की आत्मा है और न ध्वनि ही प्राण है। (यदि रस को काव्य की आत्मा कहा जाएगा तो) कोऽयं व नीचैः शस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति" (कौन है यह? तनिक धीमे स्वर से बोल। हृदय में स्थित मेरा प्राणेश्वर यहीं सुन लेगा।) —इत्यादि इस प्रकार के काव्य में रस नहीं होने से इसे आत्मत्व से रहित कहा जायगा।

(ध्वनि को काव्य का प्राण कहने पर—)

विरह के कारण पाण्डुवर्णयुक्त कपोलवाले मुखरूपी चन्द्रमा से, (शरद् ऋतु का) चन्द्रमा किस प्रकार समता प्राप्त कर सकता है? यह (तुम्हारा मुखचन्द्र) तो धनुष की प्रत्यञ्चा चढाने वाले मनोभव (कामदेव) के साथ उदित होता है और यह (शरद् का) चन्द्र तो कामदेव का जन्मदाता कहा गया है। (शारद चन्द्रमा को देखकर काम उत्पन्न होता है—यह आशय है।)॥ 1 ॥

इस प्रकार के पद्य में (ध्वनि नहीं होने से इसमें) निष्प्राणत्व कहा जाने लगेगा। इसलिए सुखातिशयकारण (अत्यधिक सुख का कारण) चमत्कार ही काव्य का प्राण है, यह सिद्ध हुआ।

अथैवं निर्दिष्टस्वरूपस्य काव्यस्य लक्षणमुच्यते—

लोकोत्तराह्लादकार्थः शब्दः काव्यम् ॥ सू. 7 ॥
सर्वथा विशिष्टशब्दनिष्ठमेव[1] काव्यत्वमित्यर्थः।

---

1 ० निष्ठमेव

अत्र केचित् शब्दशक्तिमूले[1] ऽर्थस्य विशेषणत्वेनार्थविशिष्ट-शब्दस्य तथार्थव्यञ्जना[2]'र्थालंकारे[3] तु तद्विशिष्टार्थस्येत्युभयनिष्ठ[4] काव्य-मित्याहु ।

तदेतन्नातिचारु लक्ष्यस्य द्वित्वापत्ते । तथाहि "विरहपाण्डु-कपोले" त्यत्र शारद इति शब्दशक्तिमूले व्यतिरेके च काव्यद्वयस्य लक्ष्यताया वाक्यार्थघटकशरीरस्य भिन्नताया निर्मूलत्वात् न चोभय-निष्ठत्व[5] नियन्तु शक्यते ।

[3अ] रागश्चक्षुषि ∧ नाधरे मृदुलता चित्ते पर नोरसि
क्रीडाकाननविभ्रमभ्रमसहान्यङ्गानि किं चिन्त्यते ।
[6]यन्माध्वीमधुमुग्धलुब्धमधुप व्यक्तीकृतस्वाशय
तत्कान्ताकुचपत्रवल्लिरचनापुष्पायित ते वच ॥ 2 ॥

इत्यादौ शब्दविशिष्टार्थस्यैव काव्यत्व शब्द एव ध्वन्यर्थ-विशिष्टताप्रतीते । यत्तु श्रवणद्वारासुखविशेषसाधन वाक्य काव्यमिति, तत्तुच्छ "पुत्रस्ते जातो", "धन ते दास्यामी" त्यादेरपि तत्त्वापत्ते ।

काव्य का लक्षण—

अब निर्दिष्टस्वरूप (जिसका स्वरूप पहले वर्णित किया जा चुका है, ऐसे) काव्य का लक्षण कहते हैं—

लोकोत्तर आह्लाद उत्पन्न करने वाले अर्थ से युक्त शब्द काव्य है ॥ सू 7 ॥

सर्वथा विशिष्टशब्दनिष्ठ ही काव्यत्व है, यह अभिप्राय है ।

यहाँ कुछ लोग (मम्मटादि) कहते हैं—"रामोऽस्मि सर्वं सहे" (मैं राम हूँ, सब सहता हूँ) इत्यादि शब्दशक्तिमूलध्वनि मे विरहातिशयसहनरूप अर्थ की विशेषणता होने से अर्थविशिष्ट शब्द को (काव्य कहते हैं) और "अयमायात काल" (यह समय आ गया है—इस वाक्य मे काल-गुण की विशेषता से भविष्य मे होने वाली अपनी विशिष्ट अवस्था की व्यञ्जना रूप) अर्थव्यञ्जना एव "प्रिये त्वदाननतुल्यश्चन्द्र" (प्रिये ! तुम्हारे मुख के समान चन्द्रमा है") ऐसे आह्लादादि

---

1 ध्वनौ "रामोऽस्मि सर्वं सहे" इत्यादौ विरहातिशयसहनरूपस्य (मू पा टि)

2 "अयमायात काल" इति कालगुणविशेषेण भविष्यत्स्वावस्थाविशेष-व्यक्ति । (मू पा टि)

3 "प्रिये त्वदाननतुल्यश्चन्द्र" इत्यत्राह्लादादि गुणव्यक्ति । (मू पा टि)

4 ० निष्ट 5 ० निष्टत्व 6 यन्माधवी ०

गुण की अभिव्यक्ति होने से अर्थालङ्कार में विशिष्ट अर्थ को (काव्य कहते हैं), इस प्रकार उभयनिष्ठ (शब्द और अर्थ दोनों में ही) काव्य कहा जाता है। (अर्थात् शब्द—शक्तिमूलक ध्वनिप्रधान काव्य में शब्द की प्रधानता-मुख्य विशेषता और अर्थ की विशेषणता और अथर्शक्तिमूलक ध्वनिप्रधान काव्य में-अर्थालकारों में अर्थ की मुख्य विशेष्यता और शब्द की विशेषणता होने से काव्य न केवल शब्दनिष्ठ अथवा न केवल अर्थनिष्ठ अपितु शब्दार्थोभयनिष्ठ है—ऐसा मम्मटादि कहते है।)

यह अधिक सुन्दर मत नहीं है, क्योंकि इससे लक्ष्य अर्थात् काव्य के दो प्रकार के होने की आपत्ति उपस्थित होती है। जैसे "विरहपाण्डुकपोल" इत्यादि उपर्युक्त श्लोक में "शारद" इस शब्दशक्तिमूलक ध्वनि तथा व्यतिरेकालङ्कार में दो प्रकार के काव्य की लक्ष्यता की आपत्ति आने पर वाक्य और अर्थरूपी घटक शरीरों की भिन्नता की निर्मूलता होने के कारण काव्य की उभयनिष्ठता का नियमन नहीं किया जा सकता। (अर्थात् काव्य उभयनिष्ठ है—ऐसा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।)

(नायक के प्रति खण्डिता नायिका का कथन—) नेत्रों में रक्तिमता है, अधरों पर नहीं। चित्त में अत्यधिक मृदुलता है, किन्तु वक्ष स्थल पर नहीं। क्रीडा रूपी कानन में भ्रमण करने के श्रम को (ही) सहन करने वाले तुम्हारे अग है। (फिर) क्या चिन्ता है? माध्वीलता के मधुरस पर मुग्ध लोभी (प्राप्ति के इच्छुक) मधुप (भ्रमर) के समान अपने आशय को व्यक्त करने वाला जो तुम्हारा वचन है वह कामिनी के स्तनयुगल पर बनी लतारचना के लिए पुष्प के समान हो गया है ॥ 2 ॥

इत्यादि श्लोक में शब्दविशिष्ट अर्थ के ही काव्यत्व होने से शब्द ही ध्वन्यर्थ-विशेष का प्रतीत कराने वाला होता है। यदि श्रवण द्वारा विशेष सुख के साधन रूप वाक्य को काव्य कहा जाये, तब तो "पुत्रस्ते जात" (तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है), "धन त दास्यामि" (तुमको धन दूगा) इत्यादि तुच्छ वाक्यों में भी काव्यत्व मानना होगा।

यदपि अदोषौ शब्दार्थौ सगुणौ क्वचिदनलङ्कृती काव्यम्। तत्र सर्वथा दोषरहितयोरेव काव्यत्वे "न्यक्कारो ह्ययमेव मे[1]" इत्यत्र विधेया-

1 न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापस
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटान् जीवत्यहो रावण।
धिग्धिक् शक्रजिता प्रबोधितवता किं कु भकर्णेन वा
*स्वर्गग्रामटिका•विलुण्ठन•वृथोच्छूनैः × किमेभिर्भुजैः॥

इति। अत्र भुजनिष्ठ वृथोच्छूनत्व विधेय तस्य च समासेन पिहितत्वात् अविमर्श अराम्बन्ध अविमृष्टविधेयाशो नाम दोष। (मू पा टि)
* स्वर्ग • ● • लुण्ठन • × • निष्ट

विमर्शदोषेऽपि ध्वनित्वेनोत्तमकाव्यत्वादव्याप्ति[1] एकान्तसम्भवश्च। "कुरङ्गनयने" त्यस्य निर्दोषशब्दार्थगुणालकारवत्त्वेन काव्यत्वापत्तिश्च। "सगुणावि"ति विशेषणानुपपत्तिश्च। तेषां[2] रसान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन स्वयमेवोक्तत्वात्काव्यधर्म्मत्वानुपपत्ते। "क्वचिदनलङ्कृती" त्य]3a]—स्योदाहरणे "य कौमारहर स एव हि वर"[3] इत्यत्र विभावना[4] विशेषोक्ति[5]मूलमन्देहसङ्करालङ्कारस्य हरो वर इति शब्दालङ्कारस्य च स्फुटप्रतीतेर्नालङ्कारतेति वक्तुमशक्यत्वात्।

मम्मट के काव्य-लक्षण पर आक्षेप—

आचार्य मम्मट ने दोष-रहित, गुणो में युक्त, कही कही अलकार मे रहित शब्द और अर्थ को काव्य कहा है (तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन क्वापि)। वहाँ पर सर्वथा दोष-रहित शब्दार्थयुगल को ही काव्य कहने पर "न्यक्कारो ह्ययमेव मे" इत्यादि श्लोक मे विधेयाविमर्शदोष होने पर भी, ध्वनि होने से उत्तम काव्य माने जाने के कारण अव्याप्ति दोष (जो लक्षण अपने अभीष्ट उदाहरणो मे भी घटित न हो) आ जाता है और सर्वथा दोषरहित काव्य असम्भव है। (विधेय का प्रधानरूप मे निर्देश न करने पर विधेयाविमर्श दोष होता है। प्रस्तुत श्लोक में भुजनिष्ठ वृथोच्छूनता विधेय है और उस विधेय के वाचक "वृथा" शब्द को समास के अन्तर्गत रखा गया है। अत वृथात्व मे उपसर्जनता-अप्रधानता लक्षित होने से यहाँ अविमृष्टविधेयांश-विधेयाविमर्श नामक दोष है।) "कुरङ्गनयना" (हरिणी के समान नेत्रवाली) इत्यादि वाक्यो मे भी दोषरहित शब्दार्थ, गुण और अलकार से युक्त होने के कारण, इन वाक्यो मे भी काव्य कहा जाने लगेगा। "सगुणौ" यह विशेषण भी युक्तियुक्त (उपपन्न) नहीं

1 ॰ व्यप्ति
2 गुणानाम् (मू पा टि)
3 य कौमारहर स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्त चोन्मीलितमालतीसुरभय प्रौढा कदम्बानिला।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेत समुत्कण्ठते॥
4 विभावना विना हेतु कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते। (मू पा टि)
5. सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्ति। (मू पा टि)

है। गुण तो रस के अन्वय-व्यतिरेक द्वारा अनुविधायी (अनुगमन करने वाले) है (अर्थात् रस हो तो गण भी रहते है, रम न हो तो गुण भी नही रहते), अत न्वय गुण का ही कथन करने से काव्यधर्मत्व की उपपत्ति नही होती (अर्थात् गुण तो रस के धर्म है काव्य के नही, अत काव्य मे उनकी स्थिति नही होती)। "क्वचिदनलङ्कृती" (कही कही अलङ्कार रहित भी) इसके उदाहरण "य कौमार-हर स एव हि वर" इत्यादि मे विभावनाविशेषोक्तिमूल सदेहसङ्कर अलङ्कार तथा "हरो वर' इसमे शब्दालङ्कार की स्फुट प्रतीति होती है, अत यहाँ अलङ्कार नही है, यह कथन कैसे किया जा सकता है ?

यच्च—

"वाक्य रसात्मक काव्यम्"

इति तदपि न। "गोपीभि सह विहरति हरिरि"त्यादि वाक्यस्य काव्यत्वापत्ते नदीवेगकपिनिपतनबाल[1]विलसितादिमहाकविवर्णन-सरम्भस्य व्याकुलतापत्तेश्च।

एतेन—

"रीतिरात्मा काव्यस्य"

इति वामनोक्तमपि न साधीय रीतेर्वाह्यगुणत्वात्।

तस्मात्साधूक्तम्—लोकोत्तराह्लाद[2]कार्थविशिष्टशब्द काव्यमिति। लोकोत्तरत्व च सुखातिशयकारण चमत्कारविशेष।

विश्वनाथ के काव्य-लक्षण पर आक्षेप—

आचार्य विश्वनाथ ने कहा है—

"रसात्मक वाक्य काव्य है।"

यह कथन भी उचित नही। क्योकि तब तो "गोपीभि सह विहरति हरि" इत्यादि वाक्यो को भी काव्य कहना होगा और नदी-वेग, बन्दर-निपतन, बाल-क्रीडाएँ आदि महाकवि द्वारा किये जाने वाले वर्णनो की परम्परा मे काव्यता बाधित हो जायेगी।

वामन पर आक्षेप—

इसी प्रकार

"काव्य की आत्मा रीति है।"

वामन का यह कथन भी रीति के बाह्यगुण होने के कारण ग्राह्य (उचित) नही है।

इसलिए उचित ही कहा गया है कि लोकोत्तर आह्लाद को उत्पन्न करने वाले अर्थ से विशिष्ट शब्द काव्य है। लोकोत्तरत्व का अभिप्राय है सुखातिशय

---

1 ० वाल ०

2 ० रहा ०

का कारण चमत्कार-विशेष (अत्यधिक सुख को उत्पन्न करने वाला विशिष्ट चमत्कार ही लोकोत्तरत्व है)।

स च त्रिधा ॥सू 8॥

तत् शब्द स्वरूपपरामर्शार्थ ।

तदुक्तम्—

सच्चिदानन्दविभवात्सकलात्परमेश्वरात्[1] ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तस्माद्बिन्दुसमुद्भव ।
नादो[2] बिन्दुश्च बीज[3] च स एव त्रिविधो मत
भिद्यमानात्पराद्बिन्दो[4] उभयात्मा[5] रवोऽ[6]भवत् ॥

स रव श्रुतिसम्पन्न शब्दब्र[7]ह्माभवत्परमिति ।

भिद्यमानादित्यान्तरस्फोटकथन[8] तथा च जन्मान्धमूलबधिरा[9]–[4अ] णाΔमन्त स्वपरामर्शात्तत्सिद्धि ।

वैयाकरणास्तु बहि स्फोट मन्यन्ते। तथाहि श्रूयमाणानुपूर्वीविशिष्ट-वर्णानामेव वाचकता । कर् कार् कुर् प्रभृतीना ऋषभो वृषभो वृष इत्यादाविव वाचकता न वेति विप्रतिपत्तौ वर्णव्यत्यासादिना[10]नुपूर्वीभग-स्यौत्सर्गिकत्वात् पूर्व केनचित्क्वचिच्छक्तिग्रहे केन कस्य स्मारणमित्यत्र विनिगमनाविरहात् प्रयोगसमवायिना सर्वेषामेव वर्णाना तथैव वाचकता, न धात्वाद्युपस्थापकानामिति वर्णस्फोट ।

---

1 मूर्त्तानिन्दात् (मू पा टि)
2 गोप प्राणेन घोषेण गुहा प्रविष्ट इत्युक्ते (मू पा टि)
3 प्रणव सर्ववर्णप्रभवत्वात् (मू पा टि)
4 त्रिवृत्प्रणवात् (मू पा टि)
5 ध्वनिवर्णरूप (मू पा टि)
6 शब्द (मू पा टि)
7 0 ब्र 0
8 प्राणवायुप्रेरणयाभिव्यक्तिरन्यया नाभिव्यक्तिरित्यभिमतत्या शब्दार्थमय आन्तर स्फोट (मू पा टि)
9 जातान्धमूकबधिरस्यान्त स्वीयपरामृशि ।
स्ववाक्शब्दार्थयोर्बोध आन्तर स्फोट एव स ॥ इति (मू पा टि)
10 वैपरीत्येन (मू पा टि)

शब्द का स्वरूप—

वह (शब्द) तीन प्रकार का है ।।सू 8।।

यहाँ 'तत्' का अभिप्राय है–'शब्द' । उसी शब्द का स्वरूप अब बताया जा रहा है । यह कहा गया है—

सत्, चित् और आनन्द के धनी, सम्पूर्ण (मूर्तानन्द रूप) परमेश्वर से "शक्ति" उत्पन्न हुई । उसके बाद "नाद" और उससे "बिन्दु" का समुद्भव हुआ । नाद, बिन्दु और बीज (सर्ववर्णों का प्रभवरूप प्रणव)—इन तीनों रूपों से वह (परमेश्वर) त्रिविध माना गया है । उस पर रूप (त्रिवृत् प्रणव रूप) बिन्दु के भिद्यमान होने पर दो प्रकार का (उभयात्मा) अर्थात् ध्वनि और वर्णरूप रव (शब्द) उत्पन्न हुआ ।

वह रव (शब्द) श्रुति सम्पन्न होकर शब्दब्रह्म बन गया ।

स्फोट—

"भिद्यमान होने पर" इस शब्द से "आन्तर स्फोट" का कथन अभिप्रेत है । जन्मान्ध, मूक एवं बधिर लोगों द्वारा अपने अन्त करण के भीतर आत्म-परामर्श के माध्यम से उसकी (आन्तर स्फोट की) सिद्धि होती है । (प्राणवायु की प्रेरणा से शब्द की अभिव्यक्ति होती है, अन्यथा अभिव्यक्ति नहीं होती–इस नियम से होने वाली अभिव्यक्ति से मनुष्य के भीतर जो शब्दार्थमय स्फोट होता है, उसे आन्तर स्फोट कहते हैं । जन्मान्ध, गूंगे और बहरे लोगों के भीतर ही स्वीय परामर्श करने वाले अन्त करण मे अपनी स्वय की वाणी के शब्दार्थों का जो बोध होता है, वही आन्तर स्फोट कहलाता है ।

वैयाकरण तो बाह्य (बहि) स्फोट मानते हैं । उनके मत मे सुने जा रहे वर्णों के पूर्वापर क्रम विशिष्ट वर्णों की ही वाचकता होती है । "कर् कार् कुर्" इत्यादि (निरर्थक पदो) की "ऋषभ वृषभ वृष" इत्यादि (सार्थक पदों) की तरह वाचकता होती है या नही, यह विप्रतिपत्ति(बाधा) उपस्थित होने पर वर्ण की विपरीतता मे आनुपूर्वीभग की औत्सर्गिकता (सामान्य नियम) के कारण पहले किसी के द्वारा कहीं पर शक्तिग्रहण करने पर जिसके द्वारा जिसका स्मरण कराया जा रहा है, इस तर्कयुक्ति के अभाव मे प्रयोग के समवायी सभी वर्णों की वैसी ही वाचकता होगी, न कि धातु आदि के उपस्थापक वर्णों की यह वर्ण स्फोट कहलाता है । (भाव यह है कि वर्णावयव-विभागरहित अखण्डवर्ण ही वर्ण-स्फोट कहलाता है । वह नित्य है ।)

एव "हरिणा हरये रामात्" इत्यादौ परिनिष्ठिते रूपेंऽशविभागा-भावाद्द्रव्यकरणादिवाचकताया नियन्तुमशक्यत्वात् सम्पूर्णं हरिणेत्यादि पदमेव करणत्वादि-विशिष्टवाचकमिति पदस्फोट ।

दधीद हरेऽव कृष्णैंहि रक्षैनमित्यादावपि विनिगमनाविरहतौल्या-द्वाक्यमेव विशिष्टार्थे शक्तमिति वाक्यस्फोट ।

पूर्वपूर्ववर्णोच्चारणाऽभिव्यक्ततत्तत्संस्कारसहकृतचरमरसवर्णसंस्कार-निष्ठपदजन्यैक पदार्थप्रत्यायकता । तथैव चरमपदसंस्कारनिष्ठवा-[4व] क्यजन्यैकवाक्यार्थप्रत्यायकतेति पदवाक्योर्विवेक इति गौडा ।

एव पदाभिव्यङ्ग्यो वाक्याभिव्यङ्ग्यो वाऽखण्डो व्यक्तिस्फोटो वाह्य इति । चकार प्रागुक्त विशिष्टार्थबोधक । तादृशस्य पदवाक्यादि-रूपस्य काव्यत्वाभावात् लोकोत्तराह्लादकार्थविशिष्टस्य तु काव्यत्वमप्रत्यूहम् एतेन पदवाक्यस्वरूपमुक्तम् । तथाहि पद्यते गम्यतेऽर्थो अनेनेति साधुपदम् । साधुत्व च अनादिवृत्तिप्रमाप्रयोज्यार्थप्रतिपादकत्वम् । वृत्तिभ्रमेणार्थप्रत्या यकत्वमसाधुत्वम् । विशिष्टैकार्थप्रतिपादकनिराकाक्षपदसमूहो वाक्यम् । एकार्थत्व भिन्नप्रतीतिविषयानेकमुख्यविशेष्यराहित्यमिति गागाभट्ट ।

इसी प्रकार "हरिणा हरये रामात्" इत्यादि परिनिष्ठित (सुनिश्चित) स्वरूप मे अश का विभाग नही होने से द्रव्य, करण आदि की वाचकता का रोकने मे असमर्थ होता है, अत सम्पूर्ण "हरिणा" आदि पद ही करणत्वादि विशिष्ट-वाचक होता है, यही पदस्फोट है ।

'दधीदम्' (यह दही है), 'हरेऽव' (हे हरे ! रक्षा करो), 'कृष्णैंहि' (कृष्ण ! आओ), 'रक्षैनम्' (इसकी रक्षा करो), इत्यादि म भी विनिगमना (तर्क) के अभाव की तुल्यता से वाक्य ही विशिष्ट अर्थ मे समर्थ है, यह वाक्य-स्फोट है ।

पूर्व-पूर्व वर्णों के उच्चारण से अभिव्यक्त, उस उस सस्कार से सहकृत अन्तिम वर्ण मे सस्कारनिष्ठ पदजन्य एक पदार्थ की प्रतीति होती है (पूर्व-पूर्व वर्णों के उच्चारण से एक प्रकार का सस्कार उत्पन्न होता है । उस सस्कार से सहकृत अन्त्य वर्ण के श्रवण से तिरोभूत वर्णों को ग्रहण करने वाली, एक मानसिक पद के अर्थ की प्रतीति होती है, उसी को पद-स्फोट कहते हैं) । उसी प्रकार अन्तिम पद के सस्कार से युक्त वाक्य से उत्पन्न एक वाक्यार्थ की प्रतीति होती है । इस प्रकार पद तथा वाक्य का ज्ञान होता है, यह गौडो का मत है ।

इस प्रकार पदाभिव्यङ्ग्य अथवा वाक्याभिव्यङ्ग्य अखण्ड व्यक्ति-स्फोट बाह्य है । इसलिये ('स च त्रिधा" मे प्रयुक्त) "चकार" पूर्व-कथित विशिष्टार्थ का बोधक है । उस प्रकार के पदवाक्यादि रूप मे काव्यत्व का अभाव होता है, अतएव लोकोत्तराह्लादकार्थ विशिष्ट मे ही काव्यत्व है यह निर्विवाद है । इससे पदवाक्य का स्वरूप कहा गया है जैसे "पद्यते गम्यतेऽर्थो अनेनेति साधुपदम्"

(जिसके द्वारा अर्थ जाना जाता है, वह साधुपद होता है)। अनादिवृत्ति (अभिधा शक्ति) से होने वाले प्रमा(यथार्थ ज्ञान) से प्रयोज्य (लभ्य) अर्थ का प्रतिपादकत्व ही साधुत्व है। वृत्ति(शक्ति) के भ्रम से अर्थ की प्रतीति कराना ही असाधुत्व है। विशिष्ट एकार्थ के प्रतिपादक अपने आप मे निराकाक्ष (सार्थक किन्तु स्वतन्त्र) पदो का समूह वाक्य है। और एकार्थत्व है–भिन्न प्रतीत विषयो के अनेक मुख्य विशेष्यो का न होना। (एक मुख्य विशेष्य-कर्ता का होना साधुवाक्य का लक्षण है।) यह गागाभट्ट का कथन है।

त्रिधेति–

वाचकलाक्षणिक व्यजकभेदात् ।

धत्ते सङ्केतमग्राद्य ।

पदपदार्थयो शब्दबोधानुकूल सम्बन्ध सङ्केत । घटादित्वबोधे घटादिसङ्केतो घटत्वादिबोधक । तथाहि घटमानयेति प्रयोजितस्य कम्बुग्रीवादिमत् व्यक्तिविशेषानयनव्यापारेणागृहीतसङ्केतो[1] घटशब्दस्य तादृग्व्यक्तिविशेषे शक्तिम [5अ] अवधारयति। ततश्च पटमानयेत्युक्ते तदानयनव्यापारेण तद्विजातीयव्यक्तिविशेषे पदशब्दशक्तिरितिप्रतिपद्यते। पुनर्घटान्तर पटान्तर चानयेत्युक्ते पूर्वानीतविलक्षणौ घटपटावानयति मध्यमवृद्धे बाल सशेते न घटपटशब्दौ व्यक्तिविशेषविषयसङ्केतौ, यत एतौ विलक्षणौ। तेनास्ति कश्चिदसाधारणोधर्म्म [2] यद्वशादनुगताकारावगाहिज्ञान जन्यते इति जानावेव सङ्केतमवधारयति।

शब्द के तीन भेद–

("स च त्रिधा" मे प्रयुक्त) "त्रिधा" का अभिप्राय है-वाचक, लाक्षणिक तथा व्यजक भेद से शब्द तीन प्रकार का है।

इसमे से प्रथम (अर्थात् वाचक पद) सकेत को धारण करता है (अर्थात् सङ्केतित अर्थ को धारण करने वाला प्रथम वाचक शब्द होता है)।

सकेत—

पद और पदार्थ मे शब्द और उसके बोध के अनुकूल होने वाला सम्बन्ध सकेत है। घटादित्व के बोध मे घटादि का सकेत घटत्वादि का बोध कराने वाला होता है। जैसे-(वृद्ध व्यक्ति द्वारा) "घट ले आओ" इस प्रकार कहने पर (मध्यम वृद्ध द्वारा

---

1 बाल (मू पा टि)

2 तद्भिन्नभिन्नायिकरणावर्तित्वसमाधारणत्व यथा गो सास्नादिमत्त्वम्। (मू पा टि)

लाये गये) कम्बुग्रीवादियुक्त व्यक्तिविशेष के लाये जाने के व्यापार से, इस सकेत को (पहले से) ग्रहण न किया हुआ बालक घटशब्द से उस प्रकार के व्यक्तिविशेष म शक्ति को धारण करता है । उसके पश्चात् 'पट ले आओ" इस प्रकार कहे जाने पर, उसके लाये जाने के व्यापार से, उस (घट) मे भिन्न जाति के व्यक्ति-विशेष मे पट शब्द की शक्ति (सकेतग्रह) होती है, इस बात को जानता ह । पुन "अन्य घट को और अन्य पट को ले आओ" इस पकार कहे जाने पर (मध्यमवृद्ध) पहले लाये हुए घट और पट मे भिन्न (विलक्षण) घट और पट को लाता है, तब बालक सशय करता है कि घट और पट शब्द व्यक्तिविशेष सकेत के विषय नही हैं, क्योकि ये इन दोनो (घट और पट) से भिन्न (विलक्षण) हैं । अत कोई असाधारण धर्म है जिसके कारण अनुगताकारावगाहिज्ञान (शब्दानुगामी आकार को उत्पन्न करने वाला ज्ञान) उत्पन्न होना है । (उससे भिन्न भिन्न अधिकरणो मे रहने का भाव ही असाधारणत्व है । जैसे साम्नादिमान् होना ही गौ है ।) अत समझा जाता है कि जाति मे ही सकेतग्रह होना है ।

रूढयौगादिना त्रिधा ॥ सू 9 ॥

रूढो यौगिको योगरूढश्च । रूढ केवलसमुदायशक्ति, यथा मडप वृक्ष । यौगिक केवलावयवशक्ति यथा भ्राति । समुदाया-वयवशक्तिसकीर्णस्तृतीय, यथा पङ्कजादय, पङ्कजनि डप्रत्यये पङ्कजनिकर्त्रभिधायकेन योगेन रूढ्या पद्मोपस्थिते ।

अत्रेदमवधेय प्रकृतिशक्ति प्रकृत्यर्थपरा, सख्याकारकत्वोपरक्तप्रकृ-त्यर्थपरा प्रत्ययशक्ति, सख्याकर्तृकर्मभावोपरवर्त्तमानादिकालपरा [5अ] तिङ्शक्ति । उपसर्गास्तु धात्वर्थभेदका अभिहार, आहार, समभिव्याहार, उणादिप्रत्यये न योगो, रूढ एव । समासशक्तिर्बहुव्री-हेरन्यपदार्थे उभयपदप्रधाना कर्मधारयस्य, उत्तरपदप्रधाना तत्पुरुषस्य, अव्ययाशेऽव्ययीभावस्य नञर्थप्रधाना नञ्, प्रत्येकपदप्रधाना द्वन्द्वस्य, एकशेषे तु लक्षणैव वाचकस्यापि समासवद्भावे लाक्षणिकत्वात् । यथा कैवर्त्तवाचके धीवरे धियावर इति सुबुद्धिप्रत्यय[1] इति ।

वाचक शब्द के प्रकार

रूढयौगादि (रूढयौगिक और योगरूढ) भेद से वाचक शब्द तीन प्रकार का होना है ॥सू 9॥

---

1 प्रतीनि (मू पा टि)

(वाचक शब्द तीन प्रकार का है—) रूढ, यौगिक और योगरूढ । रूढशब्द केवल समुदायशक्ति (परम्परागत) से युक्त होता है, जैसे मडप शब्द या वृक्ष शब्द । यौगिक शब्द केवल अवयव-शक्ति (शब्दो की व्युत्पत्ति से युक्त होता) है, जैसे–भ्रान्ति शब्द (भ्रम्-वाचक भ्रमु धातु मे "क्तिन्" प्रत्यय होने पर भ्रम-अर्थ का बोधक है) । समुदाय और अवयव शक्ति से मिलकर (रूढ-परम्परागत और यौगिक—शब्दव्युत्पत्ति के अनुरूप, इन दोनो से मिलकर) बना तीसरा सकीर्ण भेद है, जैसे पङ्कज आदि शब्द । "पङ्क" शब्दपूर्वक "जन्" धातु से "ड" प्रत्यय लगाकर, पङ्क मे उत्पन्न होने वाले कर्तृ पद का वाचक होने के कारण योग और रूढि मे पङ्कज (पद्म, कमल) अर्थ उपस्थित होता है ।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि (प्रकृति-प्रत्यय मे) प्रकृति की शक्ति प्रकृति की अर्थपरक होती है । प्रत्ययशक्ति सख्या और कारकत्व से उपरक्त (सम्बद्ध) प्रकृति की अर्थपरक होती है और तिङ् शक्ति सख्या, कर्ता कर्म (सकर्मक) और भाव (अकर्मक) से उपरक्त वर्तमान आदि कालपरक होती है । उपसर्ग तो धातु के अर्थ का भेदन करने वाले है, जैसे—अभिहार, आहार और समभिव्याहार शब्दो मे भिन्न-भिन्न उपसर्गों के कारण अलग-अलग अर्थों का बोध होता है । उणादिप्रत्ययान्त शब्द यौगिक (धातुज या व्युत्पन्न) नही होते, वे रूढ (अव्युत्पन्न) ही होते है । समासशक्ति बहुव्रीहि की अन्य पदार्थ मे, कर्मधारय की उभयपद-प्रधान, तत्पुरुष की उत्तरपदप्रधान, अव्ययीभाव की (उसके पूर्व अश) अव्यय मे, नञ् समास मे नञर्थप्रधान और द्वन्द्व की समासशक्ति प्रत्येक पदप्रधान होती है । एकशेष मे लक्षणा ही होती है क्योंकि वाचक शब्द भी समासवद् भाव मे (समासयुक्त हो जाने पर) लाक्षणिक हो जाता है । जैसे–कैवत (केवट) के वाचक धीवर शब्द मे "धिया वर" (बुद्धि से श्रेष्ठ) व्युत्पत्ति से सुबुद्धि की प्रतीति होती है ।

अभिधाशक्तिरेतस्या[1]भिधेय । स चतुर्विध जातिर्गुण क्रिया द्रव्यम ।
॥ सू० 10 ॥

अभिधा पदार्थान्तर सकेतग्राह्यमिति कश्चित् ।

शक्यान्तरानन्तरित शब्दस्यार्थगतोऽर्थस्य वा शब्दगत सम्बन्धविशेष-एवाभिधा ।

यस्य[2] यस्मिन्वेय सोभिधेय । तत्र गोत्व जाति । व्यक्तेरानन्त्या-

---

1 वाचकस्य (मू पा टि)
2 शब्दस्यार्थेऽर्थस्य वा शब्दे (मू पा टि)

द्व्यभिचाराच्च[1] जातिरेव शब्दार्थ । अतएव सास्नादिमान् धर्मो गौर्न[2] गौर्नागौर्गोजातिसबद्ध एव गौ । शुक्लत्वादिसामान्य[3]सबद्ध शुक्लादिरेव गुण, एव चलनाद्या क्रिया, डित्थादि द्रव्यम् ।

तत्र वक्त्रा स्वेच्छया चरमवर्णाभिव्यङ्ग्योऽखण्डस्फोट एव शब्द-[6अ] प्रवृत्तिनिमित्तत्वेन सन्निवेशितो धर्मविशेष इति यावत् जातिरेव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् ।

व्यक्त्याश्रितो जातिस्तादृशसूत्राच्च जात्याकृतिव्यक्तय पदार्थ इति मतान्तरम् ।

अघटव्यावर्तको घट इत्यतद्व्यावृत्तिरेवेति सौगता ।

अभिधा शक्ति—

अभिधा शक्ति वाचक शब्द का अभिधेय है। वह अभिधेय जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य भेद से चार प्रकार का होता है ॥ सू 10 ॥

अभिधा पदार्थान्तर (स्वतन्त्र या भिन्न पदार्थ) है, जिसका सकेत द्वारा ग्रहण होता है, यह किसी का (वैयाकरण तथा मीमासक का) मत है। (नैया-यिक ईश्वरेच्छा-रूप सकेत को अभिधा वृत्ति या शक्ति कहते है। परन्तु मीमासक तथा वैयाकरण कुछ भिन्न दृष्टिकोण के साथ शक्ति को एक स्वतन्त्र पदार्थ के रूप मे स्वीकार करते हैं, जो सकेत अर्थात् ईश्वर-इच्छा रूप नही है, अपितु सकेत-ग्राह्य है। पद और पदार्थ के सम्बन्ध को वैयाकरण अभिधा कहते हैं। इसे वाच्य-वाचक-भाव कहा जाता है। यही पदार्थान्तर है।)

अभिहित (शब्दार्थ) से सम्बद्ध समीपवर्ती शब्द का अर्थगत (अर्थ मे रहने वाला) अथवा अर्थ का शब्दगत (शब्द मे रहने वाला) कोई सम्बन्धविशेष ही अभिधा कहलाता है।

---

1 आनन्त्यादिति सर्वासा व्यक्तीनामनुपस्थिते सामान्यलक्षणानङ्गीकृतेरिति भाव । व्यभिचारादिति असकेतितव्यक्तावपि प्रतीतिदर्शनाद्व्यभिचार इत्यर्थ । (मू पा टि)

2 गौर्गोपदोद्देश्यो धर्म्मो । स्वरूपेणोपाधिरहितव्यक्तिमात्रेण न गौर्न गोव्यव-हारहेतु । तदा घटोपि गौ स्यात्स्वरूपाविशेषात् । नाप्यगौ । न गोभेदव्यवहारप्रयोजक । तदा गौरप्यगौ स्यात् । व्यवहारप्रयोजकमाह गोजानीति (मू पा टि)

3 जाति (मू पा टि)

सकेतग्रह का विषय—

जिसको या जिसमे (शब्द की अर्थ मे अथवा अर्थ की शब्द मे) यह (अभिधा) होती है, वह अभिधेय है। इसमे गोत्व जाति ही अभिधेय है। व्यक्ति मे सकेतग्रह मानने पर आनन्त्य तथा व्यभिचार दोष आ जाने के कारण जाति ही शब्दार्थ है। (आनन्त्य-दोष का अभिप्राय है कि जिस शब्द का जिस अर्थ मे सकेत-ग्रह होता है, उस शब्द से उसी अर्थ की प्रतीति होती है, यह एक सामान्य नियम है। अत व्यक्ति मे सकेतग्रह मानने पर व्यक्तिविशेष की ही उपस्थिति होगी। इस सामान्य लक्षण को अगीकार किये बिना सभी व्यक्तियों की उपस्थिति नहीं हो सकती। अत प्रत्येक व्यक्ति के लिये अलग-अलग शक्तिग्रह मानने पर अनन्त-शक्तियों की कल्पना करनी होगी, यही आनन्त्य दोष है। व्यभिचार-दोष का अभिप्राय है कि यदि दो-चार व्यक्तियों मे सकेतग्रह मानकर शेष का बोध बिना सकेतग्रह के ही मान लिया जाये तो असकेतित व्यक्ति मे भी अर्थ की प्रतीति होने लगेगी, जिससे नियम का उल्लघन होगा।) अतएव सास्नादिमान् धर्मी गौ (उपाधिरहित व्यक्तिमात्र स्वरूप से) न गौ होती है, न अगौ, अपितु गोजाति से सम्बद्ध होने से ही गौ कहलाती है। (गौ पद द्वारा उद्देश्यधर्मी ही गौ है। अपने स्वरूप मे उपाधिरहित व्यक्तिमात्र से न गौ है, न गोव्यवहार का हेतु है। स्वरूप-विशेष न होने पर तो घट भी गौ माना जाता है। "नाप्यगौ" का अभिप्राय है कि गौ शब्द उससे भिन्न वस्तुओ के भेद का व्यवहार-प्रयोजक नहीं है, अत गौ भी अगौ हो जायेगी। अत गोजाति ही व्यवहार-प्रयोजक है।) शुक्लत्वादि सामान्य (जाति) से सम्बद्ध ही शुक्ल आदि गुण होते हैं। इसी प्रकार चलनादि क्रिया है। डित्थ आदि द्रव्य होते है।

यहाँ वक्ता की स्वेच्छा से (स्फोट की प्रक्रिया के अनुसार पूर्व-पूर्व वर्णानुभव-जनितसस्कारसहकृत) चरम (अन्तिम) वर्ण (के श्रवण) से अभिव्यड्ग्य (बिना क्रम के बुद्धि मे एक साथ उपस्थित होने वाला) अखण्ड-स्फोट ही शब्द का प्रवृत्ति-निमित्तत्व होता है, अत शब्द मे सनिवेशित धर्मविशेषरूप जाति को ही शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त मानना चाहिये।

जाति व्यक्ति के आश्रित (व्यक्ति मे रहने वाली) है, (व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थ —न्यायसूत्र) इस सूत्र के आधार पर जाति और आकृति मे विशिष्ट व्यक्ति ही पद का अर्थ होता है, यह अन्य (नैयायिकों का) मत है।

अघट का व्यावर्तक ही घट है अत अतद्व्यावृत्ति (अपोह) ही शब्द का अर्थ है, यह बौद्धो का मत है। (बौद्धो के मत मे समस्त पदार्थ क्षणिक हैं। वे लोग "सामान्य" जैसे नित्य पदार्थ को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार अनुगत

प्रतीति का कारण "अपोह" है। "अपोह" शब्द का अर्थ है—"अतद्-व्यावृत्ति" या "तद्भिन्नभिन्नत्व", प्रत्येक घट अघट अर्थात् घटभिन्न सभी वस्तुओं से भिन्न है, अतः उसमे "घट घट" यह सामान्य प्रतीति होती है। यह "अपोह"—"अतद्-व्यावृत्ति" ही शब्द का अर्थ है।)

लक्षणारोपिता क्रिया ॥ सू 11 ॥

तदुक्तम्—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिताक्रिया ॥ इति ॥

सा च शक्यतावच्छेदकधर्म्मभिन्नधर्म्मावच्छिन्नबोधजनिका पुरुषेच्छा, शक्यार्थसम्बद्धप्रतिपादिका शब्दवृत्तिर्वा। यथा—"गङ्गाया घोष"।

शुद्धा गौणी च सा ॥सू 12 ॥

सा लक्षणा शुद्धा गौणी च द्विधा। सादृशान्यशक्यसम्बन्धरूपा शुद्धा यथोक्ता। स्वशक्येन सह नियमरूपा व्याप्तिरित्ययुक्तम्, "कुन्ता प्रविशन्ति" "मञ्चा क्रोशन्ती" त्यादौ लक्षणाप्रयोगात्। सादृश्यात्मशक्यसम्बन्धरूपा गौणी। यथा—"मुख चन्द्र इव"। प्रोक्ते ते चोपादानलक्षणे। ते शुद्धा गौणी च।

तत्र उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणा चेति द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा ॥ सू 13 ॥

सारोपाध्यवसाने च प्रत्येक द्विविधे ॥ सू 14 ॥

[6ब] गौणी सारोपा साध्यवऽसाना चेति द्विधा।

लक्षणा—

शब्द का आरोपित व्यापार लक्षणा कहलाता है ॥ सू 11 ॥

इसलिए (काव्यप्रकाशकार का) कथन है—

मुख्यार्थ का बाध होने पर मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ या अन्य अर्थ का सम्बन्ध होने पर रूढि अथवा प्रयोजन-विशेष से जिस शब्द-शक्ति के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है शब्द का वह आरोपित व्यापार लक्षणा कहलाता है।

वह लक्षणा अभिहित (शब्दार्थ के) परिचायक धर्म से भिन्न धर्म-विशेष का ज्ञान उत्पन्न करने वाली व्यक्ति की इच्छा है। अथवा शक्यार्थ (अभिहितार्थ) से सम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाली शब्दवृत्ति है। जैसे—"गङ्गाया घोष" (गङ्गा के ऊपर घोष-अहीरो की बस्ती है)।

लक्षणा के शुद्धा और गौणी दो भेद—

वह (लक्षणा) शुद्धा तथा गौणी (भेद से दो प्रकार की) होती है ॥ सू 12 ॥

वह लक्षणा दो प्रकार की है—शुद्धा और गौणी। वाच्यार्थ का सादृश्य सम्बन्ध से भिन्न समीप्य आदि रूप सम्बन्ध होने पर शुद्धा लक्षणा होती है, जैसा कि मम्मटादि ने कहा है। अपने अभिधेयार्थ-मुख्यार्थ (शक्य) के साथ नियमरूपा व्याप्ति—जो कहा जाता है वह अयुक्त है। "कुन्ता प्रविशन्ति" (भाले घुस रहे हैं) और "मञ्चा क्रोशन्ति" (मञ्च चिल्लाते हैं) इत्यादि वाक्यों में (शुद्धा) लक्षणा का प्रयोग हुआ है। सादृश्यपरक अभिधेय (शक्य) से सम्बन्ध होने पर गौणी लक्षणा होती है। जैसे "मुखं चन्द्र इव" (मुख चन्द्रमा के समान है)। इन कहे गये उदाहरणों में ("कुन्ता प्रविशन्ति" और "मञ्चा क्रोशन्ति" उदाहरण) शुद्धा के भेद उपादान लक्षणा के हैं और ("मुखं चन्द्र इव" उदाहरण) गौणी लक्षणा का है।

शुद्धा लक्षणा दो प्रकार की कही गयी है—(1) उपादान लक्षणा और (2) लक्षण-लक्षणा ॥ सू 13 ॥

(शुद्धा और गौणी दोनों में से) प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं—(1) सारोपा और (2) साध्यवसाना ॥ सू 14 ॥

गौणी लक्षणा सारोपा तथा साध्यवसाना भेद से दो प्रकार की ही है। (शुद्धा लक्षणा के चार भेद हो जाते हैं—(1) उपादान लक्षणा (2) लक्षण-लक्षणा (3) सारोपा लक्षणा और (4) साध्यवसाना लक्षणा।)

तत्र स्वार्थं पराक्षेपवती उपादानलक्षणा। यथा—"यष्टयः प्रविशन्ति"।

परार्थं स्वार्थवत्यपरा[1]। यथा—"गङ्गायां घोषः"।
अनिगीर्णविषया[2] सारोपा। यथा—"गौर्वाहीकः"।
निगीर्णविषया साध्यवसाना। यथा—"गौरयम्"।

कार्यकारणभावसम्बन्धपूर्वकमारोपाध्यवसानं क्वचित्, यथा—"आयुर्घृतम्", "आयुरेवेदम्"। क्वचित्तादर्थ्यादपि, यथा इन्द्रार्था स्थूणा "इन्द्रः"। स्वस्वामिभावसम्बन्धात्, यथा—राज्ञः पुरुषो "राजा"। अवयवावयविभावसम्बन्धात्, यथा "अग्रहस्त"[3]। तात्कर्म्यात्, यथा अतक्षा "तक्षा"।

---

1 लक्षणलक्षणा (मू पा टि)

2 समानाधिकरण्येन विषयिविषयनिर्देशवती (मू पा टि)

3 ० स्व ० 4 ० स्व ०

5 निगीर्णविषयायां हस्त इति (मू पा टि)

शुद्धा उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा—

अपने अर्थ (अन्वय) की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप करने वाली उपादान लक्षणा है। जैसे—"यष्टय प्रविशन्ति"—"लकडियाँ प्रवेश कर रही हैं"। (यष्टियाँ अचेतन होने से प्रवेश-क्रिया सम्भव नहीं है, अत इस क्रिया की सिद्धि के लिए अपने से सयुक्त यष्टिधारी पुरुषो का आक्षेप किया जाता है, अत उपादान लक्षणा है।)

दूसरे पदो के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का परित्याग कर देने वाली दूसरी लक्षण-लक्षणा है। जैसे—"गङ्गाया घोष" "गङ्गा के ऊपर घोष है।" (इस वाक्य मे प्रयुक्त हुए घोष के अधिकरणत्व की सिद्धि के लिए गङ्गा शब्द अपने जल-प्रवाहरूप मुख्य अर्थ का परित्याग कर देता है, अत लक्षण-लक्षणा है।)

गौणी सारोपा-साध्यवसाना लक्षणा—

अनिगीर्णविषया-विषयी (आरोप्यमाण, उपमान) के द्वारा आरोप-विषय (उपमेय) जहाँ निगीर्ण नही किया गया है, अर्थात् जहाँ आरोप्यमाण (उपमान) और आरोप (विषय, उपमेय) का शब्दश समानाधिकरण्य से निर्देश किया जाता है, वह सारोपा लक्षणा होती है। जैसे—"गौर्वाहीक" "वाहीक देश का वासी पुरुष गौ है"। (यहा गौ आरोप्यमाण और वाहीक आरोपविषय हैं। इस वाक्य मे दोनों का समानाधिकरण्य से शब्दश प्रतिपादन किया गया है, अत सारोपा लक्षणा का उदाहरण है। सादृश्यमूलक होने से यहाँ गौणी लक्षणा है।)

निगीर्ण-विषया-विषयी (आरोप्यमाण, उपमान) के द्वारा आरोप-विषय (उपमेय) का निगीर्ण किये जाने पर साध्यवसाना लक्षणा होती है। जैसे—"गौरयम्"— 'यह गौ है"। (यहाँ आरोपविषय वाहीक का शब्दश कथन नही है। आरोप्यमाण गौ के द्वारा उसका निगीर्ण कर लिया गया है अत साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण है। सादृश्यमूलक होने से यहाँ भी गौणी लक्षणा है।)

शुद्धा सारोपा-साध्यवसाना लक्षणा—

कहीं पर कार्य-कारणभाव-सम्बन्धपूर्वक आरोप और अध्यवसान होते हैं। जैसे—"आयुर्घृतम्"—"घी आयु है", "आयुरेवेदम्"—"यह (घी) आयु ही है"। ('आयुर्घृतम्" मे आरोप्यमाण आयु और आरोप-विषय घृत दोनो शब्दत उपात्त होने से शुद्धा-सारोपा है और "आयुरेवेदम्" मे आरोप-विषय घृत के शब्दत उपात्त नही होने से शुद्धा सारोपा है।) यह लक्षणा कही "तादर्थ्य" (उसके लिए होने) से (अन्य के लिये अन्य के वाचक शब्द के प्रयोग से) होती है।

जैसे—(यज्ञ मे) इन्द्र (पूजन के लिए बनायी गयी) स्थूणा भी "इन्द्र" कहलाती है। कहीं "स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध" से (अन्य शब्द का प्रयोग होता है), जैसे—राजा का (विशेष कृपापात्र) पुरुष भी 'राजा" कहा जाता है। कहीं अवयवावयविभाव सम्बन्ध से (औपचारिक शब्द का प्रयोग होता है), जैसे—"अग्रहस्त"—हाथ के केवल आगे के भाग के लिए हाथ शब्द का प्रयोग होता है। और कहीं तात्कर्म्य सम्बन्ध (उस कर्म के करने के कारण) से (औपचारिक प्रयोग द्वारा) होता है। जैसे—(बढई का काम करने वाले) अतक्षा (बढई से भिन्न ब्राह्मण आदि के लिये) "तक्षा" (बढई) शब्द का प्रयोग होता है।

पुन —

अव्यङ्ग्या सा भवेद्रूढौ सव्यङ्ग्या तु प्रयोजने ॥सू 15॥

समस्ता[1]ऽपि रूढे प्रयोजनाद्वा। तत्र रूढौ अव्यङ्ग्या, यथा—"कर्म्मणि कुशल[2]" दक्षे रूढ। प्रयोजने तु व्यङ्ग्यस्य गूढत्वागूढत्वाभ्या द्विधा। तत्र गूढव्यङ्ग्या यथा—

कृतमज्जन सुधायामुत्कीर्णं शारदेन्दुकान्तिभ्य।
विकसित[3]हसित बालावदन मदकारि मदनस्य ॥ 3 ॥

[7अ] अत्र कृतमज्जनोत्कीर्णविकसि[4]ताना व्यङ्ग्य गूढम्।
अगूढव्यङ्ग्या यथा—

अवधूतालककुसुम हुङ्कृतिपर्यस्तवेल्लितदृगन्तम्।
सुरतक्रीडितमबला पठन्ति झटिति स्मरादेव ॥ 4 ॥

अत्र पठन्तीत्यगूढम्।

एव लाक्षणिको वृत्या तात्पर्यानुपपत्तिज ॥ सू 16 ॥

वृत्या लक्षणया, तात्पर्यानुपपत्तिरन्वयानुपपत्तिर्वा लक्षणाबीजम्।

रूढि लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा—

पुन —

वह (लक्षणा) रूढि (गतभेद) मे व्यङ्ग्य से रहित और प्रयोजनवती लक्षणा मे व्यङ्ग्य-सहित होती है ॥ सू 15 ॥

सभी लक्षणा रूढि अथवा प्रयोजन से होती है। रूढिगत लक्षणा व्यङ्ग्य से रहित होती है। जैसे—"कर्मणि कुशल" (अर्थात् चित्रकर्म आदि किसी विशेष) "काम में कुशल है", (यहाँ कुशल शब्द) दक्ष रूप अर्थ मे रूढ है। (कुशल की

---

1 लक्षणा (मू पा टि) 2 ननु कुश लातीति योगरूढि (मू पा टि)
3 ० शि ० 4 ० शि ०

योग-रूढ़ि है—ननु कुश लाति इति)। व्यङ्ग्य के गूढ (दुर्ज्ञेय, सहृदयैकगम्य) और अगूढ (स्पष्ट, सर्वजनसवेद्य) होने से प्रयोजनवती लक्षणा दो प्रकार की होती है। यहाँ गूढ व्यङ्ग्य का उदाहरण है—

अमृत मे स्नान किया हुआ, शरद ऋतु के चन्द्रमा की कान्तियो से विकसित हास्य-युक्त वाला का मुख कामदेव के भी मद को उत्पन्न करने वाला है ।। 3 ।।

यहा कृत-मज्जन, उत्कीर्ण और विकसित पदो का व्यङ्ग्य गूड है। अगूढ-व्यङ्ग्य जैसे—

अवनाएँ ऐसी सुरत-क्रीडा कामदेव मे शीघ्र ही पढ लेती है, जिसमे अलको मे गुँथे कुसुम हिलकर बिखरते हैं तथा मधुर हुङ्कनियो से नेत्रो के कोर चचल हो उठते हैं ।। 4 ।।

यहाँ "पठन्ति" (पढ लेती है) पद अगूढ है।

इस प्रकार लक्षणावृत्ति के द्वारा "तात्पर्यानुपपत्ति" से उत्पन्न होने वाला शब्द लाक्षणिक है (अर्थात् "तात्पर्यानुपपत्ति" लक्षणा का बीज है और लक्षणा का आश्रयभूत शब्द लाक्षणिक शब्द कहलाता है) ॥ सू 16 ॥

यहाँ वृत्ति से तात्पर्य है—लक्षणावृत्ति। "तात्पर्यानुपपत्ति" अथवा "अन्वयानुपपत्ति" लक्षणा का बीज है।

व्यञ्जनामाह—

वृत्तिद्वयविरामोत्या रसाद्युद्बोधनक्षमा।
व्यञ्जना ॥ सू 17 ॥
नलिने पश्य शयान भ्रमरीयुगम् ॥

वृत्तिद्वय चाभिधालक्षणाख्यम्। तत्र प्रयोजनप्रतिपत्तये लक्षणा-प्रयोगेऽपि यद्व्यापार विना न तत्प्रतीति सा च सा[1] वृत्ति ।

न हि तटादी पावनत्वादि- प्रतीतावपि तत्र गङ्गादिशब्दसङ्केता-ऽभावादभिधाव्यापार । तथा लक्षणावीजस्याभावाल्लक्षणाव्यापार नास्ति।

तथा च गङ्गाशब्द प्रवाह एव सबाघो, न तटे। तच्च[3] न मुख्योऽर्थ, नापि बाधा, न च तयोर्लक्षणीये पावनत्वादौ सम्बन्ध । प्रयोजने लक्ष्ये-

---

1 व्यञ्जना (मू पा टि)
अभिधा 2 शैत्य (मू पा टि)
3 तटम् (मू पा टि)

ऽपि न प्रयोजनान्तरम्। गङ्गाशब्दस्तटमिव न च प्रयोजनं प्रतिपादयितुमीष्टे येन स्यात्।

[7व]नापि विशिष्टलक्षणाव्यापारः ज्ञानविषयफलयोरन्यत्वात्। अन्यथा व्यञ्जनाव्यापारगम्ये प्रयोजने प्रयोजनवतीलक्षणैव नोपात्ता स्यात्। अतएव—

सङ्कुचन्त्येव वाक्शक्तिः क्वचिदर्थसमर्थिका ॥ सू 18 ॥
व्रीडितं व्रीडितं काले हारि हा हरिणीदृश ॥

व्यञ्जना-वृत्ति—

व्यञ्जना-वृत्ति का लक्षण कहते हैं—

वृत्तिद्वय (अभिधावृत्ति अथवा लक्षणावृत्ति) के विराम पर उत्पन्न होने वाली व्यञ्जनावृत्ति रसादि का उद्बोधन करने में समर्थ होती है ॥ सू 17 ॥ जैसे—कमल पर सोते हुए भ्रमरीयुगल को देखो।

वृत्तिद्वय है–अभिधा और लक्षणा नाम की दो वृत्तियाँ। लक्षणा के प्रयोग में भी प्रयोजन की सिद्धि के लिए जिस (व्यञ्जना) व्यापार के बिना उस (प्रयोजन) की प्रतीति नहीं हो सकती, वह वृत्ति व्यञ्जना-वृत्ति ही होती है।

लक्षणामूला ध्वनि में प्रयोजन-प्रतीति के लिए व्यञ्जना की अपरिहार्यता—

("गङ्गायां घोष" में) तट आदि में शैत्यपावनत्वादि धर्मों की प्रतीति होती है फिर भी वहाँ गङ्गादि शब्दों का सकेतग्रह नहीं होने से अभिधाव्यापार (अभिधा के द्वारा उसका ज्ञान) नहीं है। उसी प्रकार लक्षणा के बीज का अभाव होने से लक्षणा-व्यापार भी नहीं है।

जैसे ("गङ्गायां घोष" इस उदाहरण में गङ्गा जलप्रवाह स्वरूपा है और उस जलप्रवाह पर घोष नहीं रह सकता अतः घोष का आधार बनने के लिए) गङ्गा शब्द जलप्रवाहरूप अर्थ में ही बाधित होता है। ("गङ्गातटे घोष" कहने पर तट पर घोष रहता है अतः) तट अर्थ में बाधित नहीं होता।

(गङ्गाशब्द से तटरूप अर्थ की प्रतीति होने के पश्चात् शैत्यपावनत्वादि *धर्मों की प्रतीति होती है। यदि शैत्यपावनत्वादि धर्मों को लक्ष्यार्थ माना जाये तो* उससे पूर्व उपस्थित होने वाला तटरूप अर्थ मुख्यार्थ होना चाहिये) पर तट (गङ्गा शब्द का लक्ष्यार्थ है) मुख्यार्थ नहीं। (यदि तट को मुख्यार्थ मान भी लिया जाये *तो लक्षणा होने के पूर्व उसका बाध होना चाहिये पर यहाँ)* उसका बाध भी नहीं होता (क्योंकि तट पर घोष रहता ही है)।

(लक्षणा का द्वितीय हेतु है कि लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध होना चाहिये। शैत्य-पावनत्वादि को लक्ष्यार्थ माना जाये तो तट मुख्यार्थ होगा पर)

उन दोनो (तट तथा घोष) का लक्षणीय पावनत्वादि से सम्बन्ध नही है (शैत्य-पावनत्वादि का सम्बन्ध तो जलप्रवाह मे है)।

(लक्षणा का तृतीय हेतु है—रूढि अथवा प्रयोजन। रूढि से शैत्यपावनत्वादि का बोध नही हो सकता। यदि शैत्य-पावनत्वादि) प्रयोजन को लक्ष्यार्थ माना जाये (तो उसमे अन्य प्रयोजन मानना होगा पर यहाँ) तो कोई अन्य प्रयोजन नही माना जा सकता।

और गङ्गा शब्द तट के समान प्रयोजन का प्रतिपादन करने मे असमर्थ (स्खलद्गति) भी नहीं है। (गङ्गा शब्द मुख्यार्थबाध आदि से तट का बोध कराते हैं। अत वह तटरूप अर्थ के बोधन मे स्खलद्गति हैं, पर मुख्यार्थबाध आदि के बिना ही गङ्गाशब्द शैत्यादि के प्रतिपादन मे समर्थ है। पर तट प्रयोजन का प्रतिपादन करने मे समर्थ नही है। अत लक्षणा के हेतु नहीं होने से प्रयोजन को लक्ष्यार्थ नही माना जा सकता)।

(एक अन्य विचार है कि लक्षणा केवल तट का नहीं, अपितु शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन-विशिष्ट तट का बोध कराती है, अत प्रयोजन की सिद्धि के लिए लक्षणामूलाव्यञ्जना की आवश्यकता नही है। परन्तु) यह विशिष्टलक्षणाव्यापार उचित नहीं है, क्योकि ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल भिन्न-भिन्न होता है। (यहाँ लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय तट है और उसका फल शैत्यपावनत्व आदि का बोध है, अत ये तट और शैत्यादि भिन्न-भिन्न होने मे विशिष्ट मे लक्षणा नही हो सकती।) विशिष्ट लक्षणा मानने पर व्यञ्जना-व्यापार से गम्य प्रयोजनवाली प्रयोजनवती लक्षणा ही स्वीकृत नही होगी। अतएव—

वाक्शक्ति (अभिधा आदि शक्ति के) शान्त हो जाने पर (अपना-अपना कार्य कर लेने से क्षीण-सामर्थ्य हो जाने पर) किसी अन्य अर्थ का बोध कराने वाली व्यञ्जनाशक्ति होती है ॥ सू 18 ॥

जैसे– हा! (आज याद आता है कि) मृगलोचनी की (विभ्रम) क्रीडा और क्रीडा (सम्भोग) काल मे कितनी मनोहारिणी थी।

शब्दशक्तिमूलध्वनौ प्राकरणिके नियन्त्रितमप्राकृतेऽलङ्कारादौ अभिधामूलव्यञ्जनयैव। हरिणीदृश[1] सादृश्याभिव्यञ्जितहरिणीदृश हा इति स्मरणालङ्कारव्यङ्ग्यप्रतीति। पुन स एव—

शब्द प्रचण्डतामेत्य परिणाममनोहर।
कस्यचित्सुखाय सर्वथामपराह्ने दिन यथा ॥ सू 19 ॥

---

1 मृगीनेत्रस्य (मू पा टि)

वाच्यवैचित्र्य प्रदर्श्यापि परिणाममनोहरो व्यञ्जनायैव । एकस्यै-वाह्न परिणामरमणीयता सुकुमारबुद्धीना[1] सौकुमार्य्यप्रदर्शनेन शब्दोऽप्य-लङ्कारादिना परिणम्याह्लादकारणम्[2] । परिणतिरिवाह्न सुखायेति वाच्ये अपराह्ने दिन यथेति पदाना इवार्थपरिणामेन दिवसपरिणति-र्लक्ष्या सौकुमार्य पुनरुक्तवृत्त्यैव लक्षणाविरामे ।

अभिधामूला शब्दशक्त्युत्थध्वनि मे व्यञ्जना की अनिवार्यता—

शब्दशक्तिमूलध्वनि (अभिधामूल शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि) मे (अनेकार्थक शब्द) प्रकरण आदि वशात् (एकार्थ मे) नियन्त्रित हो जाने पर (वस्तुध्वनि मे) अप्राकृत (अन्य अर्थ की प्रतीति) तथा (अलङ्कार ध्वनि मे प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थों का उपमानोपमेयभाव आदि) अलङ्कार भी अभिधामूला व्यञ्जना से ही बोधित हो सकता है । "हरिणी के समान नेत्रो वाली" इस पद मे सादृश्य से अभिव्यञ्जित "मृगनयनी" सुन्दरी की ओर "हा" इस पद से स्मरणालङ्काररूप व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है ।

पुन वही (अभिधामूला व्यञ्जना)—

कही-कही शब्द प्रचण्डता को प्राप्त करके भी यदि परिणाम (परिणति) मे मनोहर हो तो सभी के लिए उसी प्रकार सुखद होता है जैसे अन्तिम प्रहर मे दिन सभी के सुख के लिए होता है ।। सू 19 ।।

वाच्य-वैचित्र्य का प्रदर्शन होने पर भी शब्द व्यञ्जना के द्वारा ही परिणाम (अर्थ) मे मनोहर होता है । एक ही दिन की परिणाम मे रमणीयता (की तरह) सुकुमार बुद्धिवालो के लिए सुकुमारता (मनोहरता) के प्रदर्शन से शब्द भी अल-ङ्कार आदि के द्वारा परिणमित होकर आह्लाद का कारण होता है । दिन की परिणति (अन्तिम प्रहर की वेला) सुखकारी है, (कारिका मे) इस प्रकार कहने पर "जैसे अपराह्न मे दिन" इन पदो की तरह अर्थपरिणाम द्वारा दिवस-परिणति लक्षित होती है । सुकुमारता भी पुन उसी व्यञ्जना वृत्ति से ही लक्षणा का विराम (अर्थात् प्रयोजन सिद्ध) होने पर लक्षित होती है ।

अलक्षितोऽपि शब्देन लक्ष्यतेऽयं क्वचिद्यथा ।। सू 20 ।।
(8 अ) स्वाभावकुटिलं कान्ता मनो गृह्णाति योषित ।।

कुटिलत्व यौषिताना मनोग्रहणेन ततश्च निजेतरमनोग्रहणसामान्य

---

1 ० बुद्धीना 2 ० ह्लादकारणम्

विनैव स्वभावकुटिलपदादुपस्थाप्यमान तदाक्षिप्ताशयत्व[1] न लक्षणा-विषय ।

अर्थान्तरस्मृते शब्द क्वचिद्याति परार्थताम् ।
देशकालादिवैशिष्ट्ये यथोदेति दिवाकर ॥ सू 21 ॥

शब्दस्यार्थान्तरस्मृते परार्थता देशवैशिष्ट्ये कालवैशिष्टयेवा नाभिधालक्षणयोर्विषय । कालवैशिष्ट्यमुदाहरति "यथोदेति दिवाकर" । देशवैशिष्ट्ये यथा—

स्मरणात् कालियारातेर्[2]विषज्वालेव ताम्यति ।
अपनीतापि कालिन्दीकूले कालियकालिमा ॥ 5 ॥

कही पर शब्द के द्वारा अलक्षित अर्थ भी लक्षित होता है ॥ सू 20 ॥

जैसे—कान्ता स्वभाव से कुटिल दृष्टिपातो के द्वारा मन को आकर्षित करती है ।

दृष्टिपातो की कुटिलता देखने वालो के मनोग्रहण से और तब अपने से भिन्न (दूसरे के) सामान्य मनोग्रहण (मन को आकर्षित करने) के बिना ही "स्वभाव-कुटिल" पद से उपस्थित होने वाली उस (कुटिलता) से आक्षिप्त आशय (भाव) लक्षणा का विषय नही है (फिर भी लक्षित होता है) ।

अन्य अर्थ की स्मृति से (एक अर्थ मे प्रसिद्ध) शब्द कही पर देशकालादि के वैशिष्ट्य से दूसरे अर्थ को प्राप्त (द्योतित) करता है ॥ सू 21 ॥

जैसे-'उदेति दिवाकर" (सूर्य उग रहा है) ।

एक अर्थ मे प्रसिद्ध शब्द के द्वारा देश के वैशिष्ट्य से अथवा काल के वैशिष्ट्य से लक्षित अन्य (दूसरा) अर्थ अभिधा और लक्षणा का विषय नही है । काल-वैशिष्ट्य का उदाहरण जैसे-"उदेति दिवाकर' (सूर्य उग रहा है) । देशवैशिष्ट्य का उदाहरण जैसे—

कालिन्दी (यमुना) के तट से कालिय (नामक सर्प) की कालिमा (कालापन) दूर हो गई है फिर भी कालिय नामक सर्प का दमन करने वाले कृष्ण के स्मरण से मानो विष की ज्वाला पीडा उत्पन्न कर रही है (दुखी कर रही है) ॥ 5 ॥

उदाहरति-"नलिने पश्ये"ति । अत्र तिर्यक्[3]शयनव्यञ्जितविजनत्वोद्-

---

1 तयाक्षिप्ताशयत्वम् (मू पा टि)

2 कृष्णस्य (मू पा टि)

1 पशु (मू पा टि)

दीपितो रसादिर्नान्यव्यापारगम्य । न हि रसादिपदेन शृङ्गारादिपदेन वा रसोऽभिधीयते विभावानुभावाद्यन्वयव्यतिरेकाभ्या तत्प्रतीतेर्व्यङ्ग्यरूपत्वात् ।

अतएव—

व्यक्तोऽपि व्यक्तिमेत्यन्या शब्द शक्तिद्वये यथा ।। सू 22 ।।

निष्कम्पिनि वने पश्य बलाका रमतेम्बुनि ।।

[8 ब] अत्र वनस्य निष्कम्पत्वेन विजनत्व, ततश्च विभक्त्या विहाराधारत्वप्रतीति । बलाकाजलकेलिविलोकनव्याजेन नायके समुद्भाव्यमानरसस्तादृक् शब्दमहिम्ना व्यक्त्यन्तरोद्गाररूप इति ।

रसादि की प्रतीति के लिए व्यञ्जना अनिवार्य

(अन्य) उदाहरण देते है—"नलिने पश्य" (कमल पर देखो), यहाँ पर पशुशयन से व्यञ्जित विजनत्व (एकान्त) से उद्दीपित रसादि (व्यञ्जना के अतिरिक्त) अन्य व्यापार से गम्य नही है । रसादि पद से अथवा शृङ्गारादि पद से रस अभिहित नही किया जा सकता, क्योकि विभावानुभावादि के द्वारा अन्वय-व्यतिरेक से उसकी (रस की) प्रतीति व्यङ्ग्यरूप मे होती है ।

अतएव—

शक्तिद्वय (अभिधाशक्ति और लक्षणा शक्ति) होने पर भी अभिव्यक्त हुआ शब्द अन्य (अर्थ की) अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है ।। सू 22 ।।

जैसे—देखो ! निष्कम्प वन मे जल मे बलाका (बगुलिया) रमणकर रही है।

यहाँ वन की निष्कम्पता से (स्थान का) जनरहित होना (व्यञ्जना से सूचित होता है) और तब "वने" मे सप्तमी विभक्ति के द्वारा विहार के आधारत्व की (यह स्थान विहार के योग्य है, यह) प्रतीति होती है । बलाका की जलकेलि को देखने के बहाने से नायक मे उत्पन्न होता हुआ रस, इस प्रकार की शब्दमहिमा के द्वारा दूसरी अभिव्यक्ति का उद्गाररूप है ।

किं चाहु —

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम् ।

आश्रयविषयादीना भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्य ।।

अयमर्थ वाच्यलक्ष्यार्थयो [1] पदतदर्थमात्रवेदनचतुरै सहृदयैरेव बोद्धृभेद । क्वचिद्वाच्ये विधिरूपे निषेधरूप क्वचिच्च निषेधे विधिरूप । यथा—

उत्कम्पिनी तनुलता हारहारिपयोधरा [2] ।

गतासि सरसी स्नातु न गतास्यधमान्तिकम् ।। 6 ।।

---

1 वाच्यलिङ्गार्थयो

2 हारेण हारिणौ पयोधरौ यस्या (मू पा टि)

अत्र गतासि न गतासीति ।
तत्तद्बोधृभेदाद्वाच्यैकत्वेऽपि "गतोऽस्तमर्क" इत्यादौ सख्याभेद ।
प्रतीतिमात्राच्चमत्कारकरणाच्च कार्य्यभेद ।
केवलरूपतया चमत्कारितया च प्रतीतिभेद ।
पूर्वपश्चाद्भावेन कालभेद ।
शब्दघटनात्वेनाश्रयभेद ।
विषयभेदाच्च प्रतीयमानव्यड्ग्यार्थप्रतीतिर्नाभिधालक्षणयोर्विषय ।

अभिधावृत्ति से व्यञ्जना का भेद—

"साहित्यदर्पण" मे कहा गया है—

बोद्धा, स्वरूप, सख्या, निमित्त, कार्य, प्रतीति, काल, आश्रय और विषय आदि की भिन्नता के कारण व्यड्ग्य, अभिधेय (वाच्यार्थ) से भिन्न है।

1 बोद्धाभेद—यह व्यड्ग्यार्थ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के पद और पदार्थ मात्र का ज्ञान रखने वाले निपुण सहृदयो द्वारा जाना जाता है, अत बोद्धा के भेद मे व्यड्ग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न होता है।

2 स्वरूप भेद—कही पर वाच्यार्थ के विधिरूप होने पर (व्यड्ग्यार्थ) निषेध रूप होता है और कही पर (वाच्यार्थ के) निषेधरूप होने पर (व्यड्ग्यार्थ) विधिरूप होता है, जैसे—

(दूती के प्रति नायिका का कथन–) हार के कारण मनोहारी पयोधरो वाली तुम्हारी तनुलता काँप रही है। तुम सरोवर मे स्नान करने गयी थी, उस अधम (नायक) के पास नही ॥6॥

यहाँ पर "सरोवर मे स्नान करने गयी थी, उस अधम के पास नहीं" (इस निषेधरूप वाच्यार्थ से "तुम उस अधम के पास अवश्य गयी थी," यह विधिरूप व्यड्ग्यार्थ अभिव्यक्त हो रहा है अत स्वरूप-भेद है)।

3 सख्याभेद—वाच्यार्थ सभी ज्ञाताओ के प्रति एक रूप होने पर भी "गतोऽस्तमर्क" "सूर्य छिप गया है" इत्यादि मे (प्रकरण, वक्ता, बोद्धा आदि की सहायता से भिन्न-भिन्न स्थलो पर अनन्त प्रकार का व्यड्ग्य अर्थ प्रतीत होता है। अत वाच्यार्थ और व्यड्ग्यार्थ की) सख्या मे भेद होता है।

4 कार्य-भेद—वाच्यार्थ मे केवल वस्तु का ज्ञान होता है और व्यड्ग्यार्थ से चमत्कार उत्पन्न होता है, अत दोनो मे कार्य-भेद है।

5 प्रतीति-भेद—वाच्यार्थ से केवल वस्तुरूप की प्रतीति होती है और व्यड्ग्यार्थ से चमत्कार की, अत दोनो की प्रतीति मे भी भिन्नता है।

6 काल-भेद—वाच्य अर्थ पहले प्रतीत होता है और व्यङ्ग्य अर्थ बाद मे, अत दोनो मे काल का भी भेद है।

7 आश्रय-भेद—वाच्य केवल शब्दो मे आश्रित रहता है, परन्तु व्यङ्ग्य (शब्द मे, शब्द के किसी एक देश मे, अर्थ मे, वर्ण मे अथवा) रचना मे भी रह सकता है अत दोनो के आश्रय मे भी भिन्नता है।

8 विषय-भेद—और विषय का भेद होने से प्रतीयमान व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अभिधा अथवा लक्षणा के द्वारा नही हो सकती।

व्यञ्जनानङ्गीकारे "काव्य रसयती" त्यादौ रसप्रतीतेरानुभविकाया (9अ) शाब्दत्व व्याकोपश्च। नापि तात्पर्यार्थ[1] तद्वृत्ते ससर्गमात्रोपक्षीणत्वात्

तथाहि–यत्पद यत्पदार्थेन यादृशान्वयबोधजनक तस्य तेन समभिव्याहारात् एकपदार्थे पदार्थान्तरससर्गात्[2] पदजन्यपदार्थोपस्थितेरपदार्थोऽपि वाक्यर्थतया तात्पर्यार्थ इत्याभिहितान्वयवाद[3]। अन्वितस्यैव पदार्थस्याभिधानादन्वित एव इत्यन्विताभिधानपक्ष[4] उभयत्रापि घटकर्मकानयनादिस्वरूप एव विशेषवपुद्र रे पुनस्तत्प्रत्ययानन्तरमर्थान्तरप्रतीतौ तु व्यञ्जनयैव निर्वाह।

अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद मे व्यञ्जना—

व्यञ्जना को अङ्गीकार (स्वीकार) नही करने पर "काव्य का आस्वाद करता है"—इत्यादि वाक्य मे अनुभवसिद्ध रस-प्रतीति मे बाधा आती है, क्योकि "शब्द ही काव्य है"—यह विचार बाधित होता है (काव्य के शाब्दत्व मे व्याकोप उत्पन्न होता है)। यहाँ तात्पर्याख्या भी नही है, क्योकि (मीमासको का मत है कि) तात्पर्याख्या वृत्ति तो पदार्थों के ससर्गमात्र से ही उपक्षीण हो जाती है।

(तात्पर्यार्थ-प्रसग मे मीमासको के मत दो मत है—अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद।) जैसे कि जो पद, जिस पद द्वारा जिस प्रकार के अन्वयबोध का जनक होता है, उसका उसके द्वारा समभिव्याहार होने से, एक पदार्थ मे दूसरे पदार्थ के ससर्ग से पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति होने से, अपदार्थ भी वाक्य का अर्थ होने के कारण तात्पर्यार्थ होता है, यह अभिहितान्वयवाद (मीमासको का

1 आकाक्षायोग्यतासन्निधिभि प्रतिपाद्या तात्पर्यार्थवृत्ति (मू पा टि)

2 ० गात्

3 मीमासकाना मतम् (मू पा टि)

4 वेदान्तिना मतमिदम् (मू पा. टि)

मत) है। अन्वित पदार्थ का ही अभिधान (अभिधा द्वारा बोध) होने से अन्वित ही (अर्थ अभिधा से उपस्थित) तात्पर्यार्थ होता है, यह अन्विताभिधानवादियो (वेदान्तियो) का मत है। दोनो ही स्थानो पर घटकर्म का आनयनादि स्वरूप ही विशेष-वपु वाक्यार्थ होता है। पुन उसकी प्रतीति के पश्चात् (उपस्थित होने वाले) अर्थान्तर (व्यङ्ग्यार्थ) की प्रतीति उससे नही हो सकती, उस अर्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जना को ही स्वीकार करना पडेगा।

सा च द्विधा—

शाब्द्यनेकार्थशब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते[1] ।

सयोगाद्यै रवाच्यार्थ ॥सू 23॥

सवज्रो वृत्रहा यथा ॥

तत्र सयोगे "सवज्रो वृत्रहा"। आद्यै रित्युपलक्षणम्। वियोगे "अवज्रो वृत्रहा"। साहचर्ये "रामकृष्णौ" रामो बलदेव । विरोधे "रामार्जुनौ" रामो भार्गव अर्जुन कार्त्तवीर्य । अर्थे "स्थाणु वन्दे" स्थाणु शिव । प्रकरणे "सर्व जानाति देव." देवो भवान्। लिङ्गे "कुपितो मकरध्वज" [9अ] मकरध्वज काम । अन्यसन्निधौ "देव पुराराति" देव शिव । सामर्थ्ये "मधुना मत्त पिक" मधुर्वसन्त । औचित्ती "प्रमत्ता मधुना"[2] वधू । देशे "अजेऽभौ परमेश्वर. "असौ नन्द । काले "चित्रभानुर्विभाति" अत्र दिनेऽर्के निशि वह्नि । व्यक्तौ "भाति रयाङ्गम्" नपुसकव्यक्त्या चक्रम्। स्वरो वेद एव।

व्यञ्जना के भेद—

वह (व्यञ्जना) दो प्रकार की है।

शाब्दी व्यञ्जना—

सयोग आदि के द्वारा जहा अनेकार्थक शब्द के वाचकत्व (किसी एक अर्थ) मे नियन्त्रित होने जाने पर (उससे भिन्न) अवाच्य अर्थ (व्यञ्जना से) प्रतीत होता है, वह शाब्दी (अभिधामूला) व्यञ्जना कहलाती है ॥सू 23॥

जैसे—"वज्र सहित वृत्रनाशक" (इन्द्र)।

---

1 °न्त्रिते

2 मदेन (मु पा टि)

"वज्र सहित वृत्रहा", यहाँ संयोग से (वृत्रहा शब्द इन्द्र अर्थ मे नियन्त्रित होता है)। "आदि" पद उपलक्षण है (अर्थात् संयोग के साथ-साथ अन्य का भी बोधक है)। "वज्ररहित वृत्रहा" यहाँ वियोग के कारण (वृत्रहा शब्द इन्द्र अर्थ मे नियन्त्रित होता है। "रामकृष्ण" (इस प्रयोग मे) साहचर्य के कारण "राम" शब्द बलदेव अर्थ मे (नियन्त्रित होता है)। "रामार्जुनौ" मे विरोध के कारण "राम" शब्द परशुराम तथा "अर्जुन" कार्त्तवीर्य अर्जुन (अर्थ मे नियन्त्रित होता) है। "स्थाणु को प्रणाम करता हूँ" यहाँ स्थाणु शब्द प्रयोजन रूप अर्थ के कारण शिव मे नियन्त्रित होता है। 'देव सब जानते हैं" यहाँ प्रकरण से देव शब्द "आप" अर्थ म (नियन्त्रित हो जाता) है। "मकरध्वज कुपित हो रहा है" यहाँ लिङ्ग (अर्थात् कोपरूप चिह्न म) "मकरध्वज" पद का अर्थ कामदेव (म ने नियन्त्रित हो जाता) है। 'पुरारि देव" यहाँ (पुरारातिदेव) अन्य शब्द के सन्निधान के कारण (अनेकार्थक) 'देव" शब्द शिव (अर्थ मे नियन्त्रित होता है)। "कोयल मधु से मत्त हो रही है" (कोयल को मत्त करने की सामर्थ्य वसन्त मे होने से) सामर्थ्य से 'मधु" शब्द वसन्त (अर्थ मे नियन्त्रित हो जाता है)। "मधु (मद्य) से प्रमत्ता" यहाँ औचित्य के कारण प्रमत्ता शब्द वधू (अर्थ मे नियन्त्रित होता है)। "व्रज मे वह परमेश्वर है", यहाँ देश के कारण "असौ" पद नन्द अर्थ मे (नियन्त्रित होता है)। "चित्रभानु चमक रहा है", यहाँ काल के कारण (अनेकार्थक) "चित्रभानु" शब्द दिन मे सूर्य अर्थ मे और रात्रि मे अग्नि अर्थ मे (नियन्त्रित हो जाता) है। "रथाङ्ग सुशोभित हो रहा है"(पुंल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग आदि रूप) व्यक्ति के कारण यहाँ नपुंसकलिङ्ग मे प्रयुक्त 'रथाङ्ग' शब्द चक्र अर्थ मे नियन्त्रित है। वेद मे ही स्वर अर्थ-विशेष का बोधक होता है।

आर्थी—

वक्त्रादिवैशिष्ट्यादर्थस्यान्यार्थभाविनी ।।सू 24।।
नाथमन्यान्तिकं तस्य गता विक्रीडितुं जले ।।
अत्र तु प्रतिपाद्य दूतिवैशिष्ट्याद्रन्तुमिति व्यङ्ग्यम् ।

आहुश्च—

वक्तृबोधव्यवाक्यानामन्यसन्निधिवाच्ययो ।
प्रस्तावदेशकालाना काकोश्चेष्टादिकस्य च ।
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत्सार्थसंभवा ।

पतिर्दूरे केलीसदनमिदमुन्मत्तमधुप
वन वात्या[1] मन्द मदयति मनो मन्मथसख ।
वसन्तप्रारभे मलयमरुदालम्बितधनु–
र्मनोभू कि कुर्मः कथय भवती नोत्तरयति ।।7।।

अत्र वक्तृवाक्यप्रस्तावदेशकालादिवैशिष्ट्यम् । अन्यसन्निधिवैशिष्ट्ये यथा "निष्कम्पिनि वने पश्ये"ति ।

आर्थी व्यञ्जना—

(व्यञ्जना वृत्ति दो प्रकार होती है—(1) शाब्दी व्यञ्जना और (2) आर्थी व्यञ्जना । शाब्दी व्यञ्जना के भी दो भेद होते हैं–(1) अभिधामूला व्यञ्जना और (2) लक्षणामूला व्यञ्जना । शाब्दी व्यञ्जना के इन दोनो भेदो का निरूपण किया जा चुका है । अब आर्थी व्यञ्जना का निरूपण किया जा रहा है–)

वक्ता आदि के वैशिष्ट्य से अन्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला अर्थ का व्यापार आर्थी व्यञ्जना कहा जाता है ।।सू 24।।

जैसे–तुम उस अधम के समीप नही, जल मे स्नान करने गयी थी ।

यहाँ प्रतिपाद्य (वर्णित) दूती के वैशिष्ट्य से "रमण करने के लिये" यह व्यङ्ग्य है ।

और कहते है—

(1) वक्ता (2) बोद्धव्य, (3) वाक्य, (4) अन्यसन्निधि, (5) वाच्य, (6) प्रस्ताव, (7) देश, (8) काल, (9) काकु और (10) चेष्टादि के वैशिष्ट्य से जो अन्य अर्थ को बोधित कराती है, अर्थ से उत्पन्न वह "आर्थी व्यञ्जना" है ।

पति दूर है, इस (सुरभित) केली-सदन मे उन्मत्त भ्रमर गुंजार कर रहे हैं । वायु (शीतल पवन) मन्द गति से बहकर वन को मद-पूरित कर रही है और मन्मथ का सखा (वसन्त) मन को मदोमत्त कर रहा है । वसन्त का प्रारम्भ होने पर कामदेव (मनोभव) ने भी मलय-पवन के धनुष का धारण कर लिया है । (हम तुम्ही से पूछते हैं कि इस ऋतु मे) हम क्या करें ? किन्तु आप तो कोई उत्तर ही नही देती ।।7।।

---

1 वाला

यहाँ वक्ता वाच्य, प्रस्ताव, देश, काल आदि का वैशिष्ट्य है। अन्यसन्निधि के वैशिष्ट्य में (व्यञ्जना) का उदाहरण पूर्वोक्त "निष्कम्पिनि वने पश्य" इत्यादि है।

काकुवैशिष्ट्ये यथा—

[10अ] गुरु अरण पसामरणाए वच्चइ वच्चे उ को ʌ णु पडिऊलो।
अह घुम्मइ घरणसमअम्मि किरण आणामि णेहिज्ज ॥8॥[1]

अत्र नैष्यति न जानामीति वै[2]परीत्यार्थप्रत्यायकम्।

स्मितमुद्रितपाणिपङ्कज विकसन्नीलविलोचनोत्पलम्।
अपसारितकुन्तलानन निजसकेतमियं[3] व्यवस्यति ॥9॥

अत्र सन्ध्यासङ्केतकालश्चेष्टया व्यज्यते।

एतेन वाचकलाक्षणिकव्यञ्जकाना शब्दाना वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यात्मा लोकोत्तराह्लादको वैशिष्ट्येनार्थोऽपि व्याख्यात। व्यञ्जकत्व तु सर्वथा समम्। तत्र वाच्यार्थस्य "पतिर्दूरे" इत्यत्र लक्ष्यार्थस्य "स्वभावकुटिलै-" रित्यत्र व्यङ्ग्यस्य 'निष्कम्पिनि वने पश्य' इत्यत्र।

काकु की विशिष्टता होने पर व्यञ्जना जैसे—

गुरुजनो को प्रसन्न करने के लिए जाते हो तो जाओ, कौन (आपसे) प्रतिकूल है? इस बरसती हुई वर्षा-ऋतु मे क्या मैं नही जानती कि तुम नही आओगे ॥8॥

यहाँ पर "नैष्यति न जानामि"—यह विपरीत अर्थ (तुम अवश्य आओगे इस अर्थ) का बोध कराने वाला है।

(अपने) हस्तकमल को कुछ खिली और कुछ मुदी हुयी मुद्रा मे किये हुए नील नेत्र-कमल को विकसित करती हुई, मुख पर से घने बालो को हटाती हुई यह (बाला) अपने सङ्केत को बताती है ॥9॥

---

1 गुरुजनप्रसादनया व्रजसि व्रजस्व को नु प्रतिकूल।
अथ घूर्णमाणघनसमये किं न जानामि नेष्यसि ॥
एष्यसीत्येवेत्यथ (मू पा टि)

2 विप०

3 बाला (मू पा टि)

यहाँ सध्या—समय सकेतकाल है—यह चेष्टा से व्यञ्जित होता है ।

इस प्रकार वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों का वाच्यलक्ष्य-व्यङ्ग्यात्मक लोकोत्तराह्लाद अर्थ भी विशिष्टता से वर्णित किया जा चुका है । सभी (शब्दों) की व्यञ्जकता समान ही है । यहाँ वाच्यार्थ का 'पतिदूरे' इत्यादि, लक्ष्यार्थ का 'स्वभावकुटिले' इत्यादि और व्यङ्ग्यार्थ का 'निष्कम्पिनि वने पश्य' इत्यादि उदाहरण है ।

तदेव काव्यशरीरमभिधाय काव्यभेदानाह—

उत्तमं ध्वनिवैशिष्ट्ये ।।सू 25।।

व्यङ्ग्यमेव ध्वनिस्तद्विशिष्टता चानतिशयिते वाच्ये । यथा—

आगता स्म कुसुमावचयार्थं नन्दनन्दनविहारवनेऽस्मिन् ।
अम्बुद स्फुरति सम्प्रति चित्ते भावि किं गुरुजनस्य न विद्म ।।10।।

[10अ] अत्र वाच्यात् भावि श्रीकृष्णसङ्गस्थगनरूपव्यङ्ग्यस्य वैशिष्या ʌ दुत्तमत्वम् ।
यथा वा—

प्रियपाणितलं दधार बाला हृदि मन्दं तदवादि सौरभेन ।
दरफुल्लसरोरुहा यदेतज्ज्वलनस्पर्शि विबोधयत् प्रियाक्षि ।।11।।

अत्र भाविविप्रलम्भ ध्वनिर्ध्वन्यन्तरोद्गारे सत्यमुमेवोत्तमोत्तम भेदमामनन्ति । तथाहि ध्वनिस्तावत् प्रियपाणितलस्य हृदि मन्दं धारणेन भाविविप्रलम्भसम्भावनया सञ्जातसज्वरप्रतीति प्रियस्य भवेत् । ततोऽपि चपलातिशयोक्त्या मन्दमिति क्रियाविशेषणेन च तस्यातिशयो ध्वन्यन्तरोद्गारविश्रान्त । पुनरपि दरफुल्लसरोरुहा सौरभेन तदवादीति भविष्यत्सूर्योदयकालीनवियोगव्यक्त्या विरहिण्या पङ्कजसौरभ सन्तापायेति व्यक्ति । पुनश्च ज्वलनस्पर्शीति पाणितलविशेषणेन वियोगवह्नि्व्याप्तिर्हृदयस्य व्यज्यते ततश्च झटित्यास्फालनक्रियाव्यक्ति ।

काव्य के भेद—

इस प्रकार काव्य-शरीर को कहकर (अब) काव्य के भेदों का वर्णन करते हैं—

उत्तम-काव्य—

ध्वनि का वैशिष्ट्य होने पर उत्तम-काव्य होता है ।।सू 25।।

व्यङ्ग्य ही ध्वनि है और वाच्य के अनतिशयित (व्यङ्ग्य से अधिक चमत्कारयुक्त न) होने पर ही उसकी (व्यङ्ग्य की) विशिष्टता होती है (अर्थात् वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य के अधिक चमत्कारयुक्त होने पर उत्तम-काव्य होता है।) जैसे—

हम कृष्ण के इस क्रीडा-वन में कुसुम चुनने के लिए आई हैं। इस समय बादल गरज रहे हैं। गुरुजन के चित्त में आगे क्या होने वाला है, यह हम नहीं जानती ॥10॥

यहाँ वाच्य में श्रीकृष्ण के भावी सम्मिलन को छिपाने रूप व्यङ्ग्य की विशिष्टता होने से उत्तम काव्य है। अथवा जैसे—

बाला ने प्रिय के करतल को हृदय पर धीमे से धारण किया। तभी कुछ-कुछ प्रफुल्लित कमलों के सौरभ ने यह कहा कि हे प्रियसखि! यह हाथ अग्नि को स्पर्श करने वाला है ॥11॥

यहाँ भावीविप्रलम्भ ध्वनि में अन्य ध्वनि का उद्गार होने पर इसे (काव्य का) उत्तमोत्तम भेद कहा जाता है। क्योंकि ध्वनि तो यहाँ यह है कि प्रिय के पाणितल (हथेली) को हृदय पर धीरे से धारण करने से प्रिय को भावी (आगे होने वाली) विप्रलम्भ की सम्भावना से उत्पन्न हुए सज्वर की प्रतीति होनी चाहिए। उसके बाद भी चपलातिशयोक्ति से 'मन्दम्' इस क्रिया-विशेषण द्वारा उस (ध्वनि) का अतिशय अन्य ध्वनि के उद्गार में विश्रान्त हुआ। फिर 'कुछ खिले हुए कमलों के सौरभ द्वारा यह कह दिया गया"—इस वाक्य से भविष्य में होने वाली सूर्योदयकालीन वियोग की अभिव्यक्ति से विरहिणी को कमल का सौरभ सन्ताप पहुँचायेगा, यह व्यञ्जित होता है। पुन "ज्वलनस्पर्शी" इस "पाणितल के विशेषण" से "हृदय में वियोगाग्नि प्राप्त है" यह व्यञ्जित होता है और उसके पश्चात् 'शीघ्र ही दूर हटाने की' क्रिया व्यञ्जित होती है।

मध्यमे तच्च मध्यमम् ॥सू 26॥

मध्यमे ध्वनौ तच्च काव्य व्यङ्ग्यचमत्काराऽसमानाधिकरणे वाच्य-चमत्कार इति यावत्। यथा—

[11घ] करकलितकन्दुककन्दुकरद प्रथमनिरीक्षणनशितानननाया।
प्रकटयति विवर्णतैव भाव तरगमर्शेरचित ततस्तरण्या ॥12॥

अत्र विद्यमानोऽपि सुरतचातुरीपरिपोषितानुरागातिशयचमत्कार सङ्केतगमनावलोकनवैवर्ण्यरूपवाच्यचमत्कृतिजठरनिलीन ।

अधमं नार्थवैचित्र्या किन्तु शब्दैकगोचरम् ।।सू 27।।

शब्दवैचित्रीमात्रगोचरमधमम् । अर्थचित्रशब्दचित्रयो—"विनिर्गत मानदमात्ममन्दिरात्,"[2] 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छे[3]'"त्यनयोस्तारतम्योपलब्धे शब्दार्थयो समप्राधान्ये तु मध्यमतैव ।

मध्यम-काव्य—

(ध्वनि के) मध्यम होने पर वह मध्यम काव्य होता है ।।सू 26।।

ध्वनि के मध्यम होने पर व्यङ्ग्यचमत्कार और वाच्यचमत्कार के असमानाधिकरण होन पर (व्यङ्ग्यार्थ के वाच्य मे अधिक चमत्कारी न होन पर) वाच्य चमत्कार के कारण ही वह मध्यम काव्य होता है । जैसे—

कदम्ब की सुन्दर गेंद हाथ में लिए हुए तरुणमणि (तरुणश्रेष्ठ) नायक को प्रथमवार देखकर लज्जित मुखवाली तरुणी (नायिका) के मुख की विवर्णता उसके उचित भाव को प्रकट कर रही है ।।12।।

यहाँ सुरतचातुरी से परिपोषित अनुरागातिशय का चमत्कार विद्यमान होकर भी सङ्केत, गमन, अवलोकन, वैवर्ण्यरूप वाच्य चमत्कार के जठर के भीतर छिप गया है ।

अधम-काव्य—

अर्थ की विचित्रता से नहीं (अपितु) शब्दमात्र से प्रकट होने वाला अधम-काव्य होता है ।।सू 27।।

शब्दो की विचित्रतामात्र दिखाना अधम काव्य है । (मम्मट के उदाहरण रूप मे) अर्थचित्र और शब्दचित्र के 'विनिर्गत मानदमात्ममन्दिरात्' तथा 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छ' इत्यादि श्लोक दिये हैं । इन दोनो उदाहरणो मे तारतम्य उपलब्ध होन से शब्द और अर्थ का सम-प्राधान्य होन से ये मध्यम-काव्य के ही उदाहरण हैं ।

---

1 ० वै ०

2 विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम् ।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती । –का प्र-1, 5

3 स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्णाय व ।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम–
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ।।–का प्र-1, 4

तत्रार्थचित्र यथा—

यदि भवति कथञ्चित्तावकीनो दृगन्त
प्रसरदरुणरश्मिर्मध्यलोकावनीश[1] ।
प्रतिनिशमपमा[2]नोन्निद्ररक्ताक्षिपद्मै-
रपि रिपुभिरजस्र वीक्ष्यते तत्र भानु ॥13॥

शब्दचित्र यथा—

मण्डिताखण्डलाऽखण्डपाखण्डाद्दण्डपाण्डवे ।
चण्डदोर्दण्डकोदण्डपण्डितोऽयमकुण्डल[3] ॥14॥

समप्रधान यथा—

सिन्दूर रचयति रल्लके[4] वधूना
काश्मीरद्रवमुपलिम्पति स्तनान्त
लाक्षाभि पदतलरञ्जन तनोति
[11ब] प्रातस्त्यस्नपन[5] तवैव कान्तिपूर ॥15॥

तदेवमुत्तममध्यमाधमभेदात्काव्य त्रिविधम् । केचित्तु उत्तमोत्तम अधमाधममपि भेदमिच्छन्ति । तदेतेष्वेवान्तर्गतमिति विविच्य नोक्तम् ।

वहाँ अर्थचित्र जैसे—

हे पृथ्वीपति ! कदाचित् आपके दृगन्त (नेत्रो के कोने) किसी प्रकार (क्रोध मे) सूर्य की रश्मि को फैलाने वाले हो जाते हैं । अपमान के कारण जागते हुए लाल नेत्र-कमल वाले शत्रुओ के द्वारा, आपके दृगन्त भानु (सूर्य) नहीं होने पर भी प्रत्येक रात्रि को देखे जाते हैं ॥13॥

शब्दचित्र जैसे—

यह अकुण्डल (कृष्ण) आखण्डल (इन्द्र) के प्रखण्ड पाखण्ड को खण्डित करने वाले उद्दण्ड पाण्डव के लिए प्रचण्ड भुजखण्डो मे धारण किये हुए कोदण्ड (धनुष) का पण्डित है ॥14॥

---

1 हे (मू पा टि)
2 ० पयानो ०
3 कृष्ण (मू पा टि)
4 सीमन्ते (मू पा टि)
5 हे (मू पा टि)

समप्रधान जैसे—

हे सूर्य ! तुम्हारी प्रात कालीन कान्ति का समूह (रश्मिपुञ्ज हो) वधुओं की माग मे सिन्दूर लगाता है, उनके स्तनो के बीच मे काश्मीरद्रव (केसर) का विलेपन करता है और लाक्षारस से उनके पदतलो (पैरो के तलो) को रञ्जित करता है ।।15।।

इस प्रकार उत्तम, मध्यम और अधम भेद से काव्य तीन प्रकार का होता है । कुछ लोग उत्तमोत्तम और अधमाधम भेद भी मानते हैं । परन्तु ये भेद काव्य के इन्ही भेदो के अन्तर्गत आ जाते है, इसलिये उनका विवेचन यहाँ नही किया गया ।

काव्ये शक्तिरवस्थावदर्थो विश्वादिवन्मत ।
व्यङ्ग्यस्तैषा त्रिरूपत्व सूत्रात्मेव प्रकाशते ।।सू 28।।

शक्तिरिति वृत्तित्रयोपलक्षण, अवस्थाजाग्रत्स्वप्नसुपुप्तिसज्ञा, विश्वादिवत् विश्वतैजसप्राज्ञवत् । व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यत्रिष्व[1]नुगुणचमत्कारात् एतेन काव्यप्राणानामानन्दसहोदरत्व व्याख्यातम् ।

तदेवम्—

माधुशब्दार्थसन्दर्भगर्भा कस्यापि भारती
तदेव रमतामेति युवतीव पदे पदे ।
अर्थसूत्रनिबद्धाया भावो मणिरिवोज्ज्वल
शब्दमौक्तिकमालाया कण्ठमाश्लिषतादयम् ।।16।।

इति श्रीमत्महामहिमकविपण्डितश्रीमाथुरमिश्रगङ्गेशात्मजहरिप्रसादनिर्मिते काव्यालोके प्रथम प्रकाश ।।

काव्य मे शक्ति अवस्था के समान है । अर्थ विश्वादिवत् माना गया है । व्यङ्ग्य उन्ही का त्रिरूपत्व है जो सूत्रात्मरूप मे प्रकाशित होता है ।।सू 28।।

शक्ति (अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना) तीनो वृत्तियो को उपलक्षित करती है । जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति नाम वाली अवस्था है । विश्वादिवत् अर्थात् विश्व, तैजस और प्राज्ञ के समान । वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीनो मे व्यङ्ग्य का प्राधान्य अनुगुणचमत्कार के कारण होता है, इसी से काव्य-प्राणो (काव्यात्मा) का आनन्दसहोदरत्व कहा गया है ।

---

1 वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्येषु (मू पा टि)

इसीलिये—

रमणीय शब्दार्थ की सरचना स युक्त किसी (कवि) की भारती (वाणी) इस प्रकार पद-पद पर युवति के समान रसात्मकता को प्राप्त होती है। अर्थसूत्र मे बधी हुई और शब्द–मुक्ताओ की माला (को धारण करने वाली इस युवती रूपी कविभारती) का मणि के समान यह उज्ज्वल भाव (सहृदयो के) कण्ठ का आलिङ्गन करे ॥16॥

श्रीमन्महामहिम कवि पण्डित मथुरा-निवासी गङ्गेश के पुत्र हरिप्रसाद द्वारा विरचित काव्यालोक का प्रथम प्रकाश समाप्त हुआ ॥1॥

□

द्वितीय प्रकाश

ध्वनि-निरूपणम्

ध्वनिवैशिष्ट्येनोत्तमत्व काव्यस्येत्युक्त प्राक्, ध्वनिस्तावत्प्राप्ताव-सरतया निर्णीयते—

शब्दस्थानविलासोत्थ परमाह्ला[1]दकारणम् ।

[12 अ] अर्थरूपपरामर्शवेद्य कश्चिद् ध्वनिर्बुधा ॥ सू 29 ॥

शब्दस्थान शब्दाश्रय आकाशमुरजतन्तुकरतालमुखादि, तद्विलास प्रतिध्वनिसयोगजसन्निवेशादि, तदुत्थ । भयादिसाधारणोत्कर्णाकर्णन-तरलप्रेक्षणपरामर्शप्रयोजनादिरूप साधारणो ध्वनि । असाधारण पुन सुललितसन्निवेशचारुणा शब्देन सन्निधापितचमत्कारातिशय कश्चिदेव ध्वनि । यथा अर्थरूपपरामर्शवेद्यो ध्वनिर्नाम, शब्दश्चमत्कारातिशय । न ह्यर्थस्य घटपटादिवत्प्रत्यक्षोपलब्धिरपितु तदात्मना अर्थरूपेण, तत्तिरो-धाने यन्महिम्ना तस्यैव चारुसन्निवेशातिशयव्यक्तो भवति स चासौ ध्वनि । कश्चित्तु तादृशशब्दचमत्कारसवलितार्थचमत्कारगोचरीक्रिय-माणो विलक्षणचमत्कारातिशयरूप ।

ध्वनि का वैशिष्ट्य होने पर उत्तम काव्य होता है, यह पहले कहा जा चुका है। अब अवसर प्राप्त होने पर ध्वनि पर विचार किया जा रहा है—
ध्वनि—

शब्दस्थान के विलास मे उत्पन्न, परमाह्लाद का कारण, अर्थरूप परामर्श मे वेद्य कोई ध्वनि है—ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥ सू 29 ॥

शब्दस्थान अर्थात् शब्द का आश्रय— आकाश, मुरज (मृदग), तन्तु (वाद्य), करताल, मुख आदि । उसके विलास है—प्रतिध्वनि के सयोग मे उत्पन्न सन्निवेश आदि । ध्वनि उस (शब्दस्थान के विलास) मे उत्पन्न है (अर्थात् आकाश म

---

1 °ल्हा°

मुखादि के द्वारा उच्चारित का प्रतिध्वनि के साथ संयोग होने पर ध्वनि उत्पन्न होती है।) भय आदि में साधारणतः तान ऊँचे करके श्रवण, चञ्चल नेत्रों से दर्शन, परामर्श, प्रयोजन आदि रूप वाली साधारण ध्वनि है। पुनः अन्दी प्रकार से स्थित सौन्दर्ययुक्त शब्द में उपस्थापित चमत्कारातिशय ही कोई असाधारण ध्वनि है। जैसे जो ध्वनि अर्थरूप परामर्श से वेद्य (जानी जाती) है, वह शब्द से उत्पन्न चमत्कारातिशय रूप है। अर्थ की घट, पट आदि के समान प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती है, अपितु उन शब्दों में स्थित अर्थरूप से होती है। उस (वाच्यार्थ) का तिरोधान हो जाने पर जिस व्यङ्ग्यार्थ की महिमा से उस (व्यङ्ग्यार्थ) के ही चारुसन्निवेश (सुन्दरता से स्थिति) की अतिशयता की अभिव्यक्ति होती है, वही ध्वनि है। (कारिका में प्रयुक्त) कश्चित् (कोई) का अर्थ है इस प्रकार के शब्दचमत्कार से सवलित (साथ मिले हुए) अर्थचमत्कारगोचर किया जाने वाला विलक्षण चमत्कारातिशयरूप ही ध्वनि है।

यथा—

रागश्चक्षुषि नाधरे मृदुलता चित्ते पर नोरसि
व्रीडाकामनविभ्रमश्रमसहान्यङ्गानि कि चिन्त्यते।
[1]यन्माध्वीमधुमुग्धलुब्धमधुप व्यक्तीकृतस्त्वाशय
[12ब] तत्कान्तायुचपत्रवल्लिरचनापुष्पाऽपित ते वच ॥ 17 ॥

अत्र खण्डितात्ववचनव्यवत्यङ्गशब्दचमत्कारस्मवलितखण्डितात्वप्रदर्शकार्थमहिम्ना गोचरीकृतो वितर्केर्ष्यादिकोटिविलक्षणचमत्कारातिशय प्रकटीकरोति काव्यभावनाचमत्कार। तथाहि—

ताम्बूलादिरागरञ्जिताधरेण कामिनीप्रसादनोपलभ्यते।

इह तु चक्षुषि रागो नाधरे, स च न व्यापारान्तरेण[2], किन्त्वन्यकामिनीसम्भोगजन्मा। ताम्बूलचर्वणाऽभावनिमित्ताऽभावे[3] सति रागो नाधरे नास्ति। अस्ति तु परिचुम्बनाऽसलक्ष्यत्रमश्चक्षुषा रागवतोपलक्षित। ममैव मोहनिशाप्रदीपकर इत्यर्थचमत्कारकुक्षिसोल्लिहतो वितर्कस्तादृक्[4] चेष्टास्मरणोद्बोधक रागपदप्राप्य सहृदय[5]शेमुषीरसनया रस्यमान आस्वा-

---

1 यन्माधवी०
2 स्नानादिना (मू पा टि)
3 गौरादावित्यर्थ (मू पा टि)
4 भालतलाङ्गल्यादिस्पर्शनादिचेष्टा (मू पा टि)
5 ० शेमुषीर०

दविशेषो लोकोत्तराह्ला[1]दात्मा काव्योत्तमत्वकारणतां भजते। स च ध्वनिर्ध्वनिर्भवति।

जैसे--

(नायक के प्रति खण्डिता नायिका का कथन—) नेत्रों में रक्तिमता है, अधरों पर नहीं। चित्त में अत्यधिक मृदुलता है, वक्ष स्थल पर नहीं। क्रीडा-रूपी कानन में भ्रमण करने के श्रम को सहन करने वाले तुम्हारे अङ्ग हैं। (फिर) क्या चिन्ता है? माध्वीलता के मधुरस पर मुग्ध लोभी (प्राप्ति के इच्छुक) मधुप (भ्रमर) के समान अपने आशय को व्यक्त करने वाला जो तुम्हारा वचन है वह कामिनी के स्तनयुगल पर बनी लतारचना के पुष्प के समान हो गया है ॥ 17 ॥

यहाँ काव्य-भावना का चमत्कार है जो खण्डितात्व की वचन-व्यक्ति के भङ्गमूल शब्द-चमत्कार से मिले हुए, खण्डितात्व का प्रदर्शन करने वाले अर्थ की महिमा से प्रकट हुए, वितर्क-ईर्ष्या आदि की कोटि का छूता हुआ विलक्षण चमत्कारातिशय को प्रकट करता है। जैसे—

(यह कहा जाता है कि—) ताम्बूल (पान) आदि के राग से रञ्जित अधर में कामिनी को प्रसन्न करने की क्रिया व्यक्त होती है।

(नायक के नेत्रों की लालिमा देखकर नायिका वितर्क करती है कि) यहां नेत्रों में लालिमा है, ओठों पर नहीं और वह (लालिमा) स्नान आदि अन्य व्यापार में नहीं है, किन्तु अन्य स्त्री के सम्भोग से उत्पन्न है। तांबूल-चर्वणा के निमित्त (प्रिया को प्रसन्न करने) का अभाव (शोकादि विद्यमान) नहीं है परन्तु फिर भी अधरों पर लालिमा नहीं है (अर्थात् तांबूल-चर्वणा के होने का निमित्त है—प्रिया को प्रसन्न करना। शोक आदि अवस्थाओं में ताम्बूल का प्रयोग नहीं किया जाता। यहाँ शोकादि अवस्था नहीं है, परन्तु फिर भी तांबूल का प्रयोग नहीं किया, अतः अधरों पर लालिमा नहीं है)। नेत्रों में जो लालिमा लक्षित हो रही है, वह अन्य नायिका द्वारा परिचुंबनजनित है, यह असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि है। यह राग मेरे ही लिये मोहरूपी रात्रि का दोष उत्पन्न करने वाला है, इस प्रकार वितर्क अर्थ-चमत्कार की सीमा के भीतर स्थित है। भालतल पर अंगुलि आदि द्वारा स्पर्शनादि जैसी चेष्टाओं के स्मरण का बोध कराने वाले "राग" पद द्वारा गम्य (अर्थ) सहृदय की बुद्धिरूपी रसना से रस्यमान आस्वादविशेष, लोकोत्तराह्लादात्मकरूप ही काव्य की उत्तमता का कारण माना जाता है, और वही ध्वनि ध्वनि होती है।

---

1 ०ल्हा०

तथान्याङ्गनागाढालिङ्गनेन हारमणिचिह्नाना प्रकाशीकरणरूपको-[13 अ] मलताव्यक्त्या उरसि अस्त्येव मृदुलता पर नो चित्ते तत्र सभाविता[1] न मा पीडयेत् । यद्वा अस्त्येव चित्ते यदसमयेऽपि मय्यनुरागादागतोऽसि[2] पर नोरसि कान्तान्तरगाढनीपीडनरूपकार्यहेतुत्वात्[3]।

किञ्चाऽन्याङ्गेषु सभोगश्रमस्वेदशैथिल्यादिसत्त्वेऽपि किं चिन्त्यते क्रीडाकाननपरिभ्रमश्रमस्यापि[4] तत्र कारणत्वात् ।

यत्तु ते तावक वच तत्तु व्यक्तीकृतनिजाभिप्राय यतो माध्वीमधुमुग्धलुब्धमधुप निशि मधुपान ततस्तत्तत्सौरभसञ्चारलुब्धत्वेन कान्तामुखसम्पर्कि सौरभमुपलभ्यते । तदिद तव वच पुष्पायित कान्ताकुचस्थले कृताया पत्रवल्लिरचनाया । न चैव ध्वनेरविषयत्व शङ्कनीय पत्रवल्लिरचनाया एव फलत्वेनाभिमतत्वात् । स्वसन्निवेशितलतापुष्पादिना परचित्तरञ्जन तत्र च[5] रागातिशयसूचक ततश्च पुष्पाणा[6] तत्रैव स्थापन युक्तमिति शब्दार्थविलक्षणचमत्कारगोचरो ध्वनि ।

उसी प्रकार अन्य स्त्री के गाढ आलिङ्गन से हार की मणि के चिह्नों को प्रकाशित करने वाली कोमलता की अभिव्यक्ति के कारण ही वक्षस्थल पर मृदुलता है । किन्तु चित्त मे मृदुलता नही है । अगर चित्त मे कोमलता होती तो मुझे पीडा नही पहुँचाती । अथवा हृदय मे तो (मृदुलता) है जो असमय मे भी मेरे प्रति अनुराग के कारण आ गये हो (विपरीत लक्षणा से ईर्ष्या की अभिव्यक्ति है) । किन्तु अन्य स्त्री के गाढ आलिङ्गन रूप कार्य का हेतु होने से वक्ष स्थल पर (मृदुलता) नही है (अप्रस्तुतप्रशसा के कारण मे कार्य की अभिव्यक्ति है) ।

इसके अतिरिक्त अन्य स्त्री-सम्भोग के श्रम से उत्पन्न स्वेद, शैथिल्यादि अन्य अङ्गो पर होने पर भी क्या चिन्ता है, क्योकि क्रीडारूपी कानन मे परिभ्रमण करने का श्रम भी तो वहाँ कारण है (यहाँ अपह्नुति अलङ्कार है) ।

तुम्हारा जो वचन है वह अपने अभिप्राय को व्यक्त कर रहा है, जिसके कारण माध्वी के मधु पर मुग्ध लोभी भ्रमर के समान रात्रि मे किया गया मधु-

---

1 सती मृदुलता (मू पा टि)

2 विपरीतलक्षणाया ईर्ष्याभ्यक्ति (मू पा टि,)

3 अप्रस्तुतप्रशंसाकारणात् कार्यव्यक्ति (मू पा टि)

4 अपह्नुति (मू पा टि)

5 लतायामेव (मू पा टि)

6 ० ना

पान तथा उसी से उन-उन (भिन्न-भिन्न प्रकार के) सौरभ-सञ्चार के लोमीपन के कारण कान्ता के मुख से सम्पर्कित सौरभ का बोध होता है। अत तुम्हारा यह वचन कान्ता के कुचस्थल पर की गयी पत्रवल्लिरचना के पुष्प के समान है। इस प्रकार ध्वनि के अविषयत्व की शका नही करनी चाहिये, क्योंकि वचन को पत्र-वल्लिरचना के ही फलरूप मे मानना यहा अभीष्ट है। अपने द्वारा सन्निवेशित लता-पुष्प आदि के द्वारा परचित्तरञ्जन वही अर्थात् लता मे रागातिशय को सूचित करता है और उसी से पुष्पो की वही पर (कान्ता के स्तनमडल पर) ही स्थापना उचित है यह शब्दार्थविलक्षणचमत्कारगोचर ध्वनि है।

अर्थान्तरे सक्रमितमत्यन्त वा तिरस्कृतम्।
वाच्य स लक्षणामूलो ध्वनिर्वाक्ये पदे स्फुटम्॥ सू 30॥

[13 ब] तत्र ध्वनिर्द्विविध लक्षणामूल प्रथम अभिधामूलो द्वितीय। लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्यविवक्षितवाच्य प्रथम। स द्विविध अर्थान्तिरेसक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च। तादृशोऽपि पदगतो वाक्यगतश्चेति चतुर्विध। यथा—

त्वामस्मि वच्मि[1] विद्वत्सु युक्तमत्र विधीयताम्।
उक्तो वाक्ये पदे यस्य मित्र मित्र स जीवति॥ 18॥

अत्र अस्मीत्यहमर्थे वच्मीत्युपदेशे द्वितीयमित्रशब्द आश्वस्ताद्यर्थान्तरसक्रमितवाच्य।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य पदे यथा 'न विमुह्यन्ति धीराणा मनासी"-ति पदे स्फुटम्। अत्र विमुह्यन्तीति वैकल्ये लाक्षणिकम्।

वाक्ये यथा—"सौजन्यमुपकाराश्च क्व वाच्या सखे तव।"

अत्र सौजन्योपकारादीनामनुपयुज्यमानत्वादत्यन्ततिरस्कृतत्व अपकारिण प्रति विपरीतलक्षणया कश्चिद्वक्ति [ ]।

इति लक्षणामूलो ध्वनि।

ध्वनि-भेद—

अविवक्षितवाच्य लक्षणामूल ध्वनि—

जहाँ वाच्य अर्थान्तर मे सक्रमित हो जाता है अथवा अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है वह लक्षणामूलध्वनि होती है जो स्फुटरूप मे वाच्य तथा पद मे दृष्टिगोचर होती है॥ सू 30॥

---

1 उपदिशामीत्यर्थं (मू पा टि)

ध्वनि दो प्रकार की है–प्रथम लक्षणामूला और द्वितीय अभिधामूला। लक्षणामूला में गूढव्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर प्रथम अविवक्षितवाच्य ध्वनि होती है। वह अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूला ध्वनि) दो प्रकार की है—अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। वैसे भी (दोनों भेद) पदगत और वाक्यगत होने से ध्वनि चार प्रकार की हो जाती है। जैसे—

अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्य के उदाहरण—

मैं तुमको कहता (उपदेश देता) हूँ कि यहाँ विद्वानों में ठीक तरह से आचरण करना।

यह वाक्यगत अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य का उदाहरण हुआ। पदगत का उदाहरण जैसे—

जिसका मित्र (वस्तुत आश्वस्तत्व आदि धर्मयुक्त) मित्र है वही जीता है ॥18॥

यहाँ (प्रथम उदाहरण में) "अस्मि" यह "अहम्" अर्थ में (और) 'वच्मि' यह "उपदेश" (अर्थ में परिणत होने से अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि का वाक्यगत भेद है और द्वितीय उदाहरण में) द्वितीय "मित्र" शब्द आश्वस्तत्व आदि रूप अर्थान्तर में सङ्क्रमित वाच्य (होने पर पदगत का उदाहरण) है।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का उदाहरण—

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि पद में जैसे–"धीरपुरुषों के मन मोहित नहीं होते"। यहाँ पद में ध्वनि स्फुट है। यहाँ "विमुह्यन्ति" यह पद वैकल्य (संशय, सन्दिग्धता) में लाक्षणिक पद है।

वाक्य में (अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि) जैसे—

हे मित्र, तुम्हारे सौजन्य और उपकारों को किस प्रकार कहा जा सकता है?

यहाँ सौजन्य, उपकार आदि पदों के (मुख्य अर्थ की) सगति न होने से (वाच्य अर्थ का) अत्यन्ततिरस्कार करके (कोई अपकृत व्यक्ति) अपकार करने वाले के प्रति विपरीतलक्षणा में यह कह रहा है।

लक्षणामूल ध्वनि का विवेचन समाप्त हुआ।

विवक्षितान्यपरवाच्यस्यान्योध्वनिर्मत ।
कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम पर ॥सू 31॥

[14अ] व्यङ्ग्यप्रतीत्यनुकूलतयान्वऽयबोधे[1] विवक्षितान्यपरवाच्योऽभिधामूलोध्वनि । स च असलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम सलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमश्चेति द्विविध ।

आद्यो रसादि षोढाऽसौ स्पष्ट रूपमुदाहृतौ ॥सू 32॥

आद्योऽसलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ।

रसध्वनिर्यथा—

तल्लावण्य सुधारूप तदा विषमिवाधुना ।

अत्रानुभवैकगोचरमर्थं प्रकाशयता सर्वनाम्ना रसव्यञ्जकता ।

आदिपदाद्भावादि तत्र ।

भावो देवादिविषया रतिर्वा व्यभिचार्यपि ॥सू 33॥

भावध्वनिर्यथा—

ममामृतमिव स्वादु त्वया कण्ठीकृत विषम् ।

अत्र शिवविषयारति । व्यभिचारी यथा—

निद्रामुद्रितलोचनेन कथमप्यालिगिता कामिनी
यावत्कर्णरसायन कथयति प्रस्यन्दिदन्तच्छदा
उत्स्वप्नायितमायित समभवत्तावत्ततो गेहिनी-
नि श्वासोष्णिमबोधित[2] न सुखयत्यद्यापि कामाङ्कुर ॥19॥

अत्र विषाद ।

अभिधामूला या विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि—

वाच्य अर्थ के विवक्षित होने पर भी अन्यपरक (व्यङ्ग्यनिष्ठ) होने पर वह अन्य प्रकार की (अभिधामूला या विवक्षितान्यपरवाच्य) ध्वनि मानी जाती है । (इसके दो भेद होते हैं एक तो) कोई (अनिर्वचनीय अनुभवैकगोचर रसध्वनिरूप) असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (जिस मे वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों के क्रम की प्रतीति नही होती) और दूसरी सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (जिसमे वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों का क्रम लक्षित होता है) ॥सू 31॥

व्यङ्ग्यप्रतीति की अनुकूलता मे अन्वय-बोध होने पर विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूला ध्वनि होती है । वह (अभिधामूला ध्वनि) दो प्रकार की है—असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि और सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि ।

---

1 ० बोधे
2 ० बोधित

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादि ध्वनि—

रस आदि (1 रस, 2 भाव, 3 रसाभास, 4 भावाभास 5 भावोदय, 6 भावसन्धि 7 भावशबलत्व और 8 भावशान्ति ये आठो जब काव्य मे) स्पष्टरूप (प्रधानरूप) से स्थित होते है तब प्रथम रसादिरूप (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि) होती है। यह (रसादि ध्वनि 1 पदांश, 2 पद, 3 वाक्य, 4 प्रबन्ध, 5 वर्ण और 6 रचना-निष्ठ होने पर) छह प्रकार की हो जाती है ॥ सू 32॥

सूत्र मे "आद्य" से अभिप्राय है असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि।

रस-ध्वनि—

(प्रथम असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादि ध्वनि मे से) रसध्वनि जैसे—

(उस नायिका का) वह सौन्दर्य (संयोग के समय) अमृतसदृश था, परन्तु अब (वियोग मे) विष के समान है।

यहाँ (तत् आदि) सर्वनामो से (उस समय के) अनुभवैकगोचर अर्थ(व्यङ्ग्य रूप से) प्रकाशित होने से (विप्रलम्भ शृङ्गार) रस का उदाहरण है।

"रसादि" मे "आदि" पद से भाव आदि का ग्रहण होता है।

भाव—

देव आदि विषयक रति (आदि स्थायिभाव) और व्यभिचारिभाव "भाव" कहलाते है ॥सू 33॥

भावध्वनि का उदाहरण—

आपके द्वारा कण्ठ मे सन्निविष्ट विष मेरे लिए अमृत के समान रुचिकर है।

यहाँ शिवविषयक रति (होने से भाव-ध्वनि है)। व्यभिचारी(का उदाहरण) जैसे—

निद्रा के कारण बन्द आँखो वाले नायक के द्वारा किसी प्रकार (किसी बहाने से) कामिनी (नायिका) का आलिङ्गन कर लिया गया। जब तक तरल अधरो वाली नायिका ने कानों को मधुर लगने वाले शब्द कहे, तब तक नायक ने स्वप्न मे ही कुछ बोलना शुरु कर दिया। उस समय उस गृहिणी के निश्वासो की उष्मा से उसकी नींद टूट गयी। उस नायक को आज भी वह कामरूपी अङ्कुर कष्ट पहुँचाता है ॥19॥

यहाँ विषाद (रूपी व्यभिचारी व्यङ्ग्य) है।

अनौचित्येन च भवेदाभासो रसभावयो ॥सू 34॥

अनौचित्यप्रवर्त्तिता रसाभासाभावाभासाश्च ।

तत्र रसाभासो यथा—

क कृती चिन्त्यते चित्ते क पास्यत्यधरामृतम् ।

अत्र मध्ये निर्व्यापाराणा बहुविषयकत्वप्रतीते रसाभासो व्यङ्ग्य । भावाभासो यथा—

क्व हरिणशावाक्षी मामुरीकुरुते चिरम् ।

अत्राननुकूलकामिनीविषयत्वेन रतेरनुत्कृष्टत्वात्तद्विषयचिन्ताया अनुत्कृष्टत्वमिति भावाभास ।

भावस्य शान्तिरुदय सन्धि शबलता तथा ।।सू 35।।

व्यङ्ग्य इत्यर्थ ।

तत्र भावशान्ति —

अञ्जिताधरमनञ्जितेक्षण सज्जितोऽसि न्यमित्यवेक्षती ।[1]
आलिलिङ्ग मदयन्मनोभव माधवस्तदुचित चकार स ।।20।।

अत्र कोपशान्ति ।

भावोदयो यथा—

विपक्षरमणीनामग्रहान्मामवधीरितम् ।
मा भूत्सुप्त इति व्याजवलितेक्षणमैक्षत ।।21।।

अत्रौत्सुक्यरूपभावस्योदयो व्यङ्ग्य ।

रसाभास और भावाभास—

रस और भावो का अनुचित रूप से वर्णन "रसाभास" तथा "भावाभास" होता है ।।सू 34।।

(रस तथा भावों का) अनुचित रूप से किया गया वर्णन रसाभास तथा भावाभास कहलाता है ।

उनमे से रसाभास (का उदाहरण) जैसे—

चित्त मे किस सौभाग्यशाली के विषय मे सोच है, कौन अधरामृत का पान करेगा ।

यहाँ व्यापाररहित जनो के मध्य बहुविषयकता की प्रतीति होने पर रसाभास व्यङ्ग्य है ।

---

1 अपाणिनीय प्रयोग

भावाभास जैसे—

हरिण-शावक के समान (चञ्चल) नेत्रों वाली किस प्रकार से दीर्घकाल तक मुझे हृदय में स्थित करेगी ?

अननुकूल कामिनी के विषय में रति अनुत्कृष्ट होती है अत यहाँ उसके (अननुरक्ता कामिनी के) विषय में चिन्ता का अनुत्कृष्टत्व (अनौचित्य) होने से भावाभास का उदाहरण है।

भावशान्ति आदि चार—

भाव की शान्ति, भाव का उदय, भावसन्धि तथा भावशबलता (ये चारों भी भावों के साथ गिने जाने चाहिये) ॥ सू 35 ॥

(भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता ये भी) व्यङ्ग्य होते हैं, यही अर्थ है।

भावशान्ति का उदाहरण—

उनमें से भावशान्ति जैसे—

अञ्जित (सज्जित या रंगे हुए) अधरयुक्त, अञ्जनरहित नेत्र वाले तुमको (विसन) कैसे जीत लिया, इस प्रकार साचती हुई नायिका के काम को उत्कर्षशाली बनाते हुए माधव ने उसका आलिङ्गन कर लिया, वह उन्होंने (माधव ने) उचित ही किया ॥ 20 ॥

यहाँ कोप (रूप भाव की) शान्ति (प्रदर्शित हुई) है।

भावोदय का उदाहरण—

भावोदय जैसे—

सपत्नी का नाम लेने पर (नायिका ने) मुझे फटकार दिया। (फिर) कहीं सो न गया हो (सोया हुआ न हो) इसलिए बहाने से नेत्र घुमाकर मुझे देखने लगी ॥ 21 ॥

यहाँ औत्सुक्य रूप भाव का उदय व्यङ्ग्य है।

भावसन्धिर्यथा—

> तत्राद्रुरविनाशाय मनो धावति चंक्रत ।
> रणादि चान्यतश्चित्तमेनदालिङ्गनाय मे ॥ 22 ॥

अत्रगर्वौत्सुक्ययो[1] । यथा वा—

विलोलभ्रूवल्लीमुकुलितविलासे[2] मधुरिपौ
रथारूढे मन्द व्रजति हसितक्रीतभुवने ।
व्रजस्त्रीणामन्त प्रसरति पर मोदमहिमा

[15 अ] मुर्हु कम्प धत्ते कलयति च विश्रम्भमधिकम् ।। 23 ।।

अत्र हर्षविषादयो ।
अथ भावशबलता[3]—

रह प्राप्तापि निर्मुक्ता क्वाऽकार्य्यव्यवसायिता ।
कोपऽपि कमनीयास्या को धास्यति युवाधरम ।। 24 ।।

अत्र निर्मुक्तेति पश्चात्ताप क्वाकार्येति वितर्क, कोपेपीति स्मृति को धास्यतीति चिन्ता । एतेषा पूर्वपूर्वोपमर्दनेन शवलता[3] चमत्कारो व्यङ्ग्य ।

मुख्ये रसेऽङ्गित्वमेषा राजानुगतभृत्यवत् ।। सू 36 ।।
विवाहप्रवृत्त भृत्यानुगतराजवत् भावशान्त्यादीनामङ्गित्वमित्यर्थ ।
रसादिरित्युक्तम् ।

भावसन्धि का उदाहरण—

भावसन्धि (का उदाहरण) जैसे—

एक ओर मेरा मन क्षत्रियवश के अङ्कुर के विनाश के लिये दौड रहा है और दूसरी ओर उसके आलिङ्गन के लिये मेरा चित रुका जा रहा है ।। 22 ।।

यहा गर्व और औत्सुक्य की (सन्धि) है । अथवा—

चञ्चल भ्रूलता के विलास को व्यञ्जित करने वाले तथा अपनी हँसी से भुवन को खरीद लेने वाले मधुरिपु (श्रीकृष्ण) के रथारूढ होकर मन्दगति से जाने पर व्रज-स्त्रियो का अन्त करण अत्यधिक प्रसन्नता की महिमा को फैलाता है, पुन वह बार-बार काँप उठता है, फिर उनके प्रति अधिक विश्वास को प्रकट करता है ।। 23 ।।

---

1 गर्वोत्सु०
2 ० तमिलाप
3 ० बलता

यहाँ हर्ष और विषाद की (सन्धि) है।

भावशबलता का उदाहरण—

अब भावशबलता (का उदाहरण) है—

एकान्त मे प्राप्त होने पर भी छोड दी गई है, "इसमे अनुचित कार्य नहीं है"—ऐसा कहकर प्रवृत्त की गई, वह सुन्दरी तो क्रोध मे भी सुन्दर मुखवाली थी। (न जाने) कौन युवक उसके अधरो को धारण करेगा? ॥ 24 ॥

यहाँ "निर्मुक्ता" यह कहने मे पश्चात्ताप है। "अकार्य" इस वाक्य मे वितर्क है। "कोपेऽपि" मे स्मृति तथा "को धास्यति" मे चिन्ता है। इन भावो के पूर्वपूर्वोपमर्दन से शबलता का चमत्कार व्यड्ग्य है।

रस के मुख्य होने पर भी इनका अङ्गित्व (प्राधान्य) राजा से अनुगत भृत्यो के समान (कभी-कभी) हो जाता है ॥ सू 36 ॥

राजा से अनुगत विवाह के लिये जाते हुए भृत्य के समान भावशान्ति आदि की प्रधानता (अङ्गित्व) हो जाती है, यह अभिप्राय है। (अर्थात् जैसे राजा की प्रधानता होने पर भी किसी भृत्य का विवाह होने पर, राजा भी वहाँ उपस्थित रहता है, परन्तु प्राधान्य भृत्य का ही रहता है। उसी प्रकार रस का प्राधान्य होने पर भी कहीं-कहीं आपातत भावशान्ति आदि की प्रधानता हो जाती है।)

रसादि का विवेचन कर दिया गया।

योढेत्याह—

पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादय ॥ सू 37 ॥

नामधातुरूपप्रकृतिभागसुप्तिङ्रूपविभक्तिभागोपसर्गादिरूपपदैक-देशपदवाक्यप्रबन्धवर्णरचनानिष्ठतया षड्विध ।

तत्र पदांशमध्ये प्रकृतेर्यथा—

दिनान्येव पदान्येव गत विमनुनीयते ।

अत्र द्वारादिपदत्यागेन पदानीत्युक्त तेनौत्कण्ठातिशयो व्यड्ग्य ।
धातोर्यथा—

गलन्नीवि श्लथद्वासो जयति प्रेमचेष्टितम ।

अत्र जयतीति रत्युत्कर्षो व्यड्ग्य ।

सुप्तिडोर्यथा—

लिखन्नास्तेऽधुना भूमि कान्त कि कर्तुमिच्छसि ।

[15 ब] अत्र लिखन्निति शतृप्रत्ययेन आऽस्त इति लटा भूमिमिति द्वितीयया च क्रमेणाऽबुद्धिपूर्वकरूपत्वमऽप्राधान्यमवस्थानस्य प्रसादपर्यन्त लेखस्याऽकर्मकत्व चबो[1]ध्यते तेनानुरागातिशयो व्यङ्ग्य ।

रसादि ध्वनि के छह भेद—

(रसादि के) छह प्रकारो को कहते हैं—

रसादि ध्वनि पदैकदेश(पदाश),रचना और वर्णों मे भी होती है ।।सू 37।।

नाम, धातुरूप, प्रकृतिभाग, सुप्तिङ्रूप, विभक्तिभाग, उपसर्ग आदि रूप 1 पदैकदेश, 2 पद, 3 वाक्य, 4 प्रबन्ध, 5 वर्ण तथा 6 रचना-निष्ठ होने से यह (रस आदि ध्वनि) छह प्रकार की होती है ।

प्रातिपदिकरूप पदैकदेश या प्रकृति द्वारा रस की व्यञ्जकता—

इनमे से पदाश के मध्य (प्रतिपादिकरूप) प्रकृति के व्यञ्जकत्व का उदाहरण, जैसे—

यह (नायक) दो-तीन पग ही गया है, इसका क्या अनुनय किया जाय ?

यहाँ (दो-तीन) 'द्वारादि" शब्द का प्रयोग न करके (दो-तीन) "पग" यह कहा गया है और इस कथन से एक उत्कण्ठा का अतिशय व्यङ्ग्य है । (यहाँ "पदानि" इस पद के एक देश "पद" इस प्रातिपदिकरूप अश से सम्भोग शृङ्गार की अभिव्यक्ति होती है, अत यह प्रातिपदिकरूप पदैकदेश या प्रकृति की रसव्यञ्जकता का उदाहरण है ।)

धातुरूप प्रकृति द्वारा रस की व्यञ्जकता—

धातु से (रसादि ध्वनि की व्यञ्जकता हो सकती है) जैसे—

खुली जा रही नीवी (लहगे की गाँठ) और खिसकते हुए वस्त्र वाली प्रेम-चेष्टाओ की जीत हो ।

यहाँ "जयति" इस (धातु)से रत्युत्कर्ष व्यङ्ग्य है (अत धातुरूप प्रकृति के व्यञ्जकत्व का उदाहरण है ।)

प्रत्ययाश द्वारा रस की व्यञ्जकता—

सुप् और तिङ् (रूप प्रत्ययो के व्यञ्जकत्व का उदाहरण) जैसे—

---

1 वो ०

इस समय (तुम्हारे) प्रियतम (निरुद्देश्यभाव) में भूमि कुरेदते हुए बैठे हुए हैं, क्या करना चाहती हो।

यहाँ 'लिखन्' इस शतृप्रत्यय से (लिखन् क्रिया की) अप्रधानता होने से उसके अबुद्धिपूर्वकत्व की सूचना मिलती है (अर्थात् कुछ लिख नहीं रहा है अपितु किंकर्त्तव्यविमूढ अवस्था में यों ही भूमि कुरेद रहा है)। 'आस्ते' में (प्रारब्ध कार्य की अपूर्णता का बोधक) लट् लकार का प्रयोग होने से बोधित होता है कि तुम्हारे प्रसन्न होने तक इसी भांति बैठा रहेगा। 'भूमिम्' में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होने से (भूमि को कुरेद रहा है अत) लेख की अनमकता बोधित होती है और इसमें अनुरागातिशय व्यङ्ग्य है।

सम्बन्धस्य यथा—

रम्यह नागरीणा पत्युश्चेतो विभू सते[1]।

अत्र षष्ठ्या पतिकलाऽभिज्ञताख्य उत्कर्षातिशयो व्यज्यते।

> वाक्य परशुरामस्य रघूणामरुजन्मन।
> रमणीय कुमारोऽयमासीदिति पथि श्रुतम्॥ 25॥

अत्र आसीदिति [2]लङाऽतीतकालविहितेनाऽचिरात्तदीयहिंसाया सुकरत्व व्यञ्जयता भार्गवक्रोधातिशयो व्यज्यते।

वचनस्य यथा—

> तान्यौत्सुक्यानि सा प्रीतिरवसानमथेदृशम्।

अत्र गुणग्रहणादीना [3]बहुत्व प्रेम्णश्चैकत्व बहुवचनैकवचनाभ्या द्योत्यते।

पुरुषव्यत्ययस्य यथा—

> मुञ्चाशा हरिणाक्षीषु कि मन्ये[4] विहरिष्यसि।

अत्र "प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च" इति युष्मदस्मदोर्योगे उत्तममध्यमयोर्विपर्ययेन विधान प्रहासव्यञ्जकम्।

सम्बन्ध की व्यञ्जकता—

सम्बन्ध (षष्ठी विभक्ति) की (रस-व्यञ्जकता का उदाहरण) जैसे—

---

1 हे (मु. पा. टि.)

2 लुटा०

3 ब०

4 त्व मन्यमेऽह विहरिष्यसे इति आशा स्त्रीषु मुञ्चेत्यर्थ (मु. पा. टि.)

अरी बिगडैल ! मैं तो नागरियो के पतियो के चित्त को (भी) वश म कर लेती हूँ।

यहा "नागरीणा" इस षष्ठी विभक्ति स पतिकला की अभिज्ञतारूप चातुर्य का उत्कर्षातिशय व्यञ्जित होता है।

(प्रत्ययाश द्वारा रौद्ररस की अभिव्यक्ति का उदाहरण है—)

"यह कुमार (रामचन्द्र) सुन्दर था, यह मार्ग मे सुना गया था"— परशुराम के इस वाक्य न रघुवंशियो के मन को पीडित (दुखी) किया ॥ 25 ॥

यहाँ 'आसीत्" पद मे लङ्लकार से भूतकाल सूचित होता है (अर्थात् धनुष तोडने मे पहले रामचन्द्र रमणीय था अब नही, यह प्रतीत होता है)। अत शीघ्र ही उसे मारना सरल है, यह व्यञ्जित होने से भार्गव (परशुराम) का क्रोधातिशय व्यञ्जित होता है (अत तिङन्त "आसीत्" पद के प्रत्ययाश लङ्लकार मे रौद्ररस व्यङ्ग्य है)।

वचन की व्यञ्जकता—

वचन (बोधक प्रत्ययरूप अश की रसव्यञ्जकता) का (उदाहरण) जैसे—

वे उत्सुकताएँ, वह प्रीति और अब इस प्रकार का अवसान (अन्त)।

यहाँ गुणग्रहण आदि का बहुत्व (नानाविधता) और प्रेम का एकत्व (सदैव एक रूप मे स्थिति) क्रमश बहुवचन और एक वचन से द्योतित होता है।

प्रत्ययाश रूप पुरुष व्यत्यय (परिवर्तन) की रसव्यञ्जकता—

पुरुष के परिवर्तन की (रसव्यञ्जकता का उदाहरण) जैसे—

(मन को सम्बोधित करते हुए विरक्त पुरुष का कथन—) तू सोचता है कि मैं विहार करूँगा, मृगनयनी स्त्रियो मे इस प्रकार की आशा को त्याग दे।

"प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तमैकवच्च" (1–4–106) पाणिनि के इस सूत्र के अनुसार मन् धातु उपपद रहने पर युष्मद और अस्मद के योग मे उत्तम और मध्यम का विपर्यय करके (मध्यम पुरुष के स्थान पर उत्तम पुरुष का और उत्तम पुरुष के स्थान पर मध्यम पुरुष का) विधान किया गया है। इसी के अनुसार यहाँ पुरुषव्यत्यय से प्रहास व्यङ्ग्य है।

पूर्वनिपातस्य यथा—

पराक्रमस्थितिर्येषा द्विषाम्ने तु भवादृशा।

[16अ]—अत्र पराक्रमप्राधान्यं व्यङ्ग्यम्।

अयोधि दिवसं धान्यैर्दिनेनाऽयुद्ध तद्भवान्।

अत्र दिनेने 'त्यपवर्गे तृतीया' फलप्राप्तिं द्योतयति।

एवम्—

[1]विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो।

विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते॥

इत्यादौ उपसर्गस्य।

तरुणिमनि[2] कलयति कलामनुमदनधनुर्भ्रुवो: पठत्यग्रे।

अधिवसति सकलललनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना॥ 26॥

अत्र तरुणि[3]मनीतीमनिच्, अनुमदनधनुरित्यव्ययीभावस्य, मौलिं वसतीति कर्मभूताधारस्य। तरुणत्वे[4] धनु[ष] समीपे[5] मौलौ वसतीति तुल्येऽपि वाचकत्वे अस्ति कश्चित्स्वरूपकृतो विशेषः स एव व्यञ्जकः।

वर्णरचनानां व्यञ्जकत्वं गुणस्वरूपादौ बोध्यम्।

इति षोढा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः।

पूर्वनिपात की रसव्यञ्जकता—

पूर्वनिपात की (रसव्यञ्जकता का उदाहरण) जैसे—

पराक्रम और स्थिति जिनमें है, ऐसे आपके जैसे वे (राजा) दो तीन ही हैं।

यहाँ पूर्वनिपात से पराक्रम का प्राधान्य व्यङ्ग्य है।

---

1 परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान्।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च तनुते। —मालतीमाधव,-1,31

2 तरुमणिमनि

3 तरुणम०

4 ०णत्व

5 ०मीप

विभक्ति की व्यञ्जकता—

अन्य (व्यक्तियों या शत्रुओं) ने सारे दिन युद्ध किया (पर विजय की प्राप्ति नहीं हुई), परन्तु आपने एक ही दिन मे (विजय प्राप्त कर) युद्ध समाप्त कर दिया ।

यहाँ 'अपवर्गे तृतीया" (2—3—6) इस सूत्र से "दिनेन" मे तृतीया विभक्ति हुई है (और उस तृतीया विभक्ति से विजय-रूप) फल की प्राप्ति सूचित होती है ।

उपसर्ग की व्यञ्जकता—

इसी प्रकार ('मालतीमाधव" नाटक, प्रथम अंक के श्लोक की उत्तरार्द्ध-पंक्तियाँ हैं—)

विवेक का नाश होने पर बढे हुए महान् अज्ञानरूपी मोह से गहन कोई (अनिर्वचनीय कामज) विकार अन्त करण को जड बना रहा है और सन्तप्त कर रहा है ।

यहाँ ("प्रध्वस" पद मे ' प्र" शब्द रूप) उपसर्ग की (व्यञ्जकता है जिससे विप्रलम्भ द्योतित होता है) ।

अनेक प्रत्ययांशों की व्यञ्जकता—

नवयौवन का उदय होने पर (नायिका द्वारा) कामदेव के धनुप के समीप (बैठकर) भौंहो की कलाओ को सर्वप्रथम पढ लेने (जान लेने) पर, चकित हरिण के समान चचल नेत्र वाली यह (नायिका) समस्त सुन्दरियों की शिरोभूषणता को प्राप्त कर रही है ॥26॥

यहाँ ' तरुणिमनि'' मे इमनिच् प्रत्यय (तारुण्य मे भी सौकुमार्यातिशय के बोधन के लिये प्रयोग किया गया है) । "अनुमदनधनु " इस पद मे (पूर्व पदार्थ-प्रधान) अव्ययीभाव समास (उत्तरपदरूप मदनधनु की अप्रधानता के प्रकाशन द्वारा भ्रूलताग्र के वशीकरण-सामर्थ्य की अतिशयता को अभिव्यक्त करता है) । "मौलि वसति" इस पद मे कर्मभूत आधार (अर्थात् कर्मविभक्ति के प्रयोग से नायिका के सौन्दर्यातिशय की अभिव्यक्ति होती है । तरुणिमनि के स्थान पर) तरुणत्व (प्रयोग और अनुमदनधनु के स्थान पर) धनुष समीप (प्रयोग और मौलि अधि-वसति के स्थान पर) मौलौ वसति (का प्रयोग) समान अर्थ वाला होने पर भी (तरुणिमनि आदि मे) स्वरूप की कुछ विशेषता है जिससे यहाँ उस (विशेषरूपता) की ही व्यञ्जकता मानी गई है ।

वर्णों और रचना के व्यञ्जकत्व के उदाहरण गुण-स्वरूप (पञ्चम प्रकाश) के विवेचन में कहे जायेंगे।

इस प्रकार असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि छह प्रकार की है।

लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमस्त्रेधा शब्दार्थोभयशक्तिज ॥सू० 38॥

शब्दशक्त्युत्थ अर्थशक्त्युत्थ उभयशक्त्युत्थश्चेति त्रिधा।

आद्य विभजते—

वस्त्वलङ्काररूपत्वात् शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ॥सू० 39॥

वस्तुरूप अलङ्काररूपश्च।

[16ब]—आद्यो य ? था—

पयोधरोन्नतिं दृष्ट्वा वमता यदि राचते।

अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तदाऽऽस्वेति वस्तुमात्र व्यञ्जते।

द्वितीयो यथा—

विनैव पयसो वृष्टि रस दत्ते पयोधर।

अत्र वाक्यस्यासम्बद्धार्थत्व मा प्रसाक्षीदिति विभावनालङ्कारो व्यङ्ग्य।

यथा वा—

> द्विपत्प्रतापदहनस्तद्बालानयनाम्बुभि।
> शमिता धूमलेशेय करे तव कृपाणिका ॥27॥

अत्र प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुपमानोपमेयभावो व्यङ्ग्य।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि—

(अभिधामूला ध्वनि का भेद) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि तीन प्रकार की होती है—(1) शब्दशक्त्युत्थ, (2) अर्थशक्त्युत्थ और (3) उभयशक्त्युत्थ ॥सू० 38॥

शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ भेद से संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि तीन प्रकार की है।

शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि के दो भेद—

प्रथम (शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि) के भेद हैं—

वस्तु और अलंकार भेद से शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि दो प्रकार की होती है ॥सू० 39॥

(शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि के दो भेद हो जाते है—) (1) वस्तुध्वनि और (2) (2) अलङ्कारध्वनि ।

शब्दशक्त्युत्थ वस्तुध्वनि—

प्रथम (वस्तुध्वनि का उदाहरण) जैसे—

यदि रुचिकर लगे तो पयोधरो की उन्नति (बादलो का उमडता हुआ, स्तनो को उभरता हुआ) देखकर रुक जाओ ।

(यह वाक्यार्थ है । व्यङ्ग्यार्थ है कि यदि रुचिकर हो तो उरोजो की उन्नतता को देखकर रुक जाओ) ।

यहाँ यदि तुममे उपभोग की क्षमता हो तो रुक जाओ । यह वस्तु व्यञ्जित होती है (अत वस्तुध्वनि का उदाहरण है) ।

शब्दशक्त्युत्थ अलङ्कारध्वनि—

द्वितीय (अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण) जैसे—

पय (जल) की वृष्टि के बिना ही पयोधर (बादल अथवा उरोज) रस देता है ।

यहाँ वाक्य की असम्बद्धार्थता का प्रसग न आए, अत विभावना अलङ्कार व्यङ्ग्य है । अथवा दूसरा उदाहरण—

शत्रुओ के प्रताप की अग्नि, उस बाला के नयनाश्रुओ से बुझ गई । यह जो तुम्हारे हाथ मे कृपाणिका है, यह धूमलेखा है ।।27।।

यहाँ प्राकरणिक और अप्राकरणिक का उपमान-उपमेयभाव (होने से उपमालङ्कार) व्यङ्ग्य है ।

स्वत सम्भव्यर्थशक्त्युत्थ कविप्रौढोक्तिकल्पित ।
कविकल्पितवक्त्रोक्तिसिद्धश्चेति त्रिधा मत ।।सू० 40।।

अर्थशक्त्युत्थो ध्वनि स्वत सम्भवी कविप्रौढोक्तिसिद्ध कवि-कल्पितवक्त्रोक्तिसिद्धश्चेति त्रिधा ।

वस्तु वालङ्कृतिर्वेति षट् भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ।
तेन द्वादशधाभिन्न स्पष्ट रूपमुदाहृतो ।।सू० 41।।

तादृशो ध्वनिर्वस्तुरूप अलकारस्पश्चेति षट्भेद । व्यञ्जकार्य-भेदाद्द्वादशधा । वस्तुना वस्तु व्यक्ति, तेन[1] चालङ्कार, अलङ्कारेण

1 वस्तुना (मू पा टि)

वस्तुव्यक्ति, अलङ्कारेण चालङ्कार व्यक्तिरिति प्रत्येक चतुर्भेदात् [17अ] ^ द्वादशभेदा ।

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के बारह भेद—

(संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का द्वितीय भेद) अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि तीन प्रकार की मानी गई है—(1) स्वत सम्भवी (अर्थात् लोक मे पायी जाने वाली), (2) कवि की प्रौढोक्ति मात्र (उक्ति प्रागल्भ्य) से कल्पित और (3) कविकल्पित वक्ता की प्रौढोक्ति मात्र से सिद्ध (अर्थात् लोक मे नही पाये जाने पर भी कवि-कल्पित वक्ता के द्वारा प्रौढोक्ति से कल्पित) ।।सू 40 ।।

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि तीन प्रकार की होती है—(1) स्वत सम्भवी, (2) कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध और (3) कविकल्पितवक्त्रोक्तिसिद्ध ।

वे तीन प्रकार (के ध्वनि भेद) वस्तु और अलङ्काररूप से छह प्रकार के होते हैं तथा वे वस्तु अथवा अलङ्कार दोनो को व्यक्त करते हैं, अत काव्य मे अर्थशक्त्युत्थध्वनि के बारह भेद स्पष्टरूप से कहे गये हैं ।।41।।

वह (तीन प्रकार की अर्थशक्त्युत्थ) ध्वनि वस्तुरूप और अलङ्काररूप होने मे छह प्रकार की हो जाती है, व्यञ्जक अर्थ के भेद से उसके बारह प्रकार हो जाते हैं । अर्थात् (1) वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य, (2) वस्तु से अलङ्कार (व्यङ्ग्य), (3) अलङ्कार से वस्तु व्यङ्ग्य और (4) अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य, ये चार भेद प्रत्येक (तीनो अर्थशक्त्युत्थ) के होने से अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के बारह भेद हो जाते हैं ।

तत्र स्वत सम्भवी यथा—

पूर्त्तप्रियो धनीत्युक्ते जहास मदिरेक्षणा ।

अत्र ममैवोपभोग्य इति वस्तुना वस्तुव्यक्ति ।

रते वदसि धन्याऽस्मि न स्मराम्यहमीदृशी ।

अत्र त्वमधन्या अह तु धन्येति व्यतिरेकालङ्कार ।

यमदण्ड इवालोकि कोदण्ड समरेऽरिभि ।

कालीरटाटामालेव बाणालिनिस्सरत्यसौ ।।28।।

अत्रोपमालङ्कारेण सकलरिपुब[1]लक्षय क्षणात्करिष्यते इति वस्तु ।

मानमोषारुण वैरितारीनयनपङ्कजम् ।

पुण्डरीकमिवाभाति दारुणारुणा हरे ।।29।।

---

1 ०व०

अत्र ईषदरुणदृष्ट्याऽरुणनयनकमलस्य पुण्डरीकत्वविरोधनिदर्शन-समकालमेव शत्रुव्यापादनमिति तुल्ययोगिता उपमाव्यक्तिर्वा ।

एषु औचित्येन सम्भाव्यमान स्वत सम्भवी ।

(1) स्वत सम्भवी वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य—

स्वत सम्भवी का उदाहरण जैसे—

(तुम्हारा वर) धूर्तों मे अग्रणी और धनी है, ऐसा कहे जाने पर मादक नेत्रो वाली (बाला) हँसने लगी ।

यहाँ "वह मेरे ही उपभोग के योग्य है" यह वस्तु (जहास रूप) वस्तु से व्यङ्ग्य होती है ।

(2) स्वत सम्भवी वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य—

(एक सखी का दूसरी सखी के प्रति कथन—) तुम धन्य हो जो रति के समय बोलती हो, मैं ऐसी हूँ कि मुझे उस समय कुछ स्मरण नही रहता ।

यहाँ तुम तो धन्य नही हो किन्तु मैं धन्य हूँ यह (दूसरी सखी की अपेक्षा आधिक्य दिखाने से) व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य है ।

(3) स्वत सम्भवी अलङ्कार से वस्तु व्यङ्ग्य—

युद्धभूमि मे शत्रुओ ने धनुष को यमदण्ड के समान और धनुष से निकलने वाली बाणो की श्रेणी को काली (दुर्गा) की कटाक्षमाला के समान देखा ।।28।।

यहाँ (काली की कटाक्षमाला के समान इस) उपमा अलङ्कार से "क्षणभर मे समस्त शत्रुओ का विनाश कर दिया जायेगा", यह वस्तु व्यक्त होती है ।

(4) स्वत सम्भवी अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य—

मानरूपी क्रोध से अरुण शत्रु-स्त्रियो के नेत्रकमल को हरि की कुछ अरुण दृष्टि द्वारा पुण्डरीक (श्वेत कमल) के समान कर दिया गया ।।29।।

यहाँ कुछ अरुण दृष्टि से अरुण नेत्र-कमल के पुण्डरीकत्व का विरोध दिखायी देने के साथ-साथ, (समकाल) ही शत्रुओ को मार दिया गया, यह तुल्ययोगिता अलङ्कार अथवा (पुण्डरीक के समान इससे) उपमा अलङ्कार व्यक्त होता है ।

इन (उदाहरणो मे) औचित्य के द्वारा सम्भाव्यमान (अर्थात् लोक मे सम्भव होने से) स्वत-सम्भवी है ।

कविप्रौढोक्तिसिद्धो यथा—

त्वत्त समुद्गता कीर्ति पूरयन्ति मुनीश्वरा ।
नवपुष्पोपहारेण हिमाद्रेरिव जाह्नवीम् ॥30॥

अत्र मुनीना कीर्त्तौ जाह्नवीबु[1]द्युदयेन विहितनवपुष्पोपहारस्य [17व]—कीर्त्तिजनकत्व, ततश्च वस्तुना येषामर्थाधिगममो नास्ति (तेषामप्येवमादिबुद्धिजननेन चमत्कार करोति त्वत्कीर्त्तिरिति वस्तु ।

केशग्राह गृहीताया त्वया वीरजयश्रियाम् ।
रिपून् कण्ठे नु गृह्णन्ति सत्वर गिरिकन्दरा ॥31॥

अत्र केशग्रहणावलोकनोद्दीपितमदना इव कन्दरास्तद्विधुरान्[2] कण्ठे गृह्णन्तीति वस्तुना उत्प्रेक्षाव्यक्ति ।

मान प्रयाति हृदयान्नि पीडनभयादिव ।
गाढालिङ्गनकामेन त्वया स्पृष्टेऽङ्गनाजने ॥32॥

अत्रोत्प्रेक्षया प्रत्यालिङ्गनादिकम्[3] ।

कविवक्त्राम्बुजावासा हसन्तीवाम्बुजासनम् ।
जयत्यमिनवारब्धभुवना सा सरस्वती ॥33॥

अत्रोत्प्रेक्षया व्यतिरेक ।

(5) कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य—

कविप्रौढोक्तिसिद्ध (अर्थशक्त्युत्थ के उदाहरण) जैसे—

मुनिजन तुमसे उत्पन्न कीर्त्ति को हिमालय से निकली गङ्गा के समान (जानकर) नवीन पुष्पो के उपहार से परिपूर्ण कर देते है ॥30॥

यहाँ मुनियो की कीर्त्ति मे जाह्नवीविषयक बुद्धि उत्पन्न होने से नवपुष्पो के उपहार-विधान द्वारा कीर्त्ति जनकत्व ध्वनित होता है और तब इस वस्तु से जिन (मुनियो) को अर्थ का ज्ञान नही है उनकी भी इस प्रकार की (कीर्त्ति के धवलतातिशय के कारण जाह्नवी रूप) बुद्धि को उत्पन्न करके तुम्हारी कीर्त्ति चमत्कार उत्पन्न करती है, यह वस्तु (ध्वनित होती) है ।

---

1 ०बु०
2 तस्या जयश्रिया विधुरान् रिपून् कन्दरा कण्ठे गृह्णन्ति । (मू पा टि)
3 वस्तु (मू पा टि)

(6) कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य—

तुम्हारे द्वारा (युद्धभूमि मे या सुरतभूमि मे) केशों मे पकडकर वीरजयश्री को ग्रहण करने पर गिरिकन्दराओ ने शत्रुओं को शीघ्र ही गले मे लिपटा लिया ॥31॥

यहा (राजा के द्वारा वीरजयश्री के) केशग्रहण के अवलोकन रूप वस्तु मे मदनोन्मत्त-सी होकर कन्दराएँ मानो उसकी (राजा की जयश्री से रहित) शत्रुओ के गले मे लिपट रही है, यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

(7) कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से वस्तु व्यङ्ग्य—

गाढ आलिङ्गन की इच्छा वाले तुम्हारे द्वारा अङ्गनाओ को देख जान पर (कही बीच मे पिस न जाऊ इस) दब जाने के भय से मानो (मानिनी का) मान हृदय से निकल रहा है ॥32॥

यहा उत्प्रेक्षा अलङ्कार मे प्रत्यालिङ्गन आदि वस्त व्यङ्ग्य है।

(8) कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य—

कवि के मुखकमल मे निवास करने वाली वह वाणी (नव-निर्माण मे असमर्थ और जड) कमल पर आसीन ब्रह्मा का मानो उपहास करती हुई, नवीन भुवनो का आरम्भ करने वाली (अलौकिक चमत्कारजनक), उस सरस्वती (वाणी) की जय होती है ॥33॥

यहा (हसन्ती इव अम्बुजासनम्) इस उत्प्रेक्षा अलङ्कार से (ब्रह्मा की अपेक्षा कविवाणी उत्कृष्ट है यह) व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

कविकल्पितवक्त्रोक्तिसिद्धश्चतुर्धा । यथा—

कान्द्य सौभाग्यमम्पूर्णा पार्वणेन्दोर्विलासिनी[1]।

अत्र पूर्वेद्युरन्यनायकासक्त इति वस्तु।

द्रक्ष्यसि तद्दृष्ट्या मयि मानोऽपि मानसम।

अत्र वस्तुना प्रियावलोकनसौभाग्य धैर्येण सोढु न शक्यत इत्युत्प्रेक्षा।

किं रोदिषि हृत गव्य वीक्षमाणा[2] गृहाङ्गणम्।
एव प्रसृतवस्तुना आता देवो जनार्दन ॥34॥

---

1 नायकस्य तव (मु पा टि)

2 वीक्ष्यमाणा

[18अ] अत्र हृतमिति रोदिषीति हेत्वलङ्कारेऽण एव प्रसृतवस्तूनामिति गव्यहरणदुःख तव नास्तीति वस्तुव्यङ्ग्यम् ।

बहुबालागणाकीर्णे हृद्यलब्धगतिस्तव ।
तनूकरोति तन्वङ्गी तन्वीमपि तनूं सदा ॥35॥

अत्र हेत्वलङ्कारेण तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्त्तत इति विशेषोक्तिरित्यलङ्कारेणालङ्कारव्यक्ति ।

उक्तो वाक्ये अर्थशक्त्युद्भवो ध्वनि ।

(9) कविकल्पितवक्रोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य—

(अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि का भेद) कविकल्पितवक्रोक्तिसिद्ध भी चार प्रकार का होता है, (प्रथम भेद का उदाहरण) जैसे—

पूर्णमासी के चन्द्रमा की (अर्थात् तुम्हारी) आज सौभाग्य से सम्पूर्ण रमणी कौन है ?

यहाँ गत दिवस नायक अन्य (रमणी) मे आसक्त था, यह वस्तु व्यक्त होती है ।

(10) कविकल्पितवक्रोक्तिसिद्ध वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य—

हे सखि ! उस (नायक की) दृष्टि से मान मे भी मेरा मानस द्रवीभूत हो जाता है ।

यहाँ वस्तु द्वारा प्रियतम के दर्शन से प्राप्त सौभाग्य को धैर्य से सहन नहीं किया जा सकता है, यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार व्यङ्ग्य है ।

(11) कविकल्पितवक्रोक्तिसिद्ध अलङ्कार से वस्तु व्यङ्ग्य—

गृह के आगन मे छीने जाने पर फैले हुए गव्य (दूध, दही) को देखकर क्यो रोती हो । इस प्रकार फैली हुई वस्तुओ के रक्षक देव जनार्दन (श्रीकृष्ण) हैं ॥34॥

यहाँ "फैल गया, इसलिये रोती हो" इस हेत्वलङ्कार मे "इस प्रकार फैली हुई वस्तुओं का (त्राता)' आदि शब्दो से, "तुम्हे गव्यहरण का दुःख नही है" यह वस्तु व्यङ्ग्य है ।

(12) कविकल्पितवक्रोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य—

अनेक बाला-समूह से व्याप्त तुम्हारे हृदय मे स्थान प्राप्त नहीं करने पर तन्वगी सदा दुर्बल शरीर को और भी कृश कर रही है ॥35॥

यहाँ हेत्वलङ्कार से शरीर को कृश करने पर भी तुम्हारे हृदय में नहीं रह पाती (इस प्रकार कारण होने पर भी कार्य न होने से) विशेषोक्ति अलङ्कार व्यङ्ग्य है, अतः अलङ्कार से अलङ्कार व्यक्त हो रहा है।

वाक्य में अर्थशक्त्युत्थध्वनि को कहा जा चुका है।

पदेऽप्येवम् ॥ सू 42 ॥

वाक्यवत्पदेऽपि[1]।

तत्र वस्तुना वस्तुव्यक्तिः पदे यथा—

दरविकसित[2]कैरवकुलपरिमलपरिवासितेन।
तोयेन अधुनैव कृतस्नानाक्लान्तास्यऽधुनैव तच्चित्रम् ॥36॥

अत्र कृतपरपुरुषपरिचया स्नातासीति वस्तुना वस्तु अधुनापदद्योत्यम्।

[3]तदऽप्राप्तिमहादुःखविलीनाऽशेषपातका
तच्चिन्ताविमलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा।
चिन्तयन्ती जगद्योनिं परब्रह्म[4]स्वरूपिणं
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्यागोपकन्यका ॥37॥

अत्र अशेषचयद्योत्येऽतिशयोक्ती।

वारुणी सेवमानस्य भर्तुर्विब्वोकहेलया।
[18ब] अनुभूतवती सर्वं पद्मिन्या सह मामिनी ॥38॥

अत्र सहोक्तया सर्वपदद्योत्यं वस्तु।

एवमन्येऽप्यूह्याः।

पदद्योत्य अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के बारह भेद—

इसी प्रकार (अर्थशक्त्युत्थ-ध्वनि वाक्य के अतिरिक्त) पद में भी होती है ॥सू 42॥

वाक्य के समान अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के 12 भेद पद में भी होते हैं।

पदगत वस्तु के द्वारा वस्तु का उदाहरण जैसे—

---

1 द्वादशधेत्यर्थः (मू पा टि)
2 ० शित०
3 भागवतस्य दशमस्कन्धस्योदाहरणमेतत् (मू पा टि)
4 ० ब्रह्म ०

थोड़े से खिले हुए श्वेत कुसुमसमूह के परिमल से सुगन्धित जल से अभी ही (तुमने) स्नान किया है फिर अभी ही तुम थक रही हो, यह आश्चर्यकारी है ।।36।।

यहाँ (श्लोकोक्त, अर्थरूप) वस्तु से परपुरुष के साथ सम्भोग करने के कारण तुमने स्नान किया है, यह वस्तु 'अधुना' पद से द्योत्य है ।

(पदद्योत्य असंलक्ष्यक्रम अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि में वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य ध्वनि का उदाहरण 'भागवत'' के दशमस्कन्ध का है–)

उन (श्रीकृष्ण) के प्राप्त नहीं होने के महादुःख से जिसके समस्त पाप नष्ट हो गये और उन (श्रीकृष्ण) के चिन्तन से उत्पन्न निर्मल आह्लाद से जिसके समस्त पुण्यसमूह विनष्ट हो गये । (पाप और पुण्यरूप कर्म समाप्त हो जाने से पुनर्जन्म नहीं रहा अतः) परमब्रह्मस्वरूप जगत् के उत्पादक (भगवान् विष्णु) का ध्यान करती हुई उच्छ्वासरहित (मूर्च्छित) हो जाने से दूसरी गोपकन्या मुक्ति को प्राप्त हो गई ।।37।।

(यहाँ सहस्रों जन्मों में भोगने योग्य पाप के फल का अनुभव कृष्ण के वियोग के दुःख में तथा पुण्य का अनुभव ध्यान के आनन्द से कर लिया, यह कहा गया है इस प्रकार) यहाँ 'अशेष' और 'चय' पद से द्योत्य दो अतिशयोक्ति अलङ्कार व्यङ्ग्य है ।

वारुणी मदिरा (वरुण की दिशा–पश्चिम दिशा) का सेवन करने वाले भर्ता (अथवा अस्तगामी सूर्य) की बिब्बोकहेला (गर्वाभिमान से दृप्त जन के प्रति अनादर की सुव्यक्त शृङ्गारचेष्टा) के कारण मानिनी ने पद्मिनी के साथ-साथ सब कुछ अनुभव कर लिया ।।38।।

यहाँ महाकवि धनवार से ''सर्व' पदद्योत्य वस्तु (व्यङ्ग्य) है ।

इसी प्रकार अन्य भेदों के उदाहरण भी जानने चाहिये ।

[1]प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः[2] ।। सू 43 ।।

यथा[3]—

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसङ्कुले ।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ।।

---

1 प्रब०

2 अर्थशक्त्युत्थो ध्वनिः प्रबन्धेऽपि द्वादशधा (मू पा टि)

3 इह तु वस्तुना वस्तुव्यक्तिः । भारतस्योदाहरणम् (मू पा टि)

4 ० ब ०

5 नृमुशालिय (मू पा टि)

न चेह जीवित कश्चित्कालधर्म्ममुपागत ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्य प्राणिना गतिरीदृशी ।।39।।

इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य पुरुषविसर्जनपरम् ।

आदित्योऽय स्थितो मूढा स्नेह कुरुत साम्प्रतम् ।
[1]बहुविघ्नो मुहूर्त्तोऽय जीवेदपि कदाचन ।।
अमु कनकवर्णाभ वालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात्कथ मूढास्त्यजध्व[2]मविशङ्किता ।।40।।

इति निशिप्रभवतो गोमायोर्जनव्यावर्त्तनपर वाक्य प्रबन्ध[3] एव ।

अर्थशक्त्युत्थ—ध्वनि के प्रबन्धगत बारह भेद—

प्रबन्ध मे भी अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के बारह भेद होते हैं ।।सू 43।।

जैसे महाभारत का उदाहरण है, इसमे वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य है

गिद्धो और सियारो से व्याप्त, कङ्काल-अस्थियो से युक्त, बीभत्स तथा समस्त प्राणियो के लिए भयानक इस श्मशान मे रुकना व्यर्थ है । मृत्यु धर्म को प्राप्त हुआ व्यक्ति चाहे मित्र हो अथवा शत्रु, पुन जीवित नही होता, सभी प्राणियो की ऐसी ही गति होती है ।।39।।

यहा (केवल) दिन मे (देखने और मासभक्षण मे) समर्थ गिद्ध का *(मृत बालक के सम्बन्धी)* पुरुषो को *घर लौटे जाने की प्रेरणा* देने *वाला यह वचन* है ।

(रात्रि मे देखने मे समर्थ शृगाल चाहता है कि ये लोग सूर्यास्त तक बैठे रहे, जिससे गिद्ध के असमर्थ हो जाने पर बालक के मृत शरीर को खा सके । अत बालक के सम्बन्धियो के प्रति उसका कथन है—)

अरे मूर्खो, यह सूर्य अभी स्थित है, इस समय इसको स्नेह करो, यह मुहूर्त्त अनेक विघ्नो से सयुक्त है, कदाचिद् यह पुन जीवित हो जाये । स्वर्णसदृश वर्ण वाले और यौवन को प्राप्त न हुए इस बालक को गृध्र के कथन से हे मूर्खो, तुम *नि शक होकर किस प्रकार छोडकर जा रहे हो ? ।।40।।*

---

1 वहु०
2 त्यजध्व०
3 ग्रन्थगौरवभयात् एकादशान्ये भेदा न प्रपञ्चिता इति ध्येयम् (मू पा टि)

रात्रि मे सामर्थ्ययुक्त शृगाल का लोगो को रोकने के लिए यह वचन है। यह प्रबन्ध मे ही है। (ग्रन्थ-गौरव के भय से अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के प्रबन्धगत अन्य एकादश भेदो के उदाहरण यहाँ नही दिये गये हैं। यह ध्यान मे रखना चाहिए।)

भेदास्तदेकपञ्चाशत्तेषामन्येऽपि कल्पिता ।
पतीव नोपयुज्यन्त इत्युद्देशे न दर्शिता ॥सू 44॥

लक्षणामूलस्य चत्वारो भेदा, असलक्ष्यक्रमो रसादि स च पदैकदेशादिभेदात् षड्भेदा, अर्थान्तिरसक्रमितवाच्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इति भेदद्वय भेदद्वयात्मा शब्दशक्तिज, अर्थशक्त्युत्थस्य द्वादशभेदाना पदवाक्यप्रबन्धगतत्वेन षट्त्रिंशद्भेदा, उभयशक्त्युत्थस्त्वेक[1] एव। यथा मूलग्रन्थे—

मतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा ।
[19 अ] तारकातरला श्यामा[2] सानन्द नकरोति कम् ॥ 41 ॥

इति एकपचाशद्भेदा ।

एतेषामन्योन्ययोजने गुणने चैकाधिकषट्शतोत्तरसहस्रद्वय भेदा। तेषा च सङ्करसृष्टिभ्यां[3] गुणने चतुरुत्तरतावरशताधिक दिक्सहस्र [4]भेदा भवन्ति ॥ सू 45 ॥

सशयाऽङ्गाऽङ्गिभावैकव्यञ्जकानुप्रवेशरूपस्त्रिविध सङ्कर। प्रकारमयभिन्नप्रकारसयोग ससृष्टि। तदेदनातीवोपयुक्तमित्यत्र नोक्त व्याख्यातमन्यत्।

ध्वनि के इक्यावन भेद—

इस प्रकार (ध्वनिकाव्य के) इक्यावन भेद होते हैं। (इन भेदो को एक-दूसरे के साथ मिलने पर) अन्य भी भेद हो सकते हैं, परन्तु बहुत अधिक (भेद) का उपयोग नही है इस कारण से उनको यहाँ दिखाया नही गया ॥ सू 44 ॥

ध्वनिभेद मे लक्षणामूला ध्वनि के चार भेद (1) वाक्यगत अर्थान्तरसक्र-

---

1 तस्य वाक्यमात्रनिष्ठत्वात् परिवृत्तिसहनासहनत्वेन पदस्य तदयोग्यत्वात् (मू पा टि)

2 श्यामा स्त्री रात्रिश्च (मू पा टि)

3 सङ्करसृष्ट्योश्चतुर्भेदास्तैर्गुणिते (मू पा टि)

4 10 404 (मू पा टि)

मित वाच्य, (2) पदगत अर्थान्तिरसङ्क्रमित वाच्य, (3) वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य और (4)पदगत अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य) होते हैं। और वह असलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसादि ध्वनि पदैकदेश आदि [(1) पदैकदेश,](2) पद,(3) वाक्य, (4) प्रबन्ध, (5) वर्ण और (6) रचना] भेद से छह प्रकार की हो जाती है। अर्थान्तर सङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य—ये दो भेद हैं।[1] (सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि मे) शब्दशक्त्युत्थध्वनि दो प्रकार की (वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि) है। अर्थशक्त्युत्थध्वनि के((1) स्वत सम्भवी के 4 भेद (2) कविप्रौढोक्तिसिद्ध के 4 भेद और (3) कविकल्पितवक्त्रोक्तिसिद्ध के 4 भेद, इस प्रकार) इन बारह भेदो के ही 12 पदगत, 12 वाक्यगत और 12 प्रबन्धगत भेद होने से अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के छत्तीस भेद हो जाते हैं। उभयशक्त्युत्थ ध्वनि का(वाक्यमात्र निष्ठ होने से तथा परिवृत्तिसहन) शब्द का शब्द से परिवर्तन (मे असमर्थ होने के कारण पद के उसके योग्य नही होने से उसका)एक ही भेद है। उदाहरण जैसे मूलग्रन्थ (काव्यप्रकाश) मे दिया गया है—

उभयशक्त्युत्थ का उदाहरण—

(रात्रिपक्ष मे) चमकते हुए चन्द्रमा से विभूषित, (नायिका पक्ष मे) उज्ज्वल चन्द्र के आकारवाले सिर के आभूषण को धारण करने वाली, (रात्रिपक्ष मे) चमकते हुए तारो वाली (नायिका पक्ष मे) उज्ज्वल आंख की पुतली वाली, *कामदेव को उद्दीप्त करने वाली श्यामा (रात्रि और नायिका) किसको आनन्दित नही करती ?* ॥ 41 ॥

(यहाँ रात्रि के समान उक्त विशेषणो से विशिष्ट नायिका, यह उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य है।)

इस प्रकार ध्वनि के इक्यावन भेद है।

इन शुद्ध 51 भेदो को एक दूसरे के साथ मिलने पर (51 से 51 को)गुणा करने पर 2601 भेद हो जाते हैं। और इन (2601 भेदो को सङ्कर और संसृष्टि के 1 सन्देह सङ्कर, 2 अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर, 3 एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर और

---

1 लक्षणामूलाध्वनि के 4 भेद मे ही अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्तनिरस्कृतवाच्य भेद आ जाते हैं। परन्तु यहाँ पुन उल्लेख किया गया है, जो उचित प्रतीत नही होता। अन्य काव्यशास्त्रकारो ने शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि के पदगत व वाक्यगत दो भेद माने हैं, *जिनका उल्लेख "काव्यालोक" मे नही किया गया।*

4 ससृष्टि, ये चार भेद है इनको) चार से गुणा करने पर($2601 \times 4 = 10404$ भेद होते हैं ।। सू 45 ।।

(1) सशययुक्त होने पर (सकर सन्देह,) अगागिभाव सकर और (3) एक व्यञ्जक मे अनुप्रवेश होने से (एकाश्रयानुप्रवेश सकर), इस प्रकार तीन प्रकार के सकर है। इन तीनो प्रकारो से भिन्न प्रकार का सयोग (निरपेक्षरूप मे स्थिति) ससृष्टि है। उसका यहाँ अत्यन्त उपयोग नही होने से नही कहा गया है, उसकी व्याख्या अन्य स्थल पर (सप्तम प्रकाश मे) की गयी है।

अगूढगूढवाच्याङ्गापराङ्गासुन्दरं क्रमात् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तं ध्वने क्रम ।। सू 46 ।।

असहृदयैरपि[1] झटिति वेद्यत्वेन अगूढम् । सहृदयैरप्यवेद्यतया गूढम्। अन्यजन्यचमत्कारोपयोगित्वमलाररजननेन वाच्याङ्गम् । रसादेर्वाक्यार्थस्याङ्ग अपराङ्गम् । वाच्यात्पचमत्कारि असुन्दरम् । सन्दिग्धप्राधान्य तुल्यप्राधान्य [काक्वाक्षिप्त च] । ध्वनिविकारेण च प्रकाशितो ध्वनेर्मुख्यस्यैव क्रम प्रकारान्तर गुणध्वनिरष्टधेत्यर्थ ।

तत्र अगूढ यथा—

उन्निद्रकोकनदता वहति प्रभाते
चुम्बन्नय गगनमञ्चति चण्डरश्मि ।
एषास्मि सम्प्रति भवामि न वा भवामि
[19a] जानाभि कस्य चरितेन विदाशु पान्थ ।। 42 ।।

अत्र उन्निद्रितेत्यर्थान्तिरसक्रमितवाच्य, चुम्बन्नित्यत्यन्ततिरस्कृतवाच्य, कस्यापीत्यर्थशक्तिमूल, एव भवामि न भवामीति पदयोर्व्यङ्ग्यमगूढमेव ।

गुणीभूतध्वनि काव्य—

ध्वनि के क्रम मे (गुणध्वनि या गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप मध्यम काव्य के आठ भेद बतलाये गये हैं-) (1) अगूढ, (2) गूढ, (3) वाच्याङ्ग, (4) अपराङ्ग, (5) असुन्दर, (6) सन्दिग्ध प्राधान्य, (7) तुल्यप्राधान्य और (8) काक्वाक्षिप्त ।। सू 46 ।।

---

1 वैयाकरणनैयायिका [दि] भिरपि (मू पा टि)

असहृदयजनों (वैयाकरणनैयायिक आदि) के द्वारा भी शीघ्र ही समझा जाने वाला अगूढ व्यङ्ग्य होता है। सहृदय व्यक्तियों द्वारा ही वेद्य (प्रतीति योग्य) न होने के कारण गूढ व्यङ्ग्य होता है। अन्य द्वारा उत्पन्न हुए (व्यङ्ग्य अर्थ में वाच्यार्थ के) चमत्कार में उपयोगी (अन्य व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ के) चमत्कार का जनक होने से इसे वाच्याङ्ग व्यङ्ग्य कहते हैं। रसादि व्यङ्ग्य वाक्यार्थ का अङ्ग होने पर अपराङ्ग व्यङ्ग्य होता है। वाक्य (से व्यङ्ग्य) के अल्प चमत्कार युक्त होने पर असुन्दर व्यङ्ग्य होता है। (व्यङ्ग्यार्थ प्रधान है अथवा वाच्यार्थ, यह सन्देह होने पर) सन्दिग्धप्राधान्य होता है। (व्यङ्ग्य और वाच्य का समान ही प्राधान्य होने पर) तुल्यप्राधान्य व्यङ्ग्य होता है। और (काकु से आक्षिप्त व्यङ्ग्य) काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य होता है। ध्वनिविकार से प्रकाशित मुख्य ध्वनि का ही यह क्रम है। इसका अन्य प्रकार गुणध्वनि आठ प्रकार की है, यह अभिप्राय है।

(1) अगूढ व्यङ्ग्य (का उदाहरण) जैसे—

प्रभात में खिले हुए लाल कमल के रूप को धारण करने वाला यह तीक्ष्ण-रश्मि (सूर्य) गगन का चुम्बन करता हुआ जा रहा है। हे पथिक! शीघ्र कहो, क्या तुम जानते हो कि किसके व्यवहार (कार्य) में यह मैं अभी तो हूँ परन्तु अब रहती हूँ अथवा नहीं रहती ? ॥ 42 ॥

यहाँ "उन्निद्रित" यह पद अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य, "चुम्बन" यह पद अत्यन्तनिरस्कृतवाच्य "कम्य" यह पद अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य, इसी प्रकार "भवामि न भवामि" इन पदों का व्यङ्ग्य अगूढ ही है (और गुणीभूत ध्वनि का उदाहरण है)।

> दृष्टोऽसि यैरदृष्टोऽप्यथवा भूलाकतिलक[1] भवान् ।
> सममुभयोरपि दुःख सुखं न जानीहि नियमेन ॥ 43 ॥

अत्र अदृष्टौ सुख गूढम् ।

वाच्याङ्ग यथा—

> धनाहिज विष[2] वाला सम्मूर्च्छयति नित्यश ।
> अत्र वाच्यस्य अङ्गे सिद्धौ हालाहल व्यङ्ग्यमङ्गम् ।

---

1 हे (मू पा टि,)

2 अत हालाहल च विषम् (मू पा टि)

अपराङ्ग यथा—

अय स रशनो[1]त्कर्षी नीवीविस्र सन कर ।

अत्र शृङ्गार करुणस्याङ्गम् ।
इत्य भावाद्यूह्य उदाहरन्ति च—

पश्यत्कश्चिच्चल चपल रे का त्वरा[2]ऽह कुमारी ।
हस्तालम्ब वितर हहहा व्युत्क्रम क्वासि यासि ।
इत्य पृथ्वीपरिवृढ[3] भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्ते
कन्या कञ्चित्फलकिसलयान्याददानाऽभिधत्ते ॥ 44 ॥

अत्र शङ्कासूयाधृतिस्मृतिश्रमदैन्यविबोधौत्सुक्याना पूर्वपूर्वोपमर्दनेन श[6]बलता राजनिष्ठ[7]भावस्याङ्गम् ।

(2) गूढ व्यङ्ग्य का उदाहरण—

हे पृथ्वीपालक ! जो लोग आपका दर्शन करते है अथवा जो आपका दर्शन नही करते, उन दोनो को ही, यह जान लो कि समान रूप से दुख और सुख नियम से प्राप्त होते है । 43 ॥

यहाँ आपके "अदृष्ट" होने पर सुख है, यह व्यङ्ग्य अर्थ गूढ है ।

(3) वाच्याङ्ग का उदाहरण—

मेघरूपी नप से उत्पन्न विष (जल और हलाहल विष) बालिका (नायिका) को नित्य ही मूच्छित कर देता है ।

यहाँ हलाहल (विष) व्यङ्ग्य है जो सर्परूप वाच्यार्थ की सिद्धि मे उसका अग रूप है (अत वाच्याङ्ग व्यङ्ग्य का उदाहरण है) ।

---

1 रसनो
2 उत्तालि (मू पा टि)
3 हे (मू पा टि)
4 विशल ०
5 ०विरोधी ०
6 शव०
7 ०ष्टमा ०

4 अपराङ्ग व्यङ्ग्य का उदाहरण—

अपराङ्ग व्यङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण जैसे—

यह वही (मेरी रशना) करधनी को खीचने वाला, (नाडे) को खोलने वाला (मेरे पति का) हाथ है।

यहाँ शृङ्गार रस करुण रस का अग है।

इसी प्रकार भाव आदि के (अग रूप होने पर भी अपराङ्ग व्यङ्ग्य) होता है। (भावशबलता के भावाङ्ग होने पर अपराङ्गव्यङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का) उदाहरण है—

(शत्रु-कन्या की बातों का वर्णन करते हुए कवि राजा से कह रहा है—)

(कामुक पुरुष कन्या को पकडता है तो कन्या मना करती हुई कहती है) कोई देख ले, तो। (शङ्का)

(फिर भी वह समीप जाता है तो वह कहती है) अरे चपल हट जा। (रागानुविद्ध असूया)

(कहीं निराश होकर कामुक चला न जाये अत कहती है) क्या शीघ्रता है? (धृति)

(पुन स्मरण आता है कि यह प्रेमव्यापार अनुचित है क्योकि) मैं कुमारी हूँ। (स्मृति)

(कामावेश मे परवश होकर कहती है) हाथ का सहारा दो। (श्रम)

(आत्मसमर्पण कर देने पर) ह ह हा। (दैन्य)

(कुमारी कन्या का यह आचरण) मर्यादा का अतिक्रमण है। (विबोध)

(कामुक निराश होकर जाने लगता है तो) तुम कहाँ जाते हो? (औत्सुक्य)

हे पृथ्वी के स्वामि राजन्! जगल मे वास करने वाले आपके शत्रु की कन्या शुद्द फल और किसलयो को तोडती हुई किसी (कामुक) से इसप्रकार कहती है ॥44॥

यहाँ शङ्का, असूया, धृति, स्मृति, श्रम दैन्य, विबोध, औत्सुक्य—इन आठ भावों की पूर्वपूर्वोपमर्दन से शबलता है (और वह कविनिष्ठ स्तूयमान) राजविषयक (रतिरूप) भाव का अङ्ग है।

असुन्दरो यथा—

एमो अपुव्व कु ज उमइ मिअको त्ति सुणिऊण ।

[20अ] वहुए गुरुअण [2] मज्झद्धि अाइ अगाइ मीअति ॥[1]45॥

अत्र सीदन्तीति व्यङ्ग्यापेक्षया वाच्य चमत्कारि । दत्तसङ्केत सङ्केतभवने प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यम् ।

सन्दिग्धप्राधान्य यथा—

व्यापारयामास दृशा सहस्र प्रियानन यन्नयनद्वयेन ।

न तद्विचित्र कमनीयतायामप्यनिसर्ग समुदेति भाव ॥46॥

अत्र विलोचनव्यापारण वाच्य प्रधान प्रतीयमान परिचुम्बन वा प्रधान इति सन्देह ।

5 असुन्दर व्यङ्ग्य का उदाहरण—

असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य (का उदाहरण) जैसे—

यह अनुपम चन्द्रमा कुञ्ज मे उदित हो रहा है, इस (वचन को) सुनकर गुरुजनो के मध्य स्थित वधू के अङ्ग शिथिल हो रहे हैं ॥45॥

यहाँ व्यङ्ग्य की अपेक्षा (वधू के अग) शिथिल हो गये, यह वाच्य चमत्कार-युक्त है। (लताकुञ्ज मे मिलने का समय निश्चित किया था) इस प्रकार का दत्तसङ्केत (प्रेमी) सङ्केत-भवन मे प्रविष्ट हो गया, यह अर्थ यहाँ व्यङ्ग्य है।

6 सन्दिग्धप्राधान्य व्यङ्ग्य का उदाहरण—

सन्दिग्ध प्राधान्य (गुणीभूत व्यङ्ग्य) जैसे—

नायक ने प्रिया के मुख पर जो नयनयुगल के द्वारा सहस्र आँखें लगा दी वह विचित्र नही है। सुन्दरता के प्रति यह भाव निसर्गत ही उत्पन्न होता है ॥46॥

---

1 एषोऽपूर्वो मृगाङ्क कुञ्जे उदतीति श्रुत्वा ।
वध्वा गुरुजनमध्यस्थिताया अङ्गानि सीदन्ति ॥ (मू पा टि)

2 ० वन

यहाँ वाच्यरूप मन्त्रों का व्यापार प्रधान है अथवा कुम्भन करना चाहते थे, यह प्रतीयमान व्यङ्ग्य प्रधान है, यह सन्देहास्पद है।

तुल्यप्राधान्यं यथा प्राचाम्—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥47॥

अत्र परशुरामोरक्ष कुलक्षयं करिष्यतीति वाच्यव्यङ्ग्ययो सम प्राधान्यम्।

काक्वाक्षिप्त यथा—

पादारविन्दयुगल न वहामि मूर्द्ध्ना
न प्रीतिमन्तरङ्गता प्रकटीकरोमि।
चाटूनि नो विरचयामि पुर सखीना
मान तनोतु भवती गुणगौरवेन ॥48॥

अत्र पादरविन्दयुगलमूर्द्ध्ना वहाम्येवेत्यादि व्यङ्ग्य वाच्यस्य निषेधस्य सहभावेनैव स्थितम्।

7 तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण—

तुल्यप्राधान्य व्यङ्ग्य प्राचीन (काव्यप्रकाशकार द्वारा उद्धृत "महावीर-चरित" नाटक के द्वितीयाङ्क का उदाहरण) जैसे—

(परशुराम ने रावण को लक्ष्यकर उसके मन्त्री माल्यावान् को सन्देश भेजा है—)ब्राह्मण के अपमान का त्याग करना आपके कल्याण के लिए ही है। इस प्रकार करने से जामदग्न्य (परशुराम) मित्र रहेंगे अन्यथा वे नाराज हो जायेंगे।

यहाँ परशुराम समस्त राक्षसकुल का नाश कर देंगे, यह व्यङ्ग्य तथा वाच्य (नाराज हो जायेंगे) इन दोनों का समान ही प्राधान्य होने से (तुल्यप्राधान्य गुणीभूत व्यङ्ग्य है) ॥47॥

8 काक्वाक्षिप्त का उदाहरण—

मैं चरण-कमल-युगल को मस्तक पर धारण नहीं करूँगा, अन्तरगता प्रीति को प्रकट नहीं करूँगा, सखियों के समक्ष चाटुकारिता के वचन नहीं कहूँगा— आप तो गुणों की गुरुता के कारण मान कीजिए ॥47॥

यहाँ "चरण-कमलों को मस्तक पर अवश्य धारण करूँगा" यह व्यङ्ग्य (काकु से आक्षिप्त होने के कारण) वाच्य-निषेध के साथ-साथ ही स्थित होता है।

इत्थं ध्वनिर्गुणीभूतं समासादिह दर्शितं ।
[20ब] काव्यस्य भेदसंसिद्ध्यै चित्रं तदन्यं यो पृथक् ॥सू 47॥

ध्वनिकृतं काव्यभेद इत्यर्थः । एतद्भेदद्वयातिरिक्तं चित्रं तदपि काव्यमेव । किन्तु बिम्बप्रतिबिम्बभासानां ब्रह्मेश्वरजीवानामानन्द-तारतम्येन नाहं ब्रह्मेत्यागोपालमपलाप्यमानो ब्रह्मभाव परेशयोः पार्थक्येन जीवे वाच्यायमानो वस्तुदृशा न ब्रह्मेति कथञ्चिन्मन्तव्य, न त्ववस्तुदृशा । अपितु मुख्यगुणभावेन प्रतीयमानार्थतया तयोरेवास्तु काव्यत्वम् । न तु काव्यशरीरसिद्ध्या चित्रं न काव्यमिति वक्तुमुचितम् । पृथक्त्व[1] तूत्तमानुत्तमत्वद्योतक भेदे तु गुणभाव एव कारणमित्यलं वेदान्तकटाक्षितेन । सचेतनशरीरेण व्यवहारो यथा भवेत् ध्वनियुक्तेन काव्येन तथाह्लाद प्रवर्त्तता, सचेतनेन स्फूर्तिमता यो हि चमत्कारः स च ध्वन्यात्मेति स्पष्टम् ।

इति श्री काव्यालोके ध्वनिनिरूपणं नाम द्वितीय प्रकाश ॥2॥

इस प्रकार गुणीभूतध्वनि काव्य (गुणीभूतव्यङ्ग्य या मध्यम काव्य) संक्षेप में यहाँ कहा गया है। काव्य के (तीन) भेदों की दृष्टि से इन दोनों (ध्वनि काव्य और गुणीभूतध्वनिकाव्य) से भिन्न (तीसरा काव्यभेद) चित्रकाव्य है ॥सू 47॥

काव्यभेद से अभिप्राय है-ध्वनि के द्वारा किये गये भेद अथवा ध्वनिकार आनन्दवर्धनसम्मत काव्यभेद। (1 ध्वनि काव्य और 2 गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य) इन दोनों भेदों के अतिरिक्त चित्रकाव्य है, काव्य वह भी है। किन्तु बिम्ब-प्रतिबिम्ब से भासित होने वाले ब्रह्म, ईश्वर तथा जीव का आनन्द के तारतम्य से "मैं ब्रह्म हूँ," ऐसा गोपाल-पर्यन्त (आगोपालम्) अर्थात् सामान्यजनों तक व्याप्त रहने वाला ब्रह्मभाव है। यह ब्रह्मभाव ब्रह्म और ईश्वर के पार्थक्य से जीव में वाच्य बनाया जाता है, अतः वस्तुदृष्टि से वह (जीव) ब्रह्म नहीं है—ऐसा मानना चाहिए अवस्तु दृष्टि में नहीं। अपितु (जिस प्रकार आनन्द की मुख्यता और गौणता के कारण ब्रह्म के दो भेद हो जाते हैं—ब्रह्म और ईश्वर उसी प्रकार)

1 ० वयद

ध्वनि के (ध्वनि-काव्य में) मुख्यरूप में और (गुणीभूतकाव्य में) गुणभाव से प्रतीत होने के कारण उन दोनों भेदों में ही काव्यत्व रहता है। काव्यशरीर (शब्दार्थ) की सिद्धि चित्र काव्य में भी होती है, अतः चित्र काव्य नहीं है, ऐसा कहना उचित नहीं है। दोनों प्रकार का जो पृथक्त्व है वह उनकी उत्तमता और अनुत्तमता का द्योतक है। इनके भेद या पृथक्त्व में केवल ध्वनि का गुणभाव ही कारण है। वेदान्त[1] दृष्टि इतना ही प्रतिपादन पर्याप्त है। सचेतन शरीर से जिस प्रकार व्यवहार किया जाता है, ध्वनि युक्त काव्य से उसी प्रकार आह्लाद का प्रवर्तन होना चाहिए। सचेतन और स्फूर्तिमय (शब्दार्थ) से जो चमत्कार प्रकट होता है, वही ध्वन्यात्मा है, यह स्पष्ट है।

(हरिप्रसाद विरचित) "काव्यालोक" का "ध्वनिनिरूपण" नामक द्वितीय प्रकाश समाप्त हुआ ॥2॥ ☐

---

1 वेदान्तसार के अनुसार—द्विरूप हि ब्रह्म अवगम्यते।
पारमार्थिकसत्ता—आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्—आनन्दप्रधान सर्वोपाधि-विवर्जित—ब्रह्म (पर ब्रह्म)
व्यावहारिक सत्ता—नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्ट—सोपाधिक (आनन्द-गौण)–ईश्वर (अपर ब्रह्म)
प्रातिभासिक सत्ता–मलिनसत्वप्रधान अविद्योपहित–आनन्दांश बाधित-जीव
इसी प्रकार—
काव्य = ब्रह्म
ध्वनि = आनन्द-निर्गुण-उत्तम
गुणीभूतव्यङ्ग्य = उपहित सगुण आनन्द—मध्यम
वाच्यप्रधान = मलिनसत्वोपहित आनन्द-अधम

तृतीय प्रकाश

रसविलासप्रकाश

माद्यो रसादिरित्युक्त रसस्तत्र प्रपञ्च्यते ।।सू 48।।

ध्वनिप्रस्तावे असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेन रसस्योपक्षेप कृत । तत्र ध्वनित्वेनोक्तस्यैव रसस्य विविच्य लक्षण क्रियत इत्यर्थ ।

समूहाऽऽलम्बनावृत्तिस्फूर्तिश्चित्समवायिनी ।।सू 49।।

[21अ] समूहो विभावानुभावादीना, तदाल (म्बनावृत्तिस्थायी-भावश्चित्समवायित्वेन तत् स्फूर्ति प्रकाशो रस वृत्तौ चित्स्फूर्त्तिर्वा ।

अय भाव रसस्तावत काव्ये नाट्ये कविना नटेन च भावनया समर्पितैरलौकिकविभावा[1]नुभाव[2]व्यभिचारि[3]शब्दितै कारणकार्यसह-कारिभि [4]सम्भूयालौकिकव्यापारेणाऽतिवर्त्तिताऽऽवरणेन[5] व्यक्तिविपयी-कृतश्चर्वणया विगलितात्मग्रहेण[6] प्रमात्रानुभूयमान [7] [8] प्राग्वासनास्परत्या-द्यात्माभग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादि स्थायीति यावत् । विभावादिच-र्वणापुरस्कृतस्थाय्युपस्थापितस्वरूपानन्दाकारवृत्तेश्चित्तो समुदयात् स्या-द्यवच्छिन्नत्वेन भग्नावरणा चिदेव वा रस ।

---

1 शकुन्तलाचन्द्रोदयादय (मू पा टि)
2 अश्रुपातादय (मू पा टि)
3 चिन्तादय (मू पा टि)
4 विभाव अनुभाव व्यभिचारी (मू पा टि)
5 दूरीकृत (मू पा टि)
6 अानन्दाशावरणाज्ञानम् (मू पा टि)
7 प्रमातृत्वादि निजधर्म (मू पा टि)
8 स्वप्रकाशतया (मू पा टि)

"आद्यो रसादि [1]" इत्यादि लिखकर द्वितीय प्रकाश में रस का उल्लेख किया गया है, अब उसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा रहा है ॥सू 48॥

(द्वितीय प्रकाश मे) ध्वनि का विवेचन करते हुए असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि-भेद के रूप मे रस का उल्लेख किया गया है। वहाँ ध्वनित्वेन उक्त रस का ही यहा विवेचनपूर्वक लक्षण किया जा रहा है, यह अभिप्राय है।

रस-निरूपण—

1 अभिनवगुप्त का मत—

चित्समवायिनी समूहालम्बनावृत्ति की स्फूर्ति (प्रकाश) रस है। (अर्थात् अन्त करण की वृत्ति-स्थायीभाव का विभावादि समूहविषयक और आत्मा–चैतन्य मे समवायरूप से सम्बद्ध प्रकाश ही रस है।) ॥सू 49॥

विभाव, अनुभाव एव व्यभिचारिभावविषयक (समुदायविषयक) रत्यादि-रूप स्थायीभावात्मक अन्त करणवृत्ति की चित्समवायिनी स्फूर्ति (प्रकाश) ही रस है अथवा उस वृत्ति मे चित् की स्फूर्ति अर्थात् चित्त का प्रतिबिम्ब ही रस है। ("चित्समवायिनी" शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है— (1) जैसे घटपटादि पदार्थ स्वप्रकाश नही है, स्वप्रकाश केवल चैतन्य है। परन्तु इन्द्रियरूपी करण के द्वारा घटपटादि पदार्थ से सम्बन्ध होने पर, अन्त करण मे स्थित आत्मचैतन्य वस्तु को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार स्थायीभाव स्वय प्रकाशित नही हो सकते, किन्तु विभावादिरूप करण से सम्बन्ध होने पर अन्त-करण मे स्थित आत्मचैतन्य उनको प्रकाशित करता है। (2) जैसे सामान्य काच मे प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता, परन्तु जब काच पर वार्निश लगा दी जाती है तो प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार घटपटादि पदार्थ का ज्ञान होता है, घटपटादि स्वप्रकाशित नही होने पर भी, जब इन्द्रियरूपी करण के द्वारा अन्त करण से सम्बन्ध होता है अर्थात् अन्त करणरूपी शीशे पर इन्द्रिय-करणरूपी वार्निश लगा दी जाती है तो चित् का प्रतिबिम्ब अन्त करण पर पडने से घटपटादि पदार्थ प्रकाशित होते हैं। इसी प्रकार स्थायिभाव स्वप्रकाशित नही होने पर भी विभावादिरूप करण की वार्निश लगने पर अन्त करण मे चित् का प्रतिबिम्ब पडता है, यही प्रतिबिम्ब रस है।)

अभिप्राय यह है कि स्थायीभाव काव्य मे कवि के द्वारा और नाट्य मे नट के द्वारा (काव्यार्थ के पुन-पुन अनुसन्धानरूप) भावना से उपस्थापित किये जाने

---

1 आद्यो रसादि पीडाऽसौ स्पष्ट रूपमुदाहृतो ॥सू 32॥

वाले अलौकिक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव शब्दो से और लोक मे कारण, कार्य और सहकारी कारण शब्दो से कहे जाने वाले विभावादि के द्वारा ही मिलकर (मिश्रित रूप मे), अज्ञानरूपी आवरण दूर होने पर, उस अलौकिक व्यापार से प्रकाशित (अभिव्यक्त) होता है, (स्थायीभाव को प्रकाशित करने मे विभावादि इन्द्रियकरण के समान होते है), विभावादि की चर्वणा से जिसका प्रमातृत्वादिनिजधर्म विनष्ट हो जाता है ऐसे प्रमाता के द्वारा (स्वप्रकाशता के कारण) अनुभव किया जाता है, वही पूर्व सस्काररूप मे विद्यमान अज्ञानरूपी आवरण नष्ट हो जाने पर चिद्विशिष्ट रूप से अनुभूयमान रत्यादि स्थायिभाव ही रस है। अथवा विभावादि की चवणा के समय, स्थायीभाव के द्वारा उपस्थापित स्वरूपानन्दाकारवृत्ति वाले अन्त करण मे रस का उदय होता है, अत स्थायियुक्त भग्नावरण (जिससे अज्ञानरूपी आवरण नष्ट हो गया है—ऐसा) चित् (चैतन्य) ही रस है।

तदाहुस्तातचरणा —

> व्यक्त्या विशिष्टो रत्यादिस्थायी यद्यप्यसौ रस ।
> स्थाय्यवच्छिन्नचैतन्यमनावरणमेव स ॥

तदेतदतिगहनमपि दिड्मात्र व्याख्यायते। व्यवितरत्र भग्नावरणा चित्, चर्वणायाश्चिद्गतावरणभङ्गरूपत्वात्।

विशिष्टत्वे[1] चिदशत्वेन नित्यत्व स्थाय्यशेनानित्यत्वमित्युभयोरनुद्बुद्धस्वरूपस्य तत्राविरह स्यात्।

न च [2]तदाकारान्त [3]करणवृत्तेर्ब्र[4]ह्मास्वादसमाधिसाम्य शङ्कनीयम्[5]। [21ब] स्थाय्यवच्छिन्नचिदानन्दास्यालम्बनत्वेन काव्यैकव्यापारभाव्यत्वेन चर्वलक्षण्यात्।

[6]न चाऽप्रामाण्यशङ्काङ्कुरश्चित्तभूमावारोपणीय। "सुखमात्य-

1 विशेषण विशेष्य वा (मू पा टि)
2 स्थाय्युपस्थापितस्वरूपानन्दाकारवृत्ते (मू पा टि)
3 ० न्तप्क०
4 ० र्द ०
5 येन च दोपपरिहार स्यादि यथ (मू पा टि)
6 ननु स्थाय्यवच्छिन्नचिदानन्दस्य रसत्वे मानमेव नास्तीत्यत आह (मू पा टि)

न्तिक यत्तदि"ति[1] समाधिसुखभाने शब्दस्यैव, "रसो वै स" इति श्रुति सहृदयप्रत्यक्षस्य च तत्र तद्भाने मानात्।

तदाकारान्त क[2]रणवृत्तिरूपायाश्चर्वणाया शब्दव्यापारभाव्यत्वेनापरोक्षानन्दालव[3]नत्वेन न [शाब्दप्रत्यक्षयोरत्र न] भेद इत्यभिनवगुप्तपादा ।

इस विषय मे तात (पिताजी या गुरु) का कथन है—

यद्यपि भग्नावरण–चिद्विशिष्ट रत्यादि स्थायिभाव रस है। परन्तु स्थायियुक्त आवरणरहित चैतन्य भी रस होता है। (अभिप्राय यह है कि इसे दो प्रकार मे कहा जा सकता है—1 "भग्नावरणाचिद्विशिष्टरत्यादिरेव रस"—भग्नावरणा चिद्विशिष्ट रत्यादि ही रस है। 2 "रत्याद्यवच्छिन्नभग्नावरणाचिदेव रस"—रत्यादियुक्त भग्नावरणा चित् ही रस है।)

यह विषय अतिगहन होने पर सकेतरूप मे व्याख्या की गई है। "व्यक्ति" शब्द का यहाँ अभिप्राय है भग्नावरण चित् (अज्ञानरूप आवरणरहित चैतन्य), क्योकि चर्वणा चैतन्यगत (अज्ञान के) आवरण को नष्ट करने वाली होती है।

विशिष्टत्व[4] मे (अर्थात् चित् को चाहे विशेषण माना जाये या विशेष्य) चित् अश के कारण रस नित्य है, स्थायिभाव के कारण अनित्य है। इस प्रकार दोनो मे ही (1 भग्नावरणाचिद्विशिष्ट रत्यादिरेव रस और 2 रत्याद्यवच्छिन्नभग्नावरणा चिदेव रस, इन दोनो मे ही) अनुद्बुद्धस्वरूप का भी ग्रहण होता है—अर्थात् नित्यत्व और अनित्यत्व दोनो का ही ग्रहण होता है।

रसास्वाद की अवस्था मे (आनन्दाकार अन्त करण की वृत्ति है आत्मचैतन्य का अपना स्वरूप सच्चिदानन्दस्वरूप। उस) आनन्दाकारवृत्ति का, ब्रह्मास्वादसमाधि से अभेद हो जायेगा ऐसी शका नही करनी चाहिए। (इस विषय मे दो समाधान है—1 ब्रह्मास्वाद मे समाधि स्थायिभाव से सवलित नही है जबकि)

---

1 सुखमात्यन्तिक यत् तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।

2 ॰न्तर्प॰ 3 ॰व॰

4 (1) 'भग्नावरणाचिद्विशिष्ट रत्यादिरेव रस'–इसमे 'चित्' विशेषण है, "रत्यादि" विशेष्य है।
(2) "रत्याद्यवच्छिन्नभग्नावरणा चिदेव रस" यहाँ "रत्यादि" विशेषण और "चित्" विशेष्य है।

इसी विशेषण-विशेष्य-भाव को विशिष्टत्व प्रकार नाम से कहा जाता है।

रस-चर्वणा का आलम्बन स्थायिभाव से युक्त (विभावादि सासारिक पदार्थों से मिश्रित चिदानन्द है।) 2 रसास्वाद मे विभावादि के द्वारा जो व्यापार होता है, उस व्यापार मे आनन्दमयत्व प्राप्त होता है (जबकि ब्रह्मानन्दास्वाद मे यह स्थिति नही होती।) अत रसास्वाद मे होने वाले और ब्रह्मास्वाद मे होने वाले आनन्द की अनुभूति मे भिन्नता होनी है।

रसास्वाद मे अनुभूत आनन्द मे कोई प्रमाण नही है, इस प्रकार की शका का अकुर भी चित्त मे उत्पन्न नही होना चाहिये। (इस विषय मे दो प्रमाण है—) 1 समाधि-अवस्था मे आनन्द की अनुभूति होती है, इस विषय मे गीता मे कथित 'सुखमात्यन्तिकम्' इत्यादि शब्द-प्रमाण है उसी प्रकार इस आनन्दानुभूति मे 'रसो वै स' यह श्रुति-वाक्य प्रमाण है। 2 ब्रह्म का साक्षात्कार केवल ब्रह्मयोगियो को होता है उसी प्रकार) सहृदय-व्यक्तियो को वह (रस) साक्षात् प्रत्यक्ष का विषय है।

आनन्दाकार चित्तवृत्तिरूप चर्वणा (विभावादि के द्वारा अलौकिक व्यापार मे भाव्य है अत) "शब्दव्यापारभाव्य" है और प्रत्यक्ष आनन्द उस चर्वणा का आलम्बन है अत 'प्रत्यक्षात्मक' है, परन्तु यहाँ शाब्दत्व और प्रत्यक्षत्व मे विरोध नही होता है। (नैयायिको के अनुसार शाब्दत्व और प्रत्यक्षत्व मे विरोध होता है। परतु वेदान्तमत मे दशमस्त्वमसि", 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यो मे वाक्यज-वाक्यो से उत्पन्न बुद्धि ही जीव और ब्रह्म की ऐक्य-प्रतीति है। वहाँ पर जीव और ब्रह्म की ऐक्य-प्रतीतिरूप बुद्धि शब्द से उत्पन्न होने के कारण शाब्दत्व है और प्रत्यक्ष ब्रह्म ही उसका आलम्बन होने के कारण प्रत्यक्षत्व है, इस रूप मे वेदान्ती शाब्दत्व और प्रत्यक्षत्व मे विरोध नही मानते, उसी प्रकार साहित्यिक रसचर्वणा को भी शाब्दत्व और प्रत्यक्षत्व दोनो ही माना जाता है।)

यह उपर्युक्त मत अभिनवगुप्त का है।

भट्टनायकस्तु अभिधया[1] निवेदितानां पदार्थाना[2] भावकत्वव्यापारेण[3] रसानुकूलधर्मपुरस्कारेणोपस्थिति[4]। इत्थ च साधारणीकृतेषु विभावादिषुतृतीयव्यापारमहिम्ना तथाकृत एव स्थायी भुज्यते।

---

1 अभिधा निरन्तरा सान्तरा च माया शक्तिर्द्वितीया लक्षणा (मू पा टि)
2 विभावादीनां साधारणीकरणम् (मू पा टि)
3 अगम्यत्वादि रसविरोधज्ञानप्रतिबधेन (मू पा टि)
4 विभावानां कान्तात्वादिसामान्येनोपस्थिति स्थाय्यनुभावादीनां सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वम्। (मू पा टि)

तत्र भोग सत्त्वो[1]द्रेकात्प्रकाशमानानन्दसंवित्स्वरूपो लौकिकसुखानुभवविलक्षण । तेन विभावादिभि स्थायिनो रत्यादेर्भोगो रस इतराभिभवेनावस्थितिरुद्रेक । "अभिधा भावना चैव तद्भोगीकृतिरेव चे" ति काव्यस्य त्रयो व्यापारा इति व्याजहार ।

नव्यास्तु साक्षिभास्यालम्ब[2]नादिविषयक स्थायी रस ।

अत्र हि व्यञ्जनयालव[3]नविषयान्यव्यापारपरिग्रहे सरसवाहिचित्त वृत्तिभावनाविशेषमहिम्ना कल्पितालम्बनव्यापारतिरोहि-[22अ] तान्यसस्का ∧रे स्वात्मन्युज्जृम्भमाण [4] सर्वोप्यनिर्वचनीय एव ।

एतस्य कायत्व दोषविशेषनाश्यत्व [च] ।
स्वोत्तरकालीनाह्लादविशेषेणाभेदात्सुखवाच्यत्वम् ।

स्वप्राक्कालीनरत्यादिना तदग्रहाद् व्यङ्ग्यत्व वर्णनीयत्व च भवति ।
[5]अवच्छादकम[6]प्यनिर्वचनीयमेवेति ।

2 भट्टनायक का मत—

भट्टनायक का मत है कि अभिधा के द्वारा उपस्थापित पदार्थों का भावकत्व व्यापार से (शकुन्तलादि के विषय में "अगम्या इयम्" इत्यादि रसविरोधी ज्ञान रोक दिया जाता है और) रसानुकूल विशिष्ट धर्म के साथ (उन शकुन्तलादि पदार्थों की) उपस्थिति होती है। और इस प्रकार भावकत्व व्यापार से विभावादि का साधारणीकरण हो जाने पर भोजकत्व या भोगीकृत नामक तृतीय व्यापार से (तथाकृत) साधारणीकृत स्थायिभाव का भोग किया जाता है।

वहाँ (भट्टनायक के मत में) भोग का अर्थ है—सत्त्वगुण का उद्रेक (वृद्धि) होने पर प्रकाशमान (प्रकाशित होने वाला) आनन्दस्वरूप (चैतन्यात्मक) ज्ञान जो लौकिक सुख से विलक्षण होता है। अतः स्पष्ट है कि विभावादि के द्वारा रत्यादि स्थायिभाव का भोग ही रस है। यहाँ "उद्रेक" का आशय है दूसरे (रजोगुण और तमोगुण) को दबाकर सत्त्वगुण की ही प्राधान्येन स्थिति। इस

1 सत्वो ०
2 ० व ०
3 ० व ०
4 ० मान
5 रत्यादिविशिष्टबोधे विशेष्यतावच्छेदकत्वम् (मू पा टि)
6 रामादिरूप (मू पा टि)

प्रकार भट्टनायक ने काव्य के तीन व्यापार कहे—1 अभिधा (जिससे काव्यार्थ समझा जाता है), 2 भावना या भावकत्व (जिससे विभावादि का साधारणीकरण होता है) और 3 भोगीकृति या भोजकत्व (जिससे रति आदि स्थायिभावों का रसरूप में भोग किया जाता है)।

3 नव्य-मत—

नव्य (आधुनिक) विद्वानों के मतानुसार साक्षिभास्य आलम्बनादि-विषयक रत्यादि स्थायिभाव ही रस है। ('साक्षिभास्य" पद में "साक्षी" का अर्थ है—"अन्त करणोपहित चैतन्य"। "साक्षिभास्य" का अभिप्राय है–केवल आत्मा में भासित होने वाले। अर्थात् वह रत्यादि स्थायिभाव आत्मा में भासित होने वाले हैं। उक्त पंक्ति में द्वितीय पद "आलम्बनादिविषयक" का तात्पर्य है–शकुन्तलादि जो आलम्बन है, उन आलम्बनादि के विषयीभूत रत्यादि स्थायिभाव। इस प्रकार केवल आत्मा में भासित होने वाले शकुन्तलादि आलम्बनविषयक जो रत्यादि स्थायिभाव है, उन्हें ही रस कहा जाता है।)

यहाँ (काव्य में अथवा नव्यमत में) व्यञ्जनावृत्ति से (दुष्यन्तरूपी धर्मी की) शकुन्तलाविषयक रति का ग्रहण होता है (अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति से "दुष्यन्त शकुन्तलाविषयकरतिमान्"—यह अर्थ ज्ञात होता है) तब निरन्तर चलने वाली (अथवा बिना विच्छेद के प्रवाहित हो रही) चित्तवृत्ति में (पुन-पुन अनुसन्धानरूप सहृदयत्वरूपी) भावना- विशेष की महिमा से स्वात्मा में कल्पित आलम्बन-व्यापार से अन्य सम्कार तिरोहित हो जाते है और स्वात्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाता है (अर्थात् "दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयक-रतिमान्" यह बोध होता है)। वहाँ स्वात्मा में उपपद्यमान सभी (विशेष्यांश—दुष्यन्तरूप से स्वात्मा और विशेषणांश—शकुन्तलाविषयक रति, ये दोनों ही) अनिर्वचनीय होते हैं। (अनिर्वचनीय का अभिप्राय है कि इसे न तो सत् कहा जा सकता है, न असत्। सत् तो यह है नहीं और असत् होना तो प्रतीत नहीं होता, परन्तु कल्पित होने पर भी इसका ज्ञान होता है, अत सत्-असत् विलक्षण होने से अनिर्वचनीय कहा जाता है।)

यह रस भावनारूप दोष का कार्य है और विशेषभावनारूप दोष के नष्ट हो जाने पर (रस भी) नष्ट होने वाला है (अर्थात् यावत्कालिक भावनारूप दोष रहता है तभी तक शकुन्तलादि रति की रसरूप में प्रतीति होती है)।

(ख) रस के पश्चात् उत्पन्न होने वाले अलौकिक आह्लाद से इसे (रस को) अभिन्न समझा जाता है अत रस को "सुखरूप" कहा जाता है। (अर्थात् "दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्" इस रस-प्रतीति के पश्चात् ही अलौकिक

आह्लाद उत्पन्न होता है, अत रस और अलौकिक आह्लाद मे भेद होने पर भी इनका भेद ज्ञात नही होता, अतएव उन दोनो को अभिन्न स्वीकार करके रस को सुखरूप कहा जाता है।)

(रस को व्यङ्ग्य और वर्णनीय क्यो कहा जाता है, इस विषय पर विवेचन किया गया है कि) रस (स्व) के पूर्व व्यञ्जनावृत्ति से ज्ञात शकुन्तलादि रति ("दुष्यन्त शकुन्तलाविषयकरतिमान्") और भावनाविशेष से उत्पन्न रसरूप शकुन्तलाविषयक कल्पित रस ("दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयक रतिमान्") मे भेद ज्ञात नही होता, अत रस को भी व्यङ्ग्य और वर्णनीय कहा जाता है।

अवच्छादकत्व भी अनिर्वचनीय ही होता है। (अवच्छादकत्व का अभिप्राय है—स्वात्मा का दुष्यन्तत्वरूप से आच्छादित होना। अर्थात् "दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्" इस प्रतीति मे जिस प्रकार सहृदय की स्वात्मा मे उत्पन्न होने वाली शकुन्तलाविषयक रति तो अनिर्वचनीय है ही, उसी प्रकार सहृदयो की स्वात्मा को आच्छादित करने वाला दुष्यन्तत्व भी अनिर्वचनीय ही कहा जाता है।

अत्राहु काव्ये कविसमर्पितेषु विभावादिषु व्यञ्जनव्यापारेण नाट्ये नटस्य भावकत्वव्यापारेण च तेष्वेव[1] तत्तत्तादात्म्यावगाही[2] बोध[3] समुत्पद्यते। स च स्वोत्तरकालीनाह्लादेनाभेदोपचारात्सुखात्मेति।

तत्र दुष्यन्तशकुन्तलादितादात्म्यापन्नान्त[4]करणवृत्तौ तत्तत्स्थाय्यवगाही बोधप्रतिबिम्बस्तदात्मको[5]ऽपि नासौ रस श्रुतावभेदप्रत्ययेन रसव्युत्पत्ते। न च तत्रानिर्वचनीयगधोऽपि।

तथाहि अनिर्वचनीयत्व[6] नाम अज्ञानावच्छिन्नशुक्तिकाशकले रजतखण्डभानमिव भासमानत्व दोषविशेषस्य महिम्ना। पीत शखस्तिक्तोगुड इत्यत्रापि[7] भावनाविशेषरूपदोषेण कल्पिततिक्तत्वादिवत् कल्पि-

---

1 विभावादिष्वेव (मू पा टि)
2 दुष्यन्तशकुन्तलादि तादात्म्यावगाही (मू पा टि)
3 बोध
4 ०न्तर०
5 स्वाध्यात्मा (मू पा टि)
6 आरोप्यारोपकाक्षा*मिप्रायेणाह (मू पा टि)
* ग्रा ०
7 उभयत्र युक्त्यैक्य समावयन्नाह (मू पा टि)

तालबन[1]भानावच्छिन्ने स्वात्मनि शुक्तिकाशकलकल्पे साक्षिभास्यालबन[2]नादिविषयक स्थायी रजतखण्ड इव कल्प्येत[3] यदि[4] श्रुत्या परामृश्येत। [22ब] [5]तत्पदपरामर्शस्य निर्विशेषनिष्ठत्वेन [6]बाधितत्वात्। साक्षिभास्यालम्बनविषयकस्थायित्वस्य तत्त्वाभावेन[7] रसपदव्यपदेश्यत्वाभावात्।

कस्यानिर्वचनीयत्व रसस्य तद्भावस्य[8] वा। न प्रथम स्वप्रकाशचैतन्यात्मनस्तदयोगात्। तद्भावस्य चेत् यत्किञ्चिद्भावस्य भावमात्रस्य वा। न प्रथम [9] रजतसंस्कारनाशे शुक्तिकाशकले पूर्वसंस्कारस्यान्यत्रापि[10] बाधदर्शनेन रसस्य भावनाशेऽप्यनुगमेन[11] व्यभिचारात्। भावमात्रस्य चेत् तुष्यतु[12] भवान्, भावानामनिर्वचनीयत्व-रव्यापनेन तत्पदपरामृष्टस्य शुद्धस्य तु न कथञ्चिदनिर्वचनीयत्वव्यपदेश।

(नवीन मत की समालोचना की जा रही है—यहाँ नव्य-मत मे कहा गया है कि काव्य मे कवि के द्वारा उपस्थापित विभावादि मे व्यञ्जना-व्यापार से और नाट्य मे नट के (अभिनयादि बाहुल्य) भावकत्वव्यापार स उन उन विभावादि मे ही उन-उन दुष्यन्तशकुन्तलादि के साथ तादात्म्यावगाही (एकाकारता) का बोध (प्रतीति) उत्पन्न होता है। (वह बोध ही रस कहा गया है) और वह तादात्म्यावगाही बोध रस के पश्चात्कालिक आह्लाद से अभेद रूप में आरोपित होता है, अत रस को सुखस्वरूप ही माना जाता है।

(नव्यमत का खण्डन किया जा रहा है—) वहाँ (नव्य मत मे) दुष्यन्त

---

1 ०व० 2 ०ब०

3 ०ल्पेत

4 दूषयति (मू पा टि)

5 स्थायितादात्म्येन रव पदवदपरोक्षवृत्ते रसशब्दस्य तत्पदवत्परोक्षवृत्ति सरारम्य परामर्शबाध्य यत निर्विशेषप्रत्ययस्य वाक्यार्थघटकत्वेन तादात्म्ये नारोप्य रजतखण्डकल्पस्यापवादन्यायेन बाधितत्वादित्यर्थ (मू पा टि)

6 बा०

7 अवच्छेदकभेदस्याभ्युपगमात् रसत्वाभाव (मू पा टि)

8 रसभावस्य (मू पा टि,

9 आरोप्यत्वाभावात् (मू पा टि)

10 गुडनित्तत्वे (मू पा टि)

11 सामान्यवृत्त्या रसस्यानुगम (मू पा टि)

12 दुष्टगिरया परिहरति (मू पा टि)

शकुन्तलादि तादात्म्य को प्राप्त (अर्थात् जब सहृदय दुष्यन्त मे स्वय को अभिन्न समझता है, उस प्रतीति मे युक्त) अन्त करणवृत्ति मे उन-उन स्थायिभावो से युक्त बोध का स्वप्रकाशमान चैतन्य का जो प्रतिबिम्ब है, वह स्थाय्यात्मक होने पर भी रस नही है (अर्थात् अन्त करण के परिणामविशेष मे आत्मचैतन्य के प्रतिबिम्ब को रस नही कह सकते ।) क्योकि श्रुति मे "रसो वै स"—"रस तो वही है" इस वाक्यानुसार बिम्ब मे रसरूपता आती है, प्रतिबिम्ब मे नही । और वह बिम्ब (आत्मचैतन्य) तो अनिर्वचनीय नही है (वह सत् है, अन वचनीय है) ।

(अनिर्वचनीय किसे कहते हैं, यह स्पष्ट किया जा रहा है—) क्योंकि जैसे दोष-विशेष (भावना-विशेष) की महिमा के कारण, अज्ञान से विषयीकृत *सीपी के टुकड़े मे रजतखण्ड (चादी के टुकड़े) का भासित होना ही अनिर्वचनी*यता कहा जाता है । "शख पीला है" "गुड तिक्त (कड़वा) है," इन दोनो वाक्यो मे भी विशेषभावनारूप दोष के कारण कल्पित (शखगत पीतत्व और गुड़गत) तिक्तत्वादि होना है (अर्थात् जैसे शख पीला नही होने पर भी परिस्थितिविशेष मे व्यक्ति को पीला दिखायी देता है, इसी प्रकार गुड मधुर होने पर भी दोष-विशेष के कारण तिक्त प्रतीत होता है, वहाँ शखगत पीतत्व और गुड़गत तिक्तत्व अनिर्वचनीय ही होता है, क्योकि न तो वह सत् माना जा सकता है, न ही असत्) । उसी सीपी खण्ड के समान कल्पित दुष्यन्तत्वादि आलम्बन मे अवच्छिन्न (ढके हुए) स्वात्मा म, रजतखण्ड के समान साक्षिभास्य आलम्बनादिविषयक (शकुन्तलादिविषयक रत्यादि) स्वायिभाव रूप रस को कल्पित ही माना जायेगा, यदि वह श्रुति मे परामृष्ट होता । (अर्थात् जैसे सीपीखण्ड मे रजतखण्ड को कल्पित या अनिर्वचनीय कहा जायेगा, तद्वत् ही स्वात्मा मे शकुन्तलादिविषयक जो रत्यादि स्थायिभाव रस हैं उन्हे भी कल्पित या अनिर्वचनीय तब माना जायेगा, जब श्रुति मे उसका परामर्श हो) । श्रुति "रसो वै स" तत्पद से घटित है (अर्थात् बोध्य अर्थ को "तत्" पद से बोधित किया गया है।) । यह "तत्" पद सजातीय-विजातीय भेद-रहित एक अद्वितीय आत्मचैतन्य-जो निर्विशेष है, उसको बताता है, अत वचनीय होने से अनिर्वचनीयता बाधित हो गयी । साक्षिभास्य आलम्बन-विषयक स्थायित्व शकुन्तलादिविषयक रत्यादि तत्पद परामृष्ट निर्विशेषत्व नही है (रस तो स्वप्रकाशरूप है, चैतन्यरूप है अत) रस अनिर्वचनीय नही है ।

(यदि अनिर्वचनीयता मानें तो) अनिर्वचनीयता किसको स्वीकार किया जाये ? रस को अथवा उसके (रस के) भाव को । (यदि प्रथम रस का पक्ष माना जाये तो) स्वप्रकाशचैतन्यस्वरूप रस का उस अनिर्वचनीयता के साथ योग नही

होना (अर्थात् "रसो वै स" इसको चैतन्यस्वरूप माना गया है और वह चैतन्य वचनीय है तब रस को अनिर्वचनीय नहीं कहा जा सकता) अतएव प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता। यदि द्वितीय, उसके भाव को अनिर्वचनीय माना जाय तो यत्किञ्चित् भाव (जिस किसी भाव) को कहेंगे या भावमात्र को। प्रथम (यत्किञ्चित्भाव) को अनिवर्चनीय नहीं कह सकते क्योंकि शुक्तिकाशकल में रजतसंस्कार नष्ट होने पर पूर्व (रजत) संस्कार नहीं होता, इसी प्रकार अन्यत्र गुड में तिक्तता का संस्कार नष्ट होने पर तिक्तता नहीं रहती, परन्तु भाव नष्ट होने पर भी रसत्वेन चैतन्य का रहना ही है अर्थात् चैतन्य में हमेशा रसरूपता, आनन्दरूपता तो रहती है, अतः व्यभिचार हो गया। यदि भावमात्र को (भाव से भावमात्र वस्तु को) अनिर्वचनीय कहना चाहते हो तो कहिये। भाव से उपलक्षित में अनिवर्चनीयता है, पर तत्पद से परामृष्ट शुद्ध (उपलक्षण-रहित) तो किसी प्रकार भी अनिर्वचनीय नहीं हो सकता। ("भावयन्ति इति भावा" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो आत्मचैतन्य को भावित करते हैं, जिससे उस आत्मचैतन्य की अभिव्यक्ति होती है, वह भाव है, अथवा अन्तःकरण के परिणाम-विशेष को भाव कहते हैं। अर्थात् आत्मचैतन्य को भावित करने वाले 'अहं ब्रह्मास्मि," "सोऽहम्" इत्यादि वाक्य भाव है, जो अनिवचनीय हैं। आत्मचैतन्य जब प्रतीति का विषय होता है तो उसके प्रत्यायक विषयमात्र भाव है। अथवा समाधि-अवस्था में आत्मचैतन्य की भावक अन्तःकरणवृत्ति है, तदात्मकभाव भी अनिर्वचनीय ही है। अनिवचनीय का अभिप्राय हुआ— जिसका भान होता है, पीछे विलुप्त हो जाता है। आत्मचैतन्य तभी तक भासित होता है जबतक कोई वृत्ति अर्थात् भाव रहता है, परन्तु जिस स्थिति में आत्मचैतन्य ही रहता है, वहाँ कोई भी उसका द्रष्टा या करण नहीं रहता, उस स्थिति में वह शुद्ध आत्मचैतन्य अनिर्वचनीय नहीं होता है।)

न चैव साक्षिभास्यालम्बनविषयकरत्यादेर्भान नात्मनो रसस्येति वाच्यम्। स्वप्रकाशत्वेन प्रदीपस्येव सन्निहितपदार्थप्रकाशनेनानपह्नुतस्वभानतया साक्षिरूपस्य तस्यैव भानात्। पात्रविशेषसलिलप्रतिफलनतारतम्येनप्रभावरस्येवोपाधिवभेदवत् कल्प्यमानस्तत्तरस्याप्यवगाहोबोधप्रतिबिम्ब। पात्रनाशेऽप्यनश्यदनाश्रय अकार्यश्च।

वि ध विशिष्टबोधे विशेष्यतावच्छेद [क]त्वस्य तादात्म्यापन्नात[1]करणवृत्तिरूपत्वेन स्थायित्वाध्यवसायात्मना परिणममानस्थायित्व-

1. ० तरा ०

[23अ] व्यवहारप्रयोजकतास्तु[1] ।

चिद्गतावरणभगस्पचर्वणामात्रशरीरस्त्वनुभवातिरिक्तप्रमाणसोपानस[2]रणिमारोढुमशक्त ।

सोऽय स्थाय्यवच्छिन्नानावरण चिद्रूपो ब्रह्मानन्द एव रस इत्युच्यते। "रस ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दीभवती" ति श्रुते ब्रह्मानन्दस्यैव रसात्मता। प्रतीतौ स्थाय्यवच्छिन्नत्वस्य कारणत्वे तदवच्छेदकत्व प्रत्यलौकिककाव्यव्यापारेण भावनया स्वात्मनि समर्पितानामन्यालम्बनादि तादात्म्यापन्नान्त [4]करणवृत्तिसमवहितबोधप्रतिबिवाना विभावादीना च मिद्धे सूत्रार्थ सपद्यते ।

(नव्यमत के सम्बन्ध मे एक अन्य शका प्रस्तुत करके उसका समाधान किया जा रहा है—) साक्षिभास्य (केवल आत्मा मे भासित होने वाले) आलम्बन-विषयक (शकुन्तलादि आलम्बन विषयीभूत) रत्यादि का भान होता है, परन्तु आत्मचैतन्यविषयक रस (रसरूप आत्मा) का भान नही होता, इस प्रकार नही कहना चाहिये। जैसे—दीपक जब सन्निहित पदार्थों को प्रकाशित करता है तो वहाँ स्व (प्रदीप) का भान अपह्नुत (छिपा हुआ) नही होता (अर्थात् वह प्रकाश दीपक का भी भान है और सन्निहित पदार्थों का भी भान है)। उसी प्रदीप के समान वही साक्षिरूप रसस्वरूप आत्मचैतन्य का भी भान है और वही साक्षिभास्य आलम्बनविषयक रत्यादि का भी भान है। जिस प्रकार पात्र-विशेष (विविध पात्रो) मे स्थित जल मे सूर्य का प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न दिखाई देता है अर्थात् उसके अवान्तर भेद दृष्टिगोचर होते हैं (वास्तव मे सूर्य एक ही होता है परन्तु उसके अवान्तर भेद दिखाई देने से) ये सूर्य के औपाधिक भेद माने जाते हैं। उसी प्रकार उन-उन (विशेष) स्थायिभावो से युक्त होने पर (कल्प्यमान) अन्त करण की अवस्था-विशेष मे युक्त अन्त करण की वृत्ति मे उस आत्मचैतन्य का प्रतिबिम्ब अवान्तरभेदयुक्त प्रतीत होता है (वास्तव मे भेद नही है परन्तु जो सूर्य के औपाधिक भेद के समान ही है)। जिस प्रकार विशिष्ट जल-पात्रो के नष्ट हो जाने पर भी वह सूर्य नष्ट नही होता उसी रूप मे स्थित रहता है, उसी प्रकार अवस्था-विशेष मे युक्त अन्त करण वृत्ति विनष्ट होने पर

---

1 ० जकोस्तु ०

2 ० श ०

3 ० रसम्ह्येवाय लब्धा ०

4 ० नत्क ०

भी वह रस-स्वरूप आत्मचैतन्य नष्ट नहीं होता। अतः उस रसस्वरूप आत्म-चैतन्य को अनाश्य (जिसका नाश नहीं हो सकता) और अकार्य (जो कार्य नहीं है) कहा जाता है।

('दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्" इस) विशिष्टबोध में, विशेष्य-तावच्छेदकत्व अर्थात् उद्देश्यतावच्छेदकत्व जो दुष्यन्तत्व है, वह शकुन्तला-विषयक तादात्म्यापन्न रतिमद् अन्तःकरणवृत्ति रूप है। (अर्थात् शकुन्तला-विषयकतादात्म्यापन्न रतिमद् के साथ) दुष्यन्तत्व का अभेद कहा जायेगा। और शकुन्तलाविषयक तादात्म्यापन्न रति से युक्त जो अन्तःकरणवृत्ति है वह शकुन्तला-विषयक रति से अभिन्न है, अतः उनमें अध्यासित अभेद है। इसलिये परिणम-मान (परिवर्तित होते हुए अध्यासित अभेदयुक्त) स्थायिभाव ही व्यवहार के प्रयोजक है। (वेदान्त में गुण-गुणी का अभेद माना जाता है। वैयाकरण शब्द, अर्थ और ज्ञान में अभेद मानते हैं। अर्थात् 'अयं घट" शब्द का जो अर्थ घट" है, वही उसका ज्ञान भी है। यह अभेद भेदाभेदाघटित है, इनमें आरोपित अभेद माना जाता है। इसी प्रकार यहाँ पर शकुन्तलाविषयक रति स्थायी है, उस शकुन्तला-विषयक स्थायी से अभिन्न रतिमत् है और उससे अभिन्न दुष्यन्तत्व है। अतः अध्यासित अभेद होता है।)

चैतन्यगत अज्ञानरूपी आवरणभङ्गरूप चर्वणामात्र जिसका शरीर है ऐसे रस के विषय में अनुभव के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण-सोपान का मार्ग प्राप्त नहीं हो सकता है।

यही स्वाप्यवच्छिन्न अज्ञानरूपी आवरण से रहित आत्मचैतन्य-स्वरूप ब्रह्मानन्द ही रस है, ऐसा कहा जाता है। 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति"— "रस को पाकर ही यह आनन्दस्वरूप होता है", इस श्रुति के अनुसार ब्रह्मानन्द की ही रसात्मकता स्वीकार की गई है। 'दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्" इस प्रतीति में, प्रतीति में अवगाहमान जो स्वाप्यवच्छिन्नता है वहाँ शकुन्तला-विषयक रति स्थायिभाव में स्वाप्यवच्छिन्नता कैसे होती है? उस स्वाप्यवच्छे-दकता के प्रति अलौकिककाव्यव्यापार (व्यञ्जना व्यापार) के माध्यम से काव्यार्थभावना में स्वात्मा में उपस्थापित अन्य (स्वात्मा से अतिरिक्त) आलम्बन दुष्यन्तादि तादात्म्याकार ("दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्" इस तदा-कार) अन्तःकरण की वृत्ति में बिम्ब (आत्मचैतन्य, ब्रह्मानन्द) का प्रतिबिम्ब जो विभावादि है, उनमें कारणत्व सिद्ध होता है और तभी गुरुाभिप्रेतार्थ सिद्ध होता है। (मूल-ग्रन्थ की उक्त पंक्तियों में "कारणत्वे" शब्द को "विभावा-

दीना च कारणत्वे सिद्धे" इस प्रकार अन्वय करने पर पक्तियो का अभिप्राय स्पष्ट होता है।)

तथा च सूत्रम्—

"विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति ।"

विभावादीना सयोगाद्व्यन्जनाच्चिदानन्दविशिष्टस्थाय्यात्मन, स्थाय्यवच्छिन्नचिदानन्दात्मनो वा रसस्य निष्पत्ति स्वरूपेण प्रकाशनम्।

भावकत्वव्यापारेण भावनात् भोगाख्येन साक्षात्कारेण विषयीकृत ।

भावनाविशेषरूपाद्दोषात् रसस्यानिर्वचनीयदुष्यन्तरत्याद्यात्मनो निष्पत्तिर्वेति ।

रस शमादिका वृत्तिर्नवधा भेदकारणम् ॥ सू 50 ॥

रस्यत आस्वाद्यत इति रस । परमाह्लादकारण शमादिका [23ब] शमरतिहासादिका स्थायिभावरूपा वृत्ति रसभेदे कारणम्।

अत्र करुणरौद्रवीभत्सभयानकादीनामनुभावकवृत्त्याह्लादप्रतिकूलत्वेऽपि लोकोत्तराह्लादकार्यविशिष्टकाव्यव्यापारमहिम्ना चारुत्वमनुसन्धेयम्। रामजानकीविरहम्यान्योन्यालम्ब[1]नत्वेन दु खोद्भावकस्यापि व्यञ्जनव्यापारेण काव्यमहिम्ना लोकोत्तराह्लादकारणत्व निश्चयात् इष्टसाधनत्वेन तत्र प्रवृत्तेरप्रत्यूहत्वात्।

अलौकिकोऽपि भोगात्मा क्वचिन्नासौ ॥ सू 51 ॥

काव्यमात्रव्यापाराच्छोकादीनामपि रमणीयत्वप्रापण भोगात्मन[2] अलौकिकम्। ततश्च भोगात्मा स्वनिष्ठ परनिष्ठो वा विकृतो भिन्न कार्यो दोषविशेषनाश्यश्च भवति। न पुनस्तत्तदनुकूलशब्दार्थव्यापारविरामोत्तरकालीनाह्लादमात्रात्मा तत्तत्स्थायिस्वरूपमात्रावच्छिन्नाऽनावरणचिद्रूप। स्थायिमात्रावरणभङ्गे तु "[3]ब्रह्म विद्[4] ब्रह्मैव भवती"ति परमानन्द एव। ध्वनिप्रकरणोक्त गोपीवत्सम्पद्यते[5] इति दिक्।

(भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित) वह सूत्र है—

---

1 ०व०

2 ०त्मा

3 ब्र०

4 वेद्

5 तदप्राप्तिमहादु खेत्यादि (मू पा. टि)—श्लोक–37

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

(अभिनवगुप्त के विवेचनानुसार सूत्र की व्याख्या है—) विभावादि के संयोग से अर्थात् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसम्बन्ध से चिदानन्दविशिष्ट रत्यादि स्थायिभावात्मक रस की निष्पत्ति होती है अथवा रत्यादि स्थायिभावयुक्त चिदानन्दस्वरूप रस की निष्पत्ति होती है। "निष्पत्ति" का अभिप्राय है—स्व (अपने) रूप का प्रकाशन होता है। ("वा" से सूचित होता है कि बाद वाला पक्ष श्रेष्ठ है।)

(भट्टनायक के अनुसार सूत्रार्थ होगा—) भावकत्व व्यापार से विभावादि का (संयोग) साधारणीकरण होने पर भोजकत्व व्यापार से (रस की निष्पत्ति) अर्थात् स्थायिभावों का रसरूप में भोग किया जाता है।

(नव्यमत के अनुसार विभावादि के संयोग से अर्थात्) काव्यार्थ के पुन-पुन अनुसन्धानरूप भावनाविशेषयुक्त दोष से ("दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्" इस दोष से) अनिर्वचनीय दुष्यन्तविषयक रत्यादि स्थायीभावात्मक रस की निष्पत्ति होती है।

रस-भेद का कारण—

(चिदानन्दात्मा सभी रसों मे अघटित होता है, तब अवान्तर भेद का कारण क्या है, इसे स्पष्ट किया जा रहा है—) शम आदि (शम, रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय यह) नौ प्रकार की वृत्तियाँ ही रस के भेद का कारण हैं ॥ सू 50 ॥

"रस्यत आस्वाद्यत इति रस" इस व्युत्पत्ति के अनुसार रस्यमान अर्थात् जिसका आस्वाद किया जा सके, उसे रस कहते हैं। शम आदि परमाह्लाद का कारण है। शम, रति, हास आदि ("आदि" पद शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय का बोधक है) स्थायिभावरूप चित्तवृत्तियाँ ही रस-भेद का कारण है।

सभी रसों से आह्लाद प्राप्ति—

करुण, रौद्र, बीभत्स, भयानक आदि रस, जिस वृत्ति से आह्लाद होता है उस वृत्ति के प्रतिकूल हैं, तथापि लोकोत्तर आह्लादकार्य विशिष्ट काव्य-व्यापार की महिमा से उक्त रसों मे भी चारुत्व का अनुसन्धान कर लेना चाहिये। राम और जानकी की विरहावस्था में परस्पर एक दूसरे के आलम्बन होने पर दुःख की उद्भावना होती है, परन्तु फिर भी व्यञ्जना-व्यापार-युक्त काव्य की महिमा से

लोकोत्तर आह्लाद को कारणत्व स्वीकार किया गया है, अत वहाँ (राम-जानकी के विरह-वर्णन मे) सुख की ही प्रवृत्ति होती है, यह निश्चित है।

अलौकिक होते हुए भी यह रस कही-कही भोगस्वरूप नही होता ॥सू 51॥

काव्य के अलौकिक व्यापार से शोक आदि को भी रमणीयता प्राप्त होना ही भोगस्वरूप (रस) की अलौकिकता है। (सूत्र मे प्रयुक्त "क्वचिन्नासौ भोगात्मा" की उत्पत्ति-) फलत भोगात्मा (रस) स्वनिष्ठ-रत्यादिस्थाय्यवच्छिन्न चिद्स्वरूप हो, अथवा परिनिष्ठ-चिदानन्दविशिष्ट स्थाय्यात्मा, विकृत-रसरूपता को प्राप्त हुआ, भिन्न—चित् के शुद्ध स्वरूप से भिन्न (अथवा योगियो की समाधि की अनुभूति से काव्य-व्यापार की अनुभूति भिन्न है), दोष-विशेष का कार्य और दोष विशेष का नाश होने पर नष्ट होने वाला होता है। उन-उन अनुकूल शब्दार्थ-व्यापार (काव्य के व्यञ्जना-व्यापार) के विराम के पश्चात् उत्पन्न आह्लादमात्र-स्वरूप यह रस उन-उन स्थायिस्वरूपमात्रयुक्त आवरणरहित चैतन्यस्वरूप ही नही है। स्थायिमात्र का आवरण भग होने पर तो "ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है", इस उक्ति के अनुसार परमानन्द ही होता है। ध्वनिप्रकरण मे उक्त 'तदप्राप्तिमहादु ख' इत्यादि (श्लोक 37) मे कथित गोपी के समान हो जाना है, इस प्रकार से इसका दिङ्मात्र निर्देश दिया गया है।

स चाय रसो द्विधा आनन्दमात्रावयवो नित्योऽन्यो भावितोऽन्यथा ॥सू 52॥

रसो द्वि प्रकार आनन्दैकप्रतीतावयव शमशृङ्गारादिभेद पूर्णानद श्रीकृष्णाख्यो नित्यस्तदन्य आनन्दमयावयवस्तु कविनटाभ्या भावित [24अ] अश A भेदेनाऽनित्य । तत्रापि यत्किञ्चिद्भावावच्छिन्न कार्यो दोषविशेषनाश्य यावद्भावावच्छेदेन व्यङ्ग्यो वर्णनीयश्च तत्रोभयत्राप्युदाहरणम्। यथा—

आनन्दघूर्णितमिव व्रजसुन्दरीषु[1]
[2]बालेषु किञ्चिद[3]वलम्बि[4]तकुन्दकाति[5]।
[6]भ्रू चापचक्रम[7]णचुम्बि[8]तचित्तमेन—
[9]दुन्मीलितास्तिलकल[10] हृदये मह स्यात् ॥49॥

---

1 शृगार (मू पा टि)
2 वा ०
3 हास (मू पा टि)
4 ० म्बित ०
5 दन्त (मू पा टि)
6 वीर (मू पा टि)
7 रुद्र (मू पा टि)
8 भय (मू पा टि)
9 अद्भुत (मू पा टि)
10 शान्त (मू पा टि)

अत्र ध्यानैकतानताविर्भूते भगवन्महसि एतदिति साक्षात् कृते स्यादिति सम्भावितस्थितौ उन्मीलिताखिलकलत्वेन स्वस्मिन् दोषदृष्ट्या सञ्जातघृणानुकूलकरुणाप्रपञ्चितानेकरसाङ्कुरे रस्यतावृत्ति पूर्णानन्देन भगवता श्रीकृष्णेन अभिन्नैव नित्या भासते। यावद्भावत्वेन व्यङ्ग्या वर्णनीया च स्फुटैव। [1]मल्लानामशनिरित्यादावानन्दमयावयव एव अस्याशभेदेन कार्यत्व दोषविशेषनाश्यत्व च तत्प्रकरण एव स्पष्टम्। अथ नटभावित कविभावितस्त्वनन्तरपद्ये वर्णित।

वही यह रस दो प्रकार का होता है—आनन्दमात्र अश स्वरूप नित्य होता है और कवि अथवा नट के द्वारा भावित (प्रकटीकृत) अन्य प्रकार का (अनित्य) होता है ॥ सू 52 ॥

रस दो प्रकार का होता है—केवल आनन्दस्वरूप मान जाने वाले जो शमशृङ्गारादि रस के भेद है वे पूर्ण आनन्दस्वरूप श्रीकृष्णनामक नित्य हैं। इससे भिन्न आनन्दमय अवयववाला कवि अथवा नट के द्वारा भावगोचर (प्रकटीकृत) रस अशभेद से अनित्य हैं। वहाँ भी जो कुछ भावों से अवच्छिन्न विशिष्ट (भावनारूप) दोषविशेष का कार्य होने से नाश्य है और सर्वथा भावों से अवच्छिन्न होने से व्यङ्ग्य और वर्णनीय है। उन दोनों का उदाहरण जैसे—

उत्सवरूप भगवान् श्रीकृष्ण विभिन्न लोगों के हृदय में भिन्न-भिन्न रूपों में भावगोचर होते हैं। व्रज-सुन्दरियों में मानों आनन्द उन्माद बनकर व्याप्त हैं (शृङ्गार)। बालकों में (दाँतों में) कुछ कुन्द पुष्प की कान्ति धारण करते प्रतीत होते हैं (हास)। अन्यत्र कहीं मोहरूपी धनुष को इधर-उधर घुमाने से (वीर), कहीं सवेग गति (चक्रमण) से (रौद्र), कहीं चित्त-चुम्बन (भय) से, कहीं उन्मीलन (अद्भुत) और कहीं अखिल कल सम्पूर्ण सौन्दर्य के रूप में (शान्त) प्रतीत होते हैं ॥ 49 ॥

यहाँ ध्यान की एकाग्रता से आविर्भूत भगवान् मह (उत्सवरूप भगवान्) में "यह है" ऐसा साक्षात् करने पर सम्यग् भावित स्थिति में उन्मीलित और अखिल कलत्व के द्वारा अपने भीतर दोष-दृष्टि के कारण घृणा, अनुकूलता, करुणा आदि

---

1 मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥
(भागवतपुराण–10, 43, 17 म–गीताप्रेस गोरखपुर)

मे प्रपञ्चित अनेक रसाकुरो के उत्पन्न होने पर रस्यता वृत्ति (स्थायी माव) पूर्णानन्द मगवान् श्रीकृष्ण से अभिन्नरूप मे ही नित्य भासित होती है। सवथा मावत्व के द्वारा व्यङ्ग्य और वर्णनीय स्फुट (स्पष्ट) ही है। "मल्लानाम् अशनि" इत्यादि (भागवतपुराण के पद्य) मे आनन्दमयावयव ही इसके अशभेद से कायत्व और दोषविशेष नाश्यत्व है—यह उस प्रकरण म ही स्पष्ट है। यह नटमाविन (नट के द्वारा प्रकटित है)। कविमाविन तो उसके बाद वाले पद्य मे वर्णित है।

उभयभावितो यथा—

पश्यताऽस्य पठन स्मृतिपाठ विस्मृतिं व्रजति न प्रियवर्ग ।
श्लाघतोऽपि सगुण निजधर्म तिर्यगेव चलिताचलदृष्टि ॥ 50 ॥

अत्र शब्दव्यङ्ग्यस्य विरुद्धार्थस्य रसोद्भावकता काव्यव्यापारेण [24ब] तिर्यगावर्जितदृङ्नटनव्यापारेण चैकदेशतोऽभिनीय नीयते। यथा वा—

नीवी स्पृशन् युवतिषु प्रहसन् वयस्यै-
र्मुञ्जाटवीदहनगामु च गोपु दूस्यन् ।
ताम्यन् रिपौ करुणयन् जनकेति चौर्य्यान्
गच्छन् घृणी जगति चित्रयति स्म कृष्ण ॥ 51 ॥

अत्र कृष्ण इति सदानन्दघन परमात्मा विकारशून्य शान्त, चित्रयतीत्यद्भुत, जगति दोषदृष्ट्या घृणी वीभत्स, अतिचौर्य्यादिगच्छन्निति भयानक, करुणयन् जनकेति दयावीर, रिपौ ताम्यन्निति रौद्र, दुस्यन्निति करुण, शेष स्पष्टम्। अवयवत्वेन प्रतीयमानो भिन्नोऽप्येकस्मिन्[1] रस्यतावृत्या स्वदते स चायमानन्दावयव ।

उभयभावित जैसे—

इस पढते हुए के स्मृतिपाठ को देखिये। यह अपने प्रियवर्ग को भूलता नही है। गुणयुक्त निजधर्म की प्रशसा करते हुए भी इसकी अचल दृष्टि तिरछी ही चलती रहती है ॥ 50 ॥

यहाँ शब्दव्यङ्ग्य विरुद्ध अर्थ की रसोद्भावकता काव्यव्यापार मे और तिरछे किये गये नेत्रो के अभिनय व्यापार से दोनो की एकदेशता अभिनय द्वारा प्रकटित है। अथवा जसे—

---

1 कृष्णे (मू पा टि)

युवतियों में नीवी का स्पर्श करते हुए, मित्रों के साथ हँसते हुए, मूंज के जंगलों में दावानल की ओर जाने वाली गायों के बीच दुःखित होते हुए, शत्रुओं को पीड़ित करते हुए, पिता के प्रति करुणा धारण करते हुए, अत्यन्त चोरी से जाते हुए, मभार के प्रति घृणा बरतते हुए कृष्ण आश्चर्य उत्पन्न करते हैं ॥51॥

यहाँ कृष्ण सदानन्दघन परमात्मा विकारशून्य हैं, अतः शान्त रस है। आश्चर्यकारी है—इसमें अद्भुत, जगत् के प्रति दोष-दृष्टि के कारण घृणी है—इसमें बीभत्स, अत्यन्त चोरी से जाते हुए—इसमें भयानक, जनक के प्रति करुणा भाव धारण करते हुए—इसमें दयावीर, शत्रुओं को पीड़ित करते हुए—इसमें रौद्र, दुःखित होते हुए—इसमें करुण रस है, शेष स्पष्ट है। अवयवरूप में प्रतीत होते हुए भिन्न होते हुए भी एक (कृष्ण) में रस्यतावृत्ति (स्थायी भाव) से यही आनन्दावयव (रस) आस्वादगोचर होता है।

तदेव सामान्येन रसस्वरूपं निरूप्य तद्भेदानाह—

रतिहासौ शोकभये क्रोधोत्साहौ घृणाक्मत।
विस्मयशमौ च कथिता स्थायीभावा पृथग्रसनम् ॥ सू 53 ॥

अत्र स्थायिभावपरिपुष्टत्वाद्रसभेदव्यक्ते, सजातीयविजातीयैरतिरस्कृतत्वे यावद्रस वर्तमानत्व, विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैरविच्छिन्नत्वे मत्यात्मभावप्रापकत्व वा, विभावानुभावव्यभिचारिभिन्नत्वे [25अ] शृङ्गारादिव्यक्तिविशेषभावरूपत्व वा। A

चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते, [1]सम्बध्यन्तेऽनुबन्धिभिः।
रसत्व ये प्रपद्यन्ते, प्रसिद्धा स्थायिनोऽत्र ते ॥

इत्युक्ते स्थायित्व विवेच्यम्।

घटावच्छिन्नाकाशाद् घटस्येव स्थायिनो भेद ॥ सू 54 ॥

तत्र—

रतिरन्यान्यसंसर्गालम्बनावृत्तिरिष्यते ॥ सू 55 ॥

स्त्रीपुंसोरन्योन्यालम्बनप्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थायिभावः। दर्शनश्रवणादिना समुत्पन्नप्रेमाङ्कुरस्यैव शृङ्गारे स्थायिभावव्यवहारः। विभावानुभावादीनां परिपोषस्य रससाधकत्वात्। अतएव प्राञ्च —

---

1 सम्ब०

"व्यक्त स तैर्विभावाद्यै स्थायीभावो रस स्मृत" इति ।

व्यक्तिविषयीकरणे विभावादीना स्थायिन साधकत्व न, स्वरूप-सिद्धौ तत्र व्यञ्जनव्यापारेणाऽनुरागमात्रप्रत्यय । एतेन "चक्षुर्यस्य कृपीवलो निगदित" मित्युदाहरण परास्तम् ।

इस प्रकार सामान्यरूप से रसस्वरूप बताकर उसके भेद कहते हैं—

स्थायिभाव—

क्रमश रति, हास, शोक, भय, क्रोध, उत्साह, घृणा, विस्मय और शम, ये स्थायी भाव हैं । रसन (व्यापार) पृथक् है । (शृङ्गार का रति, हास्य का हास करुण का शोक, भयानक का भय, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, बीभत्स का घृणा, अद्भुत का विस्मय और शान्तरस का शम, स्थायिभाव होता है)।।सू 53।।

स्थायिभावो के परिपुष्ट होने पर ही विभिन्न रसो की अभिव्यक्ति होती है । (अत) ये स्थायिभाव सजातीय अथवा विजातीय किसी भाव से तिरस्कृत (परिवर्तित) न होकर रस के आस्वादनपर्यन्त वर्तमान रहते हैं । केवल विरोधी अथवा अविरोधी भावो से विच्छिन्न ही नही होते, अपितु विरोधीभावो को भी अपने रूप मे प्राप्त करा देते हैं । ये स्थायिभाव विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावो से भिन्न हैं और रति आदि स्थायिभाव शृङ्गारादि रसो की विशिष्ट अभिव्यक्ति करते हैं ।

जो चिरकाल तक चित्त मे सम्काररूप मे स्थित रहते हैं विभावादि अनुबन्धियो के साथ सम्बद्ध रहते हैं और अन्त मे रसरूप मे प्राप्त होते हैं, वे यहाँ (काव्यशास्त्र मे) स्थायिभाव प्रसिद्ध हैं । (पण्डितराज जगन्नाथ ने "रसगङ्गाधर" मे) इस प्रकार लिखकर स्थायिभाव का विवेचन किया है ।

स्थायिभाव और रस मे भेद—

घटावच्छिन्न आकाश से जिस प्रकार घट भिन्न है, उसी प्रकार रस मे स्थायी भाव भिन्न है ।। सू 54 ।।

अब रति (स्थायी भाव) का लक्षण कहते हैं—

(स्त्री और पुरुष के) एक दूसरे के सम्पर्क को आलम्बन बनाने वाली (प्रेम नामक) चित्तवृत्ति को रतिसज्ञक स्थायी भाव कहते हैं ।। सू 55 ।।

स्त्री और पुरुष को परस्पर एक दूसरे के विषय मे आलम्बन बनाने वाली प्रेमनामक चित्तवृत्तिविशेष रतिनामक स्थायी भाव है । शृङ्गाररस मे दर्शन-श्रवण

आदि से उत्पन्न, प्रेमाङ्कुर के लिए ही स्थायिभाव शब्द का व्यवहार किया जाता है। क्योंकि विभाव, अनुभाव आदि का परिपोष ही रस का साधक होता है। अतएव पूर्ववर्ती विद्वान् (आचार्य मम्मट) ने कहा है—

उन विभाव आदि स व्यक्त स्थायी भाव ही रस कहलाता है।

स्थायी भाव को चित् शक्ति का विषय बनाने मे ही विभावादि की साधकता नहीं है, स्वरूपसिद्धि होने पर वहाँ व्यञ्जनाव्यापार के द्वारा अनुराग मात्र का अनुभव होता है। अत 'चक्षुर्यस्य कृपीवलो निर्गदितम्'' इत्यादि उदाहरण परास्त हो गया।

भावोदाहरण यथा—

दर्शनादेव ते तन्वि पुष्पित कुसुमेपुणा।

स्ववाणव्यय विनैव नायकविजयो हस्तगत इति पुष्पितत्वेन स्मरे सम्भाव्य दूतयुवत्यान्योन्यालम्बनमात्रविषयको दर्शनजन्यानुराग[1], ततश्च कुसुमेपो पुष्पितत्व न तु फलितत्वमिति, तस्यैव रसत्व प्रति विभावादि-[25ब] परिपोपापेक्षेति, व्यञ्जनया प्रतीयमान Λ स्थायीरत्याख्यो भवति। यथा वा—

निर्गमिष्यति न वेति दृशो मे चिन्तया न पदमादृतमन्त।
तावदेव हरिणा हृदयेऽस्मिन् वासवेश्मरचनाय निविष्टम् ॥52॥

अत्र न रचितमिति भावध्वनि। एतद्भावावच्छिन्नो रस शृङ्गाराख्यो भवति। तदभिधाने च विभावानुभावसञ्चारिसयोग कारण तत्र।

भावश्चित्तसमवायित्वे वृत्ते प्रथमविक्रिया ॥सू 56॥

यथा स्थितस्य स्वरूपान्तरोद्बोधे चित्तवृत्तौ चित्सम्पर्क कारण स च तत्तदनुकूल पूर्वो विकारो भाव तस्यैव विशेषभावनात् विभाव इत्युच्यते।

भाव—

भाव का उदाहरण जैसे—

हे कृशाङ्गी! तुम्हारे दर्शन से ही पुष्पबाण (कामदेव) पुष्पित हो गया।

अपना बाण छोड़े बिना ही नायक पर विजय हस्तगत हो गई इसलिए

---

1 ० जन्मानु ०

कामदेव मे पुष्पित होने की सम्मावना करके दूती की उक्ति द्वारा अन्योन्य आलम्बन मात्र विषयक दर्शनजन्य अनुराग, उसके बाद पुष्पवाण का पुष्पित होने का, न कि फलित होने का वर्णन और रसत्व के प्रति उसी के विमावादि के परिपोष की अपेक्षा होना—इस क्रम से व्यञ्जना द्वारा प्रतीयमान रति नामक स्थायी होता है। अथवा अन्य उदाहरण—

यह (हरि) मेरे नेत्र से बाहर जायेगा अथवा नही, इस चिन्ता स मैंन अपन अन्त करण मे पदापण की ओर घ्यान नही दिया, किन्तु तब तक तो हरि ने इस हृदय मे अपना निवास-मवन बनाने के लिए प्रवेश भी कर लिया ॥52॥

यहाँ "न रचितम्" यह मावध्वनि है। इस माव मे युक्त रस शृङ्गार नामक रस होता है। और उसके कथन मे विमाव, अनुमाव और व्यभिचारिमाव सयोग कारण होता है।

चैतन्य से समवायरूप से सम्बन्धित होन पर अन्त करणवृत्ति की प्रथम विक्रिया का नाम भाव है ॥सू 56॥

जैसे चित्तवृत्ति मे स्थित वस्तु के अन्य स्वरूप के उद्‌बोध मे चैतन्य का सम्पर्क ही कारण है और उन-उन सम्पर्कों के अनुकूल होने वाला प्रथम विकार माव है, और उसी के विशेष मावन से विमाव कहा जाता है।

आलम्ब[1]नोद्दीपनात्माविभावस्तस्य बोधक ॥सू 57॥

तस्य भावस्य तत्र रत्यालम्बन[2] नायकादि तमालम्ब्य रसभावोत्पत्तो । उद्दीपयन्तीत्युद्दीपनाश्चन्द्रोदयादय ।

उद्‌बुद्धस्याऽनुभावेनाऽनुभाव काव्यनाट्ययो ॥सू 58॥

कारणेनोद्‌बुद्धस्य [3]बहि प्रकाशनादनुभावहेलाऽश्रुपातादय ।

आविर्भावतिरोभावात्त एव व्यभिचारिण ॥सू 59॥

भावा एव ।

निर्वेदग्लनिशङ्काद्यास्त्रयस्त्रिंशत्समासत ॥सू 60॥

---

1 ० व ०

2 ० वन

3 व ०

अन्येऽप्यनुकूला भवन्तीति समासाभिप्राय ।

[26म] उदात्तोद्धतनामानौ प्रशान्तललितौ पुन ।
आलम्बन[1] रसस्यैते धीराद्यास्तत्र नायका ॥सू 61॥

धीरोदात्तधीरोद्धतधीरप्रशान्तधीरललिताख्याश्चत्वारो नायका इत्यर्थ ।

क्षमागर्वमृदुत्वाऽन्यसामान्यगुणलक्षणा ॥सू 62॥

क्षमाप्रधानो धीरोदात्त यथा युधिष्ठिर । गर्वाहङ्कारप्रधानो धीरोद्धत यथा भीमसेन । मृदु कलावान् धीरललित यथा वत्सराज । अन्यसामान्यगुणैर्युक्तो द्विजादिर्धीरप्रशान्त यथा माधव ।

दक्षो धृष्टोनुकूलश्च शठस्ते षोडश स्मृता ॥सू 63॥

ते धीरोदात्तादय ।

विभाव-अनुभाव-व्यभिचारिभाव—

विभाव—आलम्बन और उद्दीपनरूप विभाव हो भाव का बोध कराने वाले हैं ॥सू 57॥

यहाँ "तस्य" का अभिप्राय है उस भाव का । रति आदि भाव के आलम्बन नायिका आदि हैं। उसका आलम्बन लेकर ही रस और भाव की उत्पत्ति होती है (अत उसे आलम्बन विभाव कहते हैं) । जो उस भाव को उद्दीप्त करते हैं, ऐसे चन्द्रोदय आदि उद्दीपन विभाव हैं ।

अनुभाव—("अनु पश्चात् भवन्ति इति अनुभावा" इस व्युत्पत्ति के अनुसार) काव्य और नाटक मे उत्पन्न हुए स्थायी भा व को बाह्यरूप मे प्रकाशित करते हैं, उनको अनुभाव कहा जाता है ॥सू 58॥

आलम्बन और उद्दीपन कारण से उत्पन्न हुए स्थायी भाव को बाह्यरूप मे प्रकाशित करने वाले हेला, अश्रुपात आदि अनुभाव होते हैं ।

व्यभिचारिभाव—जो भाव स्थायी भावो के साथ साथ आविर्भाव और तिरोभाव रूप मे (चलायमान) होते है वे व्यभिचारिभाव हैं ॥सू 59॥

ये व्यभिचारी भाव ही हैं ।

---

1 ० वन

सक्षेप मे निर्वेद, ग्लानि, शका आदि 33 व्यभिचारी भाव हैं ॥सू 60॥

सक्षेप से यहा अभिप्राय यह है कि अन्य रसो मे यह अनुकूल होते हैं।

आलम्बन—

नायक-भेद-निरूपण—

रस के आलम्बन ये नायक होते हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरप्रशान्त और धीरललित ॥सू 61॥

अभिप्राय यह है कि नायक के चार भेद होते हैं–1 धीरोदात्त, 2 धीराद्धत, 3 धीरप्रशान्त और 4 धीरललित।

ये चारो नायक क्रमश क्षमा, गर्व, मृदु तथा सामान्य गुणो से युक्त होते हैं ॥सू 63॥

क्षमाप्रधान धीरोदात्त नायक होता है, जैसे—युधिष्ठिर। गर्व और अहङ्कार प्रधान धीराद्धत होता है,जैसे–भीमसेन। मृदु स्वभाव युक्त, नृत्य-गीत आदि कलाओ का ज्ञाता धीरललित नायक है, जैसे–वत्सराज उदयन। अन्य सामान्य गुणो से युक्त ब्राह्मण आदि धीरप्रशान्त होता है, जैसे—("मालतीमाधव")मे माधव।

ये (धीरोदात्त आदि चारो नायक) दक्ष (दक्षिण), धृष्ट, अनुकूल और शठ (इन चार भेदो मे विभक्त हो जाते हैं, अत) नायक के सोलह भेद कहे जाते हैं ॥सू 63॥

"ते" से अभिप्राय है धीरोदात्त आदि नायक।

स्वाऽन्यसाधारणा तत्र नायिका प्रथम त्रिधा ॥सू 64॥

स्वस्त्री अन्यस्त्री साधारणस्त्री।

मुग्धामध्याप्रगल्भाद्या ॥सू 65॥

आद्या स्वकीया।

परे धीरादि षड्विधे ॥सू 66॥

परे मध्याप्रगल्भे। धीरा अधीरा धीराधीरा चेति भेदात् षड्भेदे।

पुनर्ज्येष्ठा कनिष्ठाख्ये ॥सू 67॥

षड्भेदभिन्ने इति ज्येष्ठत्व कनिष्ठत्व प्रणयमहिम्ना नायकस्य।

स्वीयाभेदास्त्रयोदश ॥सू 68॥

मध्याप्रगल्भयोर्द्वादशभेदा मुग्धात्वेकैवेत्यर्थ।

अन्या परोढा कन्यास्या ॥सू 69॥

अन्या परकीया ।

वेश्या सामान्यनायिका ॥सू 70॥

साधारणस्त्री ।

स्वाधीनभर्तृका तद्वत् खण्डिताथाभिसारिका ।
कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितभर्तृका

[26ब] अन्यावासक X सज्जा स्याद्विरहोत्कण्ठिता च ता ॥सू 71॥

ता अनन्तरोक्ता षोडशनायिका प्रत्येकमवस्थाभिर्भिन्ना इत्यर्थ । तत्र[1]स्वकीया—

विनयार्जवसयुक्ता स्वकीयात्र पतिव्रता ॥सू 72॥

रघुनाथदश सीता वनऽपि प्रसमीक्षते ॥

क्लेशबहुलेऽपि वने राज्यत्यागादिकमनपेक्षमाणा भर्तृ दङ्मात्रप्रतीक्षया सीता सर्वा पतिव्रता अतिशेत इत्याशय ।

नायिका भेद—

नायिका भी सर्वप्रथम तीन प्रकार की होती है—स्वकीया, परकीया और साधारण स्त्री ॥सू 64॥

अपनी स्त्री, अन्य की स्त्री और साधारण स्त्री-ये तीन प्रकार की नायिका है ।

इन तीन नायिकाओ मे से प्रथम (स्वकीया) तीन प्रकार की होती है—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा ॥सू 65॥

'आद्या' से अभिप्राय है—प्रथम स्वकीया नायिका ।

(स्वकीया के इन तीनो भेदो मे से) बाद वाले दो भेद (मध्या और प्रगल्भा के) धीरादि (धीरा, अधीरा और धीराधीरा भेद से) छह भेद होते है ॥ सू 66 ॥

---

1 षोडश अष्टभिर्गुणिता 128 भेदविशिष्टा' (मू पा टि)

'परे'' का अभिप्राय है मध्या और प्रगल्भा। इन दोनो के धीरा, अधीरा और धीराधीरा भेद होने पर छह भेद हो जाते हैं।

नायिकाओ के इन छह भेदो के पुन दो भेद होते हैं—(1) ज्यष्ठा और (2) कनिष्ठा ॥ सू 67 ॥

नायक के प्रणय के प्रति ज्येष्ठ (अधिक) और कनिष्ठ होन पर पूर्वोक्त छह नायिकाग्रा मे प्रत्येक के दो-दो भेद हा जाते है (इस प्रकार 12 भेद हो गये)।

स्वीया (स्वकीया) नायिका के कुल 13 भेद हुए ॥ सू 68 ॥

मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के बारह भेद बताये जा चुके हैं। मुग्धा नायिका तो एक ही प्रकार की है (इस प्रकार स्वकीया के 13 भेद बताये गये हैं)।

अन्या (परकीया) नायिका दो प्रकार की कही गयी है—(1) परोढा (अन्य विवाहिता) और (2) कन्या (अविवाहिता) ॥सू 69॥

'अन्या' मे अभिप्राय है—परकीया।

सामान्य नायिका वेश्या होती है ॥सू 70॥

यह साधारण स्त्री होती है।

(उपर्युक्त षोडश नायिकाएँ पुन आठ प्रकार की होती हैं, यथा—) (1) स्वाधीनभर्तृका (2) उसी प्रकार खण्डिता, (3) अभिसारिका, (4) कलहान्तरिता, (5) विप्रलब्धा, (6) प्रोषितभर्तृका (7) वासकसज्जा और (8) विरहोत्कण्ठिता ॥सू 71॥

पूर्वोक्त सोलह नायिका (तेरह स्वीया, दो परकीया और एक साधारण स्त्री) अवस्था-भेद से (स्वाधीनभर्तृका आदि) आठ प्रकार की होती है (इस प्रकार $16 \times 8 = 128$ नायिका-भेद हो जाते हैं)।
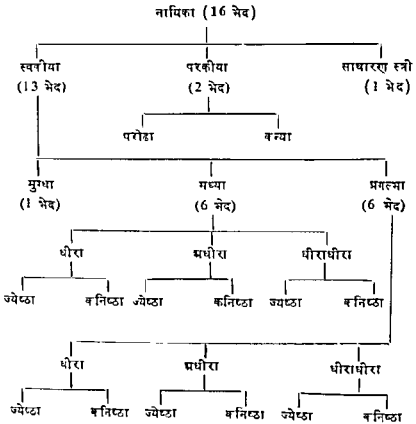
अवस्था-भेद से 8 भेद—(1) स्वाधीनभर्तृका, (2) खण्डिता, (3) अभिसारिका, (4) कलहान्तरिता, (5) विप्रलब्धा, (6) प्रोषितभर्तृका, (7) वासकसज्जा और (8) विरहोत्कण्ठिता।

$$16 \times 8 = 128$$

स्वकीया नायिका—

विनय, सरलता आदि से संयुक्त पतिव्रता स्त्री स्वकीया नायिका कहलाती है ॥ सू 72 ॥

जैसे—वन में भी सीता रघुनाथ की दृष्टि को निहारती है।

वन मे बहुत से क्लेश होने पर भी राज्य-त्याग आदि की उपेक्षा करते हुए पति की दृष्टिमात्र की ओर निहारने के कारण सीता सभी पतिव्रताओं मे सर्वश्रेष्ठ है, यह आशय है ।

मुग्धा यथा—

> अपठितमदनागमा सखीना सविधमुपेत्य शशस विभ्रमाणि ।
> स्मितललितकपोलमीक्षमाणा मुखमथ दुर्दिनमश्रुणश्चकार ।। 53 ।।

इदं तु प्राचामनुरोधेनोदाहृतम् । न चात्र नायिकानिष्ठो मुग्धात्वावगाही कश्चिदसाधारणो धर्म्म प्रतीयते । तथाहि अपठितमदनागमत्वेन सखीना पुरो विभ्रमकथनमित्यासा[1] प्रौढिविशेषसम्भावनया स्मितललितकपोलावलोकनप्रकाशितया सखीनिष्ठकापट्यकलुषिता निजसरलतैव दूनता हेतुस्तत्र मदनागमपाठम्याऽसमाप्तिरर्थलभ्या न कथञ्चिन्मुग्धात्वपर्यवसायिनी, अधीरमध्यतादौ तथा दर्शनात् तदेवमुदाहार्यम् ।

[27अ] दृगन्ते दीर्घत्व व्रजति चकिता न्यस्यति A कर
पिधत्ते वक्षोजाऽवनुदितविशेषौ कथमपि ।
प्रिये पश्यत्येषा नमयति शिर कम्पितकरा
स्पृशत्यस्रश्रेणी किरति च सखी खेदयति च ।।54।।

अत्राज्ञातज्ञातयौवनलज्जामानमृदुत्वरतवामत्वादिभिरुपचितावस्थाविशेषशालिनी मुग्धा स्पष्टैव । यथा वा—

> गणइ ण अव चलती लज्जेइ पुरो रुरकअ पलोअती[2] ।
> वक्म्मुम पलट्टइ[3] सुणिऊण सहीण पिय कहाउ ।।55।।

अत्रावतीर्णमदनविकारत्वेन मुग्धा । कज्जलमलिनाश्रुकणै करिदशनच्छेदपाण्डुनि कपोले अविदितमानघनाया प्रियापराध स्फुटी भवति । अत्र माने मृदुत्वान्मुग्धा एवम्—

---

1 सखीना (मू पा टि)
2 प्रलोकती (मू पा टि)
3 प्रवर्तते (मू पा टि)

न पश्यति दृशा कान्त बहिर्निर्गन्तुमीहते ।
यान्तीना[1] केलिसदनादञ्चलं नैव मुञ्चति ॥56॥

[2]इत्याद्युदाहार्यम् ।

इति मुग्धा ।

मुग्धा—

मुग्धा नायिका जैसे—

जिसने कामदेव का आगम (शास्त्र) अभी नहीं पढ़ा, ऐसी मुग्धा नायिका ने सखियों के पास जाकर विभ्रमों का वर्णन किया । (किन्तु) उनके (सखियों के) मुस्कुराते हुए सुन्दर कपोलों को देखते हुए उसने (नायिका ने) अपने मुख को अश्रु-प्रवाह का दुर्दिन बना दिया ॥53॥

यह उदाहरण प्राचीन विद्वानों के अनुरोध से दिया गया है । यहाँ नायिका-निष्ठ मुग्धात्व से युक्त कोई असाधारण धर्म प्रतीत नहीं होता । क्योंकि कामदेव के आगम (शास्त्र) को नहीं जानने पर भी सखियों के सम्मुख विभ्रम का कथन करती है इस कथन से सखियों की विशेष परिपक्वता की सम्भावना होती है, जिससे मुस्कुराते हुए सुन्दर कपोलों को देखने से सखीनिष्ठ कपटता की कलुषिता और अपनी सरलता से ही दुःख का कारण प्रगट होता है । यहाँ कामदेव के आगम (शास्त्र) के पठन की असमाप्ति अर्थ से लभ्य (प्राप्य) है, जो किसी प्रकार मुग्धता में पर्यवसित होने वाली नहीं है । अधीरमध्या आदि में इस प्रकार दिखाई देता है, अतः उसी का उदाहरण मानना चाहिये ।

प्रियतम उसे जब देखता है तो उस (नायिका) के नेत्रापाङ्ग दीर्घ हो जाते हैं, उन पर विस्मययुक्त होकर वह हाथ रखती है । किसी प्रकार अपने स्तनों को, जो अभी विशेष उदित नहीं, ढँकती है । यह (नायिका) सिर झुकाती है, कांपते हाथ से (उसका) स्पर्श करती है, अश्रुधारा प्रवाहित करती है और सखियों को दुःखित करती है ॥54॥

यहाँ प्राप्य यौवन को कुछ जानने और कुछ न जानने वाली, लज्जा, मान, मृदुता और रति से कतराने के गुणों के उपचय के कारण विशिष्ट अवस्था को प्राप्त मुग्धा नायिका स्पष्ट ही है । अथवा जैसे—

1 सखीनां (. पा टि)

2 मूल में भूमि कर "मुञ्चतीत्याद्युदाहार्यम्" दिया गया है ।

सखियो की प्रिय बातें सुनकर वह (नायिका) एक पद चलते ही रुक जाती है इक्षुमद्य को सामने देखकर लज्जित हो जाती है और तिरछी भौंहो से देखने लगती है ॥ 55 ॥

यहाँ मदन-विकार के अवतीर्ण हो जाने के कारण मुग्धा (नायिका) है। मान (कोप) के धन से अपरिचित उसके कज्जल से मलिन अश्रु-कणो द्वारा हाथीदाँत के टुकडे के समान शुभ्र (पाण्डु) कपोल पर प्रिय का अपराध स्पष्ट हो रहा है।

इस प्रसग मे मान मे मृदुता होने पर मुग्धा जैसे—

नेत्र से प्रियतम को नही देखती, बाहर जाना चाहती है । केलिसदन स बाहर जाती हुई सखियो का अञ्चल (वस्त्र का छोर) ही नही छोडती ॥ 56 ॥

इस प्रकार *उदाहरण देना चाहिये।*

यह मुग्धा के उदाहरण दिये गये।

मध्या धीरादिभेदैस्त्रिविधा तत्र स्वरूपेण ॥ सू 73 ॥

मध्या यथा—

लावण्यवापीजलकेलिलोलै-
रङ्गैरनङ्गोत्सवमावहन्ती ।
ततान यत् सा मणित मृगाक्षी
पाठ स लीलाशुकसारिकाणाम्[1] ॥ 57 ॥

अत्र प्ररूढयौवनविचित्रसुरतकेलिकलाभ्या लक्षिता [27ब] मध्यैव। इदमपि प्रगल्भाया सम्भवद्विपयत्वेनोदाहरणीयम्।

यथा वा—

अवनमितमुखी सखीषु बा[2]ला
कथमपि नोत्तरमाह पृच्छ्यमाना ।
स्मितललितकपोलमानतभ्रू—
मंदनविकारमनावृत चकार ॥ 58 ॥

इय वक्रोक्त्या धीरा यथा—

न मयि हृदयरागो दर्शनीय कथञ्चित्
प्रिय[3] यदि शतकृत्व शिक्षितोऽप्येवमागा ।

---

1 •नाम् 2 बा•
3 हे (मू पा टि)

> तदुचितमरुणाभ्यां लोचनाभ्यां पुरस्ता-
> दनुभवगतमन्युप्रेयसी दिक्प्रभावम्[1] ॥ 59 ॥

रोदनेन मध्यैवाधीरा यथा—

> भवनम्य मुखाम्भोज किं रोदिषि सगद्गदम् ।
> प्रियासि ननु तन्वङ्गि प्रिया नाऽस्मीति रुद्यते ॥ 60 ॥

परुषोक्त्या धीराधीरा यथा—

> कृतमनयकमेतदनारत यदवलोकनमुभ्भिनसौहृदं ।
> तव मन ममपूरि तया[2] वय कथय धूत्त[3] ममावसरो भवेत् ॥ 61 ॥

मध्या—

अपने स्वरूप से मध्या नायिका धीरादि भेद से (धीरा अधीरा और धीरा-धीरा) तीन प्रकार की होती है ॥ सू 73 ॥

मध्या का उदाहरण जैसे—

लावण्यरूपी बावडी मे जलक्रीडा के कारण चञ्चल अङ्गो से कामोत्सव को धारण करती हुई उस मृगनयनी ने जो मणित (सम्भोग के समय उच्चारित अस्पष्ट ध्वनि) किया तो वह लीलाशुको (आनन्द के लिए पाले हुए तोते) तथा सारिकाओ के लिये पाठ हो गया ॥ 57 ॥

यहाँ पूर्ण विकसित यौवन और विचित्र कामक्रीडा कलाओ से लक्षित मध्या नायिका ही है। प्रगल्भा नायिका में भी इस विषय की सम्भावना होती है, इसका उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। अथवा जैसे—

पूछी जाने पर सखियो के बीच में नीचा मुँह करके बैठी हुई बाला ने किसी प्रकार भी उत्तर नहीं दिया। उसके मुस्कान से सुन्दर कपोल और कुछ टेढी भौहो ने कामविकार को अनादृत (प्रकट) कर दिया ॥ 58 ॥

वक्रोक्ति मे धीरा नायिका का यह रूप है, जैसे—

---

1 गतमन्युप्रेयसी दिक् पूर्वा तस्या प्रभावमरुणिमानम् । पक्षे गतगुणितो मन्यु क्रोधो यस्मात्तादृशी प्रेयसी स्त्री तस्या दिक् प्रभाव इव प्रभावमनुभव (मू पा टि)

2 अन्यथा (मू पा टि)

3 हे (मू पा टि)

हे प्रिय ! मुझमें हृदयगत अनुराग किसी प्रकार देखने की आवश्यकता नहीं है। यदि सौ गुणा शिक्षित होकर भी तुम इस प्रकार अपराध करते हो तो यही उचित है कि सामने रक्तिम नेत्रों में (शतमन्यु प्रेयसी) पूर्व दिशा की (प्रभाव) लालिमा के समान (शतमन्यु प्रेयसी) सौ गुने क्रोध की लालिमा धारण करने वाली प्रिया के कुछ प्रभाव (मान-कोप) का अनुभव करो ॥ 59 ॥

रोदन में मध्या का ही अधीरा रूप, जैसे—

मुखकमल नीचा कर गद्‌गद होकर क्यों रो रही हो ? हे कृशांगी, निश्चय ही तुम प्रिया हो। (नायक के इस प्रकार कहने पर नायिका उत्तर देती है-) मैं प्रिया नहीं हूँ, इसीलिये तो रो रही हूँ ॥ 60 ॥

परुष उक्ति से धीराधीरा जैसे—

स्नेह छोड देने पर जो तुम निरन्तर मुझ पर यह दृष्टि डाल रहे हो, वह बडा अनर्थ कर रहे हो। हे धूर्त्त ! तुम्हारा मन उस (अन्य) स्त्री से भर गया है, उसमे मेरे लिये स्थान कैसे बन सकता है ? ॥ 61 ॥

अथ प्रगल्भा सा च यथा—

> अधिज्यमदना [1]भ्रुवा कुचयुगान्त कुम्भद्वयी
> विशङ्कमवगाहता सुरतसिन्धुमेषा चिरम् ।
> यदङ्गपरिवर्तना नटिनकन्धरप्रेक्षण
> तदादिशति किङ्करे[2] किमपि कर्त्तुमुच्चालिका[3] ॥ 62 ॥

अत्र प्ररूढयौवनत्वगाढतारुण्यस्मरान्धत्व सुरतनातुर्याक्रान्तनायकत्वभावोन्नतत्वादिपरिपोषितावस्थाविशेषशालिनी प्रगल्भा स्पष्टैव ।

[28 अ] प्रच्छन्नकोपा वहिर्मान्निर्दर्शितादरा चेदियमेव धीरा यथा—

> चन्द्रे चन्दनपङ्कमानय कले कालागुरुर्धूप्यता
> ताम्बूल तरले समाहर शिवे शृङ्गारशोभा कुरु ।
> इत्याभाष्य सखी सरोरुहमुखी व्यक्तामना नालप-
> च्चातुर्येण स एव वल्लभमनस्याधायि शङ्काङ्कुर ॥ 63 ॥

तर्जनताडनादधीरा यथा—

---

1 मु०
2 मयि (मू पा टि)
3 उच्चोऽलिको ललाटो यस्या (मू पा टि)

> रुषा सभ्रूभङ्गं वदनमरुणं न्यञ्चितवती
> यदाक्षेपे वाचा हसति[1] मयि बन्ध रचयति ।
> प्रसादः सोऽय ते सुदति[2] कथिते केवलमसौ
> गलद्वाष्पं बाला व्यरचयदधीरं मम मन ॥ 64 ॥

अब प्रगल्भा नायिका और उसका उदाहरण जैसे—

भौंहो के माध्यम से धनुष की डोरी चढाये हुए कामदेव के रूपवाली, तथा स्तनयुगल के रूप मे दो कुम्भो को धारण करने वाली यह (प्रगल्भा) नायिका सुरतरूपी सिंधु मे चिरकाल तक शकारहित होकर स्नान करे । भगो का सचालन करने वाली यह उन्नत ललाट वाली नायिका अपनी ग्रीवा तथा दृष्टि से हावभावाभिनय कर रही है, वह तो अपने सेवक अर्थात् मुझको युद्ध करने के लिए आदेश दे रही है ॥ 62 ॥

यहाँ पूर्ण यौवन, गाढतारुण्य, कामान्धता सुरतचातुर्य से आक्रान्त नायकत्व तथा रति भावोन्नता आदि से परिपोषित अवस्था-विशेष से युक्त प्रगल्भा स्पष्ट ही है ।

भीतर क्रोधयुक्त और बाहर आदर दिखाने वाली यह प्रगल्भा धीरा है, जैसे—

हे चन्द्रे ! तू चन्दन का लेप ले आ, हे कर्ने ! तू कालागुरु का धूप कर । ओ री तरले ! ताम्बूल लाकर दे । शिवे ! तू शृङ्गारशोभा कर । सखी-जनो को इस प्रकार कहकर कमलमुखी (नायिका) ने आसन छोडकर आये हुए प्रियतम से बात नही की । इस तरह चतुरता के साथ उसने वही शङ्कारूप अङ्कुर प्रिय के मन मे उत्पन्न कर दिया ॥ 63 ॥

नायक को (क्रोध से) फटकारती और पीटती हुयी प्रगल्भा अधीरा जैसे—

क्रोध के कारण भ्रूभग युक्त अपने लाल मुख को उसने नीचा कर लिया । फिर जब वाणी के द्वारा आक्षेप किया तो मैंने हँसकर (सुरत) बन्ध की रचना प्रारम्भ कर दी और उससे कहा—"हे सुदती (श्रेष्ठ दाँतो वाली) ! यह (कोप भी) तो तुम्हारा अनुग्रह है । यह कहे जाने पर केवल आँसू बहाती उस बाला ने मेरा मन अधीर कर दिया ॥ 64 ॥

सोल्लुण्ठभाषणेन खेदयती धीराधीरा यथा—

---

1 मति (मू पा टि)
2 हे (मू पा टि)

सुखयति नयनद्वय ममैषा तव[1] ननु मूर्तिरलङ्कृता विचित्रैः ।
निशि सुरतविदग्धयाङ्गरागाञ्जननखरक्षतभूषणैः समन्तात् ॥ 65 ॥

इति प्रगल्भा ।

अथानयोर्ज्येष्ठ[2]कनिष्ठत्वम्[3]—

[4]ढक्किग्र लोग्रणजुग्रल इग्रराए हरिसविग्रसिग्र कवोलम् ।
ज चुविज्जइ वग्रण तविग्र पणग्रस्स सोहग्गम् ॥ 66 ॥

इति त्रयोदशभेदा ।

परोढा यथा—

किमकाण्ड एव चलचिल्लिलत[5] नयनाञ्चलेन मम घूर्णयति ।
हृदय वदेरिति मुरारिपुरस्तव किं न सन्ति गुरव प्रणयिन्[6] ॥ 67 ॥

कन्या तु मालत्यादि पित्रानर्पितत्वाच्च परकीयात्वम् ।
साधारणस्त्री रक्ता यथा—मृच्छकटिकाया वसन्तसेना ।
[28ब] विरक्ता यथा लटकमेलने मदनमञ्जरी ।

व्यङ्ग्यपूर्वक वचन मे दुःखी होती प्रगल्भा धीराधीरा जैसे—

रात्रि मे किसी सुरताविदग्धा नायिका द्वारा अपने अङ्गराग, अञ्जन और नखक्षतो के विचित्र भूषणो से पूर्णतया अलकृत किया हुआ (नायक का) यह शरीर निश्चय ही मेरे दोनो नेत्रो को बहुत सुख प्रदान कर रहा है ॥ 65 ॥

ये प्रगल्भा के उदाहरण दिये गये ।

अब इन दोनो (तीन प्रकार की मध्या और तीन प्रकार की प्रगल्भा) के ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा—ये दो-दो भेद होते हैं । उदाहरण जैसे—

(ज्येष्ठा और कनिष्ठा दोनो नायिकाओ के एक स्थान पर बैठी होने पर)

---

1 नायकस्य (मू पा टि) 2 ०ष्ठ० 3 ० ष्ठत्वम्

4 आच्छाद्य लोचनयुगल इतराया हर्षविकसितकपोलम् ।
यत् चुम्ब्यते* वदन तदपि प्रणयस्य सौभाग्यम ॥
* नायकेनेति शेष (मू पा टि)

5 चला या चिल्लिलता भ्रूलता यस्मिन् कर्म्मणि तत् (मू पा टि)

6 हे (मू पा टि)

एक के नेत्रयुगल हाथ से ढककर, दूसरी नायिका के हर्ष से खिले हुए कपोल वाले मुख का नायक जो चुम्बन करता है, वह भी प्रणय का सौभाग्य है ॥ 66 ॥

इस प्रकार स्वकीया नायिका के 13 भेद होते हैं (धीरामध्या, अधीरामध्या, धीराधीरा मध्या धीरा प्रगल्मा अधीरा प्रगल्मा और धीराधीरा प्रगल्भा, इन छह प्रकार की नायिकाओं के पुन ज्येष्ठा और कनिष्ठा इन दो भेदों के अनुसार बारह भेद होते हैं। एक भेद मुग्धा का मिलाकर स्वकीया नायिका के कुल 13 भेद हो जाते है।)

परकीया नायिका—

(परकीया नायिका के दो भेद है—परोढा और कन्या) परोढा परकीया जैसे—

हे प्रणयी ! क्या तुम्हारे घर मे बडे बुजुर्ग नही है जो तुम (मेरे बारे मे) मुरारि (कृष्ण) के सामने बोल दिये कि यह (नायिका) बिना अवसर के ही भ्रूलता का सचालन करती हुई अपने नेत्रो के अञ्चल (छोर) से मेरे हृदय को घुमाये डाल रही है ॥ 67 ॥

कन्या, जैसे ('मालतीमाधव" मे) मालती आदि विवाह न होने से पहले पिता आदि के अधीन रहती है, अत परकीया नायिका है।

साधारण स्त्री—

साधारण स्त्री अनुरक्ता रूप मे निबद्ध होने पर जैसे—"मृच्छकटिक" मे वसन्तसेना (चारुदत्त के प्रति अनुरक्त है)। साधारणस्त्री विरक्ता (अननुरक्ता) होने पर जैसे—"लटकमेलक" मे मदनमञ्जरी।

अथ स्वाधीनभर्तृका यथा—

जनकजा[1] ननु का न पतिव्रता जनकजा[2] ननु का न पतिव्रता।
[3]जनकजाननु का न पतिव्रता जनकजा[4] न नु का न पतिव्रता ॥ 68 ॥

---

1 जनकात् जाता सपितृजा का पतिव्रता न भवति भवत्येवेत्यर्थ । (मू पा टि)

2 जनकेभ्यो जनकदेशोत्पन्नराजभ्यो जाता का न पतिव्रता (मू पा टि)

3 जनकजान् जनकदेशोद्भवान् अनु अर्थात्परिणीता का न पतिव्रता। पत्यौ व्रत यस्या (मू पा टि)

4 जनकजा सीता नु वितर्के पत्युर्व्रत यस्या तादृशी नेति न। (मू पा टि)

खण्डिता यथा "न मे हृदयराग" इत्यत्र।
स्वयमभिसरणान्नायकाभिसारणाद्वाभिसारिका यथा—

चन्द्रज्योत्स्ना धवलधवलैरङ्गकैर्मौक्तिकाना
कान्त्या यान्त्या कुसुमशिशिरा[1]लेपनेपथ्यलक्ष्मीम्।
काम काऽपि स्पृशतु न गतिं शारदीषु क्षपासु
श्वासामोदाऽनुगतमधुपान्[2] केन[3] निह्नोतुमिच्छेत् ॥ 69 ॥

उत्सिक्तरससिक्ताङ्गविस्मृताऽशेषबन्धना[4] ।
यथोदेति दया मह्य सखि[5] तस्य[6] तथा कुरु ॥ 70 ॥

कलहान्तरिता यथा—

अधिकन्धर भुजलता न कृता न निभालितोऽपि नयनेन मृशम्।
अहह क्षण न पुनरेष्यति तत् विषम मया प्रियजने विहितम् ॥ 71 ॥

विप्रलब्धा यथा—

वञ्जुललतानिकुञ्जे मधुकरपुञ्जोऽपि रुवति किं कुर्मं।
अपनय कुसुमसुगन्ध तवाऽपनयमेमि दूति पुर ॥ 72 ॥

अवस्था-भेद से आठ नायिकाएँ—

1 स्वाधीनभर्तृका जैसे—

(जनकजा ननु) श्रेष्ठ पिता जनक से उत्पन्न कौन पुत्री पतिव्रता नही होगी ? (जनकजा ननु) जनकदेश मे उत्पन्न राजाओ से उत्पन्न कौन पुत्री पतिव्रता नही होगी ? (जनकजान् ननु) जनक देशोत्पन्न पुरुषो से विवाहित कौन स्त्री पतिव्रता (पति मे व्रतशीला) नही होगी ? (जनकजा नु) राजा जनक की पुत्री सीता के विषय मे यह सोचना कि पति का व्रत जिसमे हो ऐसी वह नहीं है—

---

1 शिशिर चन्दनकर्पूरादि (मू पा टि)
2 मधुपान् मत्तान् भ्रमरान्वा (मू पा टि)
3 केन वस्तुना (मू पा टि)
4 विस्मृतमशेष बधन गुरुजनमर्यादि यस्या तादृशी दया मह्यमुदेति तथा कुरु (मू पा टि)
5 हे (मू पा टि)
6 नायकस्य (मू पा टि)

ऐसा निश्चय ही नही है। (अर्थात् जो जनकजा सीता है वह पतिव्रता न हो, ऐसा हो नही सकता।) ॥ 68 ॥

2 खण्डिता जैसे—

"न मे हृदयराग" इत्यादि (श्लोक–59) उदाहरण मे वर्णित है।

3 अभिसारिका—जो स्वय नायक के पास अभिसरण करे या रमण हेतु नायक को अपने पास बुलाये, वह अभिसारिका होती है, जैसे—

शरद् ऋतु की रात्रियो मे चन्द्रमा की श्वेत ज्योत्स्ना जैसे अत्यन्त श्वेत अगो और मोतियो की कान्ति से अभिसार के लिए जाती हुई नायिका की शीत पुष्प-चन्दनकर्पूरादि के लेपन एव वेशभूषा की शोभा को तथा गति को भले ही कोई स्पर्श न करे। लेकिन श्वास की सुगन्ध मे अनुगत मत्तजना अथवा भ्रमरो को किस वस्तु के द्वारा छिपा सकोगी ॥ 69 ॥

(नायिका नायक को बुलाने के लिए दूती भेज रही है–) हे सखि! अत्यधिक रस से सिक्त अगवाले (नायक) के मन मे समस्त गुरुजनो के भय इत्यादि को भुला देने वाली दया जिस किसी प्रकार से मेरे प्रति जाग सके वैसा ही करो ॥70॥

4 कलहान्तरिता जसे—

उसके कन्धे पर भुजलता नही रखी, नेत्रो से अच्छी तरह देखा भी नही। हाय, वह अग भी अब दुबारा नही आयेगा, खेद है कि मैंने प्रियतम के प्रति बडा अनुचित व्यवहार किया ॥ 71 ॥

5 विप्रलब्धा जैसे—

वञ्जुलतानिकुञ्ज मे भ्रमरसमूह भी क्रन्दन कर रहा है, हम क्या करें? हे दूति! पुष्पसुगन्ध को दूर कर दो। मै तो (अब) तुम्हारे ही सामने मृत्यु (अपनय) को प्राप्त हो रही हूँ ॥ 72 ॥

प्रोषितभर्तृका यथा—

> मलयमरुत्सहचरता[1] काम सोमेन[2] सह चरताम्[3]।
> न मया सह च रता[4] ता[5] कर्तुं प्रमुररित सहचर[6] ता[7] ताम् ॥ 73 ॥

---

1 सहायता (मू पा टि)
2 चद्रेण (मू पा टि)
3 गच्छतु (मू पा टि)
4 रक्ता (मू पा टि)
5 ता मम प्रिया (मू पा टि)
6 हे (मू पा टि)
7 ता ता दु गिता (मू पा टि)

वासकसज्जा यथा—

कुरु मुकुरमिदानीमञ्जन रञ्जयेय
रतिसदनमदीन हारि[1] पाटीरनीरैं ।
[29अ] अपि निकटमुपेत प्राणनायस्तथा
मे कथयति गृहवापीकैरवाना विकास[2] ।। 74 ।।

विरहोत्कण्ठिता यथा—

करतलनिहितकपोल विधूय पुष्पाणि[3] नि श्वसती ।
प्रेयान्नाद्यागत इति विचिन्त्य बाला चिर रौति ।। 75 ।।

इत्यमवस्थाभि पूर्वोक्तनायिकाना सम्भेदेऽष्टाविंशत्यधिकशत भेदास्तेषामुत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुरशीत्यधिकशतत्रय भेदा । इह कन्याऽन्योढे सङ्केतात्पूर्व विरहोत्कण्ठिते पश्चादभिसरन्त्यावभिसारिके सङ्केतिताऽप्राप्तौ विप्रलब्धे इति [4]अवस्थितैवेति कश्चित् । अन्योन्य-साङ्कर्येऽपि भेदा सन्तीति विस्तरभयान्नोच्यन्ते । यथा—

'न खलु वयममुष्य[5] दानयोग्या"[6] इत्यादौ वक्रोक्तिगुरुवचन कर्णोत्पल-ताडनादिभि सकीर्णा ।

इत्यालम्बनम् ।

6 प्रोषितभर्तृका जैसे—

हे मेरे सहचर ! कामदेव चन्द्रमा के साथ मलयपवत की महचरता को

---

1 मनोज्ञ (मू पा टि)
2 ० श
3 ० नि
4 अवस्थतैं०
5 पुष्पस्य (मू पा टि)
6 न खलु वयममुष्य दानयोग्या
पिबति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम् ।
व्रज विटपममु ददस्व तस्यै
भवतु यत सदृशोश्चिराय योग ।।
—दशरूपक 2, पृ 140

प्राप्त करे। किन्तु उस अनुरक्ता और वियोगपीडिता को मेरे साथ करने में वह समर्थ नहीं है। ("सहचरता" पद में चारों चरणों में भिन्न अर्थ होने के कारण यमक है।) ॥73॥

7 वासकसज्जा जैसे—

अब दर्पण लाओ, मैं (नेत्रों में) अञ्जन लगाती हूँ। चन्दन-जल से सम्पृक्त क्रीडाभवन को आकर्षक बनाओ। अरे, प्राणनाथ समीप आ गये हैं, जैसा कि घर की बावडियों के कुमुदों का विकसित होना मुझे बता रहा है ॥74॥

8 विरहोत्कण्ठिता जैसे—

हथेली पर कपोल रखकर, पुष्पों (के शृङ्गार) को बिखेरकर, निश्वास लेती हुई बाला "प्रिय आज नहीं आये" ऐसा सोचकर चिरकाल तक रुदन करती है ॥75॥

इस प्रकार अवस्था-भेद से 8 प्रकार की नायिकाओं का पूर्वोक्त 16 प्रकार की नायिकाओं के साथ भेद करने पर $16 \times 8 = 128$ भेद हो जाते हैं। इनके भी उत्तम, मध्यम और अधम भेद करने पर $128 \times 3 = 384$ प्रकार हो जाते हैं। यहाँ पर किसी का कहना है कि परकीया नायिका के परोढा और कन्या दोनों सङ्केत से पूर्व विरहोत्कण्ठिता, बाद में अभिसरण करने पर अभिसारिका, दत्त-सङ्केत होने पर भी नायक की प्राप्ति नहीं होने पर विप्रलब्धा, इस प्रकार के अवस्था-भेद हो जाते हैं। नायिका-भेदों में परस्पर साङ्कर्य से अन्य भेद भी हो जाते हैं, परन्तु विस्तार के भय से उनका कथन यहाँ नहीं किया जा रहा है। जैसे—

"न खलु वयममुष्य दानयोग्या" (हम इस पुष्प के दान योग्य नहीं हैं) इत्यादि श्लोक में वक्रोक्ति, कठोरवचन, कर्णोत्पल (कानों में पहने कमल) से पीटने आदि के द्वारा सङ्कीर्णा नायिका है।

इस प्रकार आलम्बन का विवेचन समाप्त हुआ।

उद्दीपनानि चन्द्रोदयमलयमारुतकोकिलविरुतवनशोभापुष्पावचय-मदपानभ्रमरझङ्कारादीनि। तत्र चन्द्रोदयो यथा—

पश्यति कुवलयनयनामालिङ्गति वसुमती नगोच्चकुचाम्।
चुम्बति कैरवबदना तिमिरकचग्राहमेष शीतांशु ॥76॥

अथ सम्भोगस्य ।

विप्रलम्भस्य यथा—

क्व चण्डकरचापल निशि निरस्तचन्द्रातप
क्व वाडवधनञ्जयो जलधिमन्तरावर्त्तते ।
[29ब] अय तु गगनाङ्गणे किरति ʌ चक्रवाल रुचा[1]
जगन्ति ननु भस्मसाद्रचयितु विधेरुद्यम ॥77॥

एवमन्यदूह्यम् ।

अथानुभावा —

स्तम्भ स्वेदोऽथ रोमाञ्च स्वरभगोऽथ वेपथु ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका[2] मता ॥सू 74॥

[3]सत्त्वमनुभवन्तीति व्युत्पत्ते । यथा—

उदञ्चद्रोमाञ्च श्रमजलकणाक्रान्तवदने[4]
परिम्लान चाङ्ग श्लथवचनमश्रुस्रुतिरिति[5] ।
जडत्व चेष्टाभि कथयसि सकम्पा न च मया-
पराद्ध ते किञ्चिल्लयमिव कथ यासि सुभगे ॥78॥

एते चागन्तुका अपि दृश्यन्ते अनु भावयन्तीति व्युत्पत्ते तदेतन्नट-मात्रगोचरम् ।

चन्द्रोदय, मलयमारुत, कोकिलरव, वनशोभा, पुष्पावचय, मदपान, भ्रमर-झकार आदि उद्दीपन हैं । चन्द्रोदय का उदाहरण जैसे—

यह शीताशु चन्द्रमा नीले कुमुदरूपी नेत्रो वाली पृथ्वी को देखता है । पर्वतरूपी विशाल स्तनो वाली पृथ्वी का आलिङ्गन करता है । अन्धकाररूपी बालो को पकडकर श्वेत कुमुदरूपी मुखवाली वसुमती का चुम्बन करता है ॥76॥

---

1 रुचां कान्तीना चक्रवाल मण्डल किरति (मू पा टि)
2 •त्विका
3 सत्व•
4 हे (मू पा टि)
5 श्रुश्रुतिरिति

यह सम्भोग शृङ्गार में उद्दीपन का वर्णन है।

विप्रलम्भ शृङ्गार में उद्दीपन का वर्णन जैसे—

चन्द्रमा की चाँदनी को नष्ट करने वाले प्रचण्ड सूर्य की किरणों की चपलता रात्रि में कहाँ होती है ? समुद्र को छोड़कर वडवाग्नि और कहाँ रहती है ? यह गगन के प्राङ्गन में विधाता जो किरणों का मण्डल बिखेर रहा है (किरण-जाल फैला रहा है) यह तो सारे संसार को भस्मीभूत करने का उसका प्रयत्न है ॥77॥

इसी प्रकार अन्य उदाहरण जानने चाहिये।

अनुभाव—

स्तम्भ, स्वेद (पसीना), रोमाञ्च, स्वरभंग, वेपथु (कम्पन), वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय (चेष्टा और ज्ञान नष्ट हो जाना), ये आठ सात्त्विक अनुभाव माने गये हैं ॥सू 74॥

"सत्त्व गुण से उत्पन्न होते हैं", इस व्युत्पत्ति के अनुसार सात्त्विक कहलाते हैं। जैसे—

हे पसीनों की बूंदों से आक्रान्त मुखवाली ! तुम्हारा शरीर रोमाञ्च युक्त है तथा अङ्ग परिम्लान हो रहे हैं, शिथिल वचन हैं, आंसू प्रवाहित हो रहे हैं, चेष्टाओं में जड़ता है, कम्पनयुक्त होकर बात कर रही हो। मेरे द्वारा तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया गया तो फिर हे सुभगे ! तुम कुछ प्रलय (नष्टसंज्ञता) की अवस्था को कैसे प्राप्त हो गयी हो ? ॥78॥

(उक्त श्लोक में आठों सात्त्विक भाव वर्णित हैं।)

ये अनुभाव "अनु भावयन्ति इति अनुभावा" इस व्युत्पत्ति के अनुसार आगन्तुक भी दिखायी देते हैं, जो केवल नट में दिखायी देते हैं।

अथ व्यभिचारिण —

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथाऽसूयामदश्रमा ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च ॥

सुप्त [1]विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादो मरण त्रास एव च ॥
वितर्कश्चेति विज्ञेयास्त्रयस्त्रिशत्समासत ॥ सू 75॥

अत्र निर्वेद औदास्यम् । ग्लानिरिन्द्रियमालिन्यम् । दैन्य चाटुकारिता वचसि । अपस्मार स्मृतिविनाश । अवहित्थाकारगुप्ति । मरणमनुकूलावस्थानाश न विनाशस्तस्य पुनरुदयाभावात् [30अ] शेषऽमति ^ रोहितार्थम्[2] ।

एते विभावादय सम्वलिता[3] रसविशेषव्यक्तिहेतव ।

रसेष्वपि विभावादिमान यद्वन्न विद्यते ।
एकस्मिन्न तथेत्येक नेति कारणकार्यताम् ॥सू 76॥

तावदेव विभावादीना भावाना भान नान्यत्र तदाकारत्वाच्चित्तवृत्तीना, तथा नैकस्मिन् शुद्धे कार्यकारणकल्पनम् ।

व्यभिचारिभाव—

अब व्यभिचारिभावों का वर्णन करते हैं—

(1) निर्वेद, (2) ग्लानि, (3) शङ्का, (4) असूया, (5) मद, (6) श्रम, (7) आलस्य, (8) दैन्य, (9) चिन्ता, (10) मोह, (11) स्मृति, (12) धृति, (13) व्रीडा (14) चपलता (15) हर्ष, (16) आवेग, (17) जडता, (8) गर्व, (19) विषाद, (20) औत्सुक्य, (21) निद्रा, (22) अपस्मार, (23) सुप्त, (24) विबोध, (25) क्रोध, (26) अवहित्था, (27) उग्रता, (28) मति, (29) व्याधि, (30) उन्माद, (31) मरण, (32) त्रास और (33) वितर्क, ये सक्षेप मे 33 व्यभिचारिभाव जानने चाहिये । ॥सू 75॥

उदासीनता निर्वेद है । इन्द्रियो की मलिनता ग्लानि है । वचन मे चाटुकारिता दैन्य है । स्मृति का विनाश अपस्मार है । आकारगोपन अवहित्या है । अनुकूल अवस्था का नाश मरण है, विनाश नही, क्योकि विनाश का पुन उदय नही हो सकता । शेष का अर्थ स्पष्ट ही है ।

ये विभाव आदि ही मिलकर विशेष रस की अभिव्यक्ति के कारण हैं ।

---

1 विवो०

2 प्रकटार्थमित्यर्थ (मू पा टि)

3 मिलिता (मृ पा टि)

जिस प्रकार से (या जिस रस-विशेष मे युक्त होने पर) रसादि में विभावादि का मान नही होता। इसी प्रकार से एक विभाव, अनुभाव या व्यभिचारी भाव मे भी रस के सम्बन्ध मे कार्यकारणता नही हो सकती ।।सू 76।।

(जब तक रसाभिव्यक्ति नही होती) तब तक ही विभावादि भावो का मान रहता है, अन्य स्थल पर नही। क्योकि चित्तवृत्तियाँ उस रस के अनुकूल होती है। इसी प्रकार एक शुद्ध रस म कार्यकारण की कल्पना नही हो सकती।

शृङ्ग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुक ।
अनुकूलविभावादिघ्यक्त शृङ्गार उच्यते ।। सू 77।।

अनुकूलेऽर्थं मनस प्रणवतारूपव्यक्तस्तस्य चोक्तलक्षणा रति स्थायी। नायिका चालम्बन[1] चन्द्रोदयादिरुद्दीपन, नायिकाविलास सात्विकादिश्चानुभाव मरणालस्यजुगुप्सोग्रतातिरिक्त सञ्चारी।

यथा—

व्याजनिमीलितनयनामङ्के विनिवेश्य शङ्कितदृशन्तम्।
यच्चुम्बति हरिणाक्षी तदेव[2] भणितानि शिक्षयति ।।79।।

यथा वा—

तारुण्य सुन्दरीणा फलमिव तपसश्चन्द्रिका पुष्पभार
शृङ्गार[3] पल्लवाना रचिरिति भवती सज्जते तत् किमेतत्।
इत्युक्त्वा [4]वीक्षमाणा नतनिटिलचलद्भ्रूलत[5] प्राणनाथ
पर्यङ्केऽङ्केऽपि बाला [6]रतरभसगलद्ग्रीविवासश्चुचुम्ब ।।80।।

अथ सम्भोग शृङ्गार ।।

---

1 ०म्बन
2 चुम्बनमेव (मू पा टि)
3 चामरणादि शृङ्गार (मू पा टि)
4 वीक्ष्य०
5 नतमनिटिल ललाट तत्र चलन्ती भ्रूलता यस्मिन् दर्शनक्रियायाम् (मू पा टि)
6 रतरभसाद्गलद्ग्रीविवासो यस्मिन् चुम्बनक्रियायां (मू पा टि)

शृङ्गार रस—

कामदेव का उद्भेद (अङ्कुरित होना) शृङ्ग कहलाता है। उस शृङ्ग की उत्पत्ति के कारणभूत, अनुकूल विभावादि से व्यक्त होने वाला रस शृङ्गार कहा जाता है ॥सू 77॥

अनुकूल (प्रिय) वस्तु के विषय मे तन्मयता (प्रवणता) के रूप मे जो व्यक्त होता है वह उस (शृङ्गार रस) का रतिनामक स्थायी भाव है, जिसका लक्षण पहले कह दिया गया है। शृङ्गार रस मे नायिका आलम्बन, चन्द्रोदय आदि उद्दीपन, नायिका के विलास और सात्त्विकादि अनुभाव हैं। मरण आलस्य, जुगुप्सा और उग्रता को छोडकर (अन्य सभी) सञ्चारी भाव होते हैं।

जैसे—

किसी बहाने से नेत्र बन्द करने वाली मृगनयनी नायिका को अङ्क मे सुलाकर उसके शङ्काकुल नेत्रकोरो का नायक जो चुम्बन लेता है, वह चुम्बन ही नायिका को मणित (सम्भोग के समय उच्चारित अस्पष्ट ध्वनि) सिखाता है ॥79॥

अथवा जैसे—

सुन्दरियो की तरुणावस्था तपस्या के फल के समान, चाँदनी पुष्पभार और आभरणादि शृङ्गार पल्लवो की कान्ति के समान होती है, फिर भी तुम लज्जा करती हो, यह क्या है ? ऐसा कहकर चचल भ्रूलतायुक्त ललाट को नीचा करके देखती हुई बाला का, सम्भोग की आतुरता के कारण जिसकी नीवि (कपडे की गाठ) खुलने से वस्त्र खिसक रहा था, प्राणनाथ ने पलग के पार्श्व मे भी चुम्बन कर लिया ॥80॥

यह सम्भोग शृङ्गार है।

यत्र तु प्रकृष्टारतिर्नाभीष्टमुपैति तत्र विप्रलम्भ ॥सू 78॥

स च अभिलापविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक ।

अभिलापहेतुको यथा—

कदा तरुणनेत्रण सुदति[1] वक्त्रपङ्के रुह
[30ब] पुरो मम भविष्यति प्र A रायिति क्षण चिन्त्यताम् ।
त्वयि प्रणिहितेक्षणस्त्वयि निबद्धभाव कथ
निशामु भविता जनस्त्वमिह साक्षिणी स्या स्वयम् ॥81॥

यथा वा—

मृदुमधुरविचेष्टितानि तस्या कथमिव सन्तु मनोजमन्थराणि ।
स्मृतिविषयमुपागतेषु येषु[3] क्षणमपि नाऽञ्चति चित्तमन्यतो मे ॥82॥

विरहो यथा—

"करतलनिहितकपोलमि"[4] त्यत्र ।

ईर्ष्या यथा—

दयिते[5] परा[6] प्रशसति[7] साहजिकी धृतिमवलम्ब्य ।
नि श्वसितग्लपिताधरमाननमेतस्य[8] तिर्यगाक्षिपति ॥83॥

प्रवासो यथा—

प्रात प्रयाणसमये हृदयश्वरस्य वातायनोन्मुखतया क्षणमायताक्षी ।
नि श्वासशुष्यदधराश्रु निपातपीतधैर्या[9] धुनोति हृदयानि पुर सखीनाम्
॥84॥

शापो यथा—

उपक्रान्त कोकै कथमपि सशोकैरिव गिरा
निरस्ताश पाश विरचयति नम्रेव नलिनी ।

---

1 हे (मू पा टि)
2 हे (मू पा टि) । ०यनि
3 येषु मृदुमधुरविचेष्टितेषु स्मरणभाव प्राप्तेषु (मू पा टि)
4 श्लोक–76
5 भर्तरि (मू पा टि)
6 अन्या नायिका (मू पा टि)
7 प्रशसति
8 नायकस्य (मू पा टि)
9 ०तधीर्या

अहो घातनांत परमुचितमेतद्यदकृपम्
निरालोक लोक [1]रचयितुमुपात्त परिकर ॥85॥

इद तु प्राचामनुरोधेनोदाहृत वस्तुतस्तु विशेषानुपलम्भादेक एव विप्रलम्भ शृङ्गारो भवति ।

इति शृङ्गारो रस ।

जहाँ प्रकृष्ट रति अभीष्ट को प्राप्त नही होती, वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार होता है ।।सू 78॥

उस विप्रलम्भ शृङ्गार के अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शापरूप हेतु होने से वह पाँच प्रकार का होता है ।

अभिलाषहेतुक जैसे—

हे सुदति (श्रेष्ठ दाँतो वाली) ! वह निर्मल तिरछे कमलनेत्र कब मेरे सम्मुख होगे । हे प्रियतमे ! क्षणभर सोचो । तुम्हारी ओर ही दृष्टि लगाये हुए, चित्तवृत्ति को तुम्हीं से बाधे हुए यह व्यक्ति (मैं) किस प्रकार (विरह की) रात्रि मे (जी रहा) होगा, इस विषय मे तुम स्वय ही साक्षिणी बनो ॥81॥

अथवा जैसे—

उस (नायिका) की कामक्रीडा मे मन्थर कोमल मधुर चेष्टाएँ (अब) किस प्रकार होगी ? (वियोग मे) उन (मृदु मधुर चेष्टाओ) का स्मरण हो जाने पर मेरा चित्त क्षणभर भी कही अन्यत्र नही जाता ॥82॥

विरह के कारण विप्रलम्भ-शृङ्गार जैसे—

"करतलनिहितकपोलम्" इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक–76 ।

ईर्ष्याहेतुक जैसे—

पति द्वारा अन्य नायिका की प्रशसा करने पर (नारी सुलभ) सहजवृत्ति का आश्रय लेकर वह नायिका (दीर्घ) नि श्वास से मुरझाए अधर वाले मुख को नायक की ओर कुछ-कुछ तिरछा घुमाकर देखती है ॥83॥

---

1 रचय०

प्रवासहेतुक जैसे—

प्रात हृदयेश्वर के प्रयाण के समय वातायन की ओर क्षणभर उन्मुख होने ही, दीर्घश्वास से सूखते मधर घोर अश्रु के प्रवाह ने जिसके धैर्य को पी लिया है, ऐसी विशाल नेत्रो वाली नायिका अपने सम्मुख ही सखियो के हृदयो को विकल बनाती है ॥84॥

शापहेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार जैसे—

शोकयुक्त चक्रवाक मानो किसी प्रकार आवाज कर रहा है। कमल-समूह आधाररहित हो भुककर मानो पाश-रचना कर रहा है। अहो, हे विधाता! इससे अधिक यह उचित नही है कि तुम अकरुण होकर ससार को आलोकरहित करने के लिये अपना परिकर जुटा रहे हो ॥85॥

यह विप्रलम्भ-शृङ्गार के उक्त पाच भेदो के उदाहरण प्राचीन आचार्यो के अनुरोधवश दिये गये है। वास्तव मे इनमे किसी विलक्षणता की उपलब्धि नही होती है, अत विप्रलम्भ-शृङ्गार एक ही होता है।

शृङ्गार-रस का विवेचन समाप्त हुआ।

हासश्चेतोविकाश स्यात्तत्र हास्यो रस स्मृत ॥सू 79॥

रागादिवैकृताच्चेतो विकाशपरिपुष्टो रसो हास्य । तत्र हास [31अ] स्थायी, विकृताकारादिरालम्बन[1], तादृक् चेष्टोद्दीपनं अक्षिसङ्कोचादिरनुभाव, निद्रालस्यावहित्थाद्या व्यभिचारिण । यथा—

> विपर्यस्तोऽप्यौव[2] कटितटनटद्हस्तमनित
> प्रफुल्लाभ्यां मध्ये सम [य] मतससङ्कोचितदृशा ॥
> कपोलाभ्या लोकान् जनयति मृदु स्मेरवदनान्
> स्वय हृहाशब्दं परिहसति भण्ड पुनरयम् ॥86॥

यथा वा गङ्गाधरे—

> श्रीतातपादैर्विहिते निबन्धे, निरूपिता नूतनयुक्तिरेषा।
> अङ्ग गवा पूर्वमहो पवित्र न वा कथ रासभधर्मपत्न्या ॥87॥

---

1 ०म्बन

2 परिवर्तितोऽप्यौव यथा स्यात्तथा (मू पा टि)

इति हास्य ।

शोकश्चित्तस्य वैक्लव्य करुणस्तत्र कीर्त्यते ।।सू 80।।

इष्टनाशादिना चेतो वैक्लव्य शोक स्थायी तत्र करुणाख्यो रसो भवति । शोच्यमालम्वन[1], शोच्यस्य दाहादिरुद्दीपन, भूपातादिरनुभाव, वैवर्ण्योच्छ्वासस्तम्भप्रलपनमोहापस्मारव्याधिग्लानिश्रमविषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिण ।

यथा—

> भ्रहह दहति वहि्न क्रन्दमाना सखायो
> भुवि निपतति जातस्तम्भमामोरवृद्ध [2] ।
> कथमिव परिहारश्चिन्तयेत्याकुलस्य
> स्रवति सलिलमक्ष्णो पुण्डरीकेक्षणस्य ।।88।।

गङ्गाधरे तु—

> भ्रपहाय सकलबान्धवचिन्तामुद्वास्य गुरुकुलप्रणयम् ।
> हा तनय ! विनयशालिन् ! कथमिव परलोकपथिकोऽभू ।।89।।

इति करुण ।

हास्य-रस—

चित्त का विकसित होना हास होता है तथा उससे जनित रस हास्य कहा जाता है ।।सू 79।।

रागादि की विकृति होने पर चित्त के विकास से परिपुष्ट हास्य रस होता है । इसका स्थायिभाव हास है । विकृत आकृति भ्रादि भ्रालम्बन है भ्रौर विकृत चेष्टा उद्दीपन है । नेत्रसकोच भ्रादि भ्रनुभाव हैं । निद्रा, भ्रालस्य, भ्रवहित्था आदि व्यभिचारिभाव हैं । जैसे—

उलटी पगडी पहनकर भ्रपने हाथो को दोनो भ्रोर कटिनट पर नचाता हुभ्रा, फूले हुए (प्रफुल्लित) कपोलो के साथ भ्रलसायी भ्राँखो को मिचमिचाना हुआ यह नट लोगो के मुख पर मधुर मुस्कान ला देता है भ्रौर स्वय भी हूहा शब्द के साथ हँसता है ।।86।।

---

1 ० म्वन

2 नन्द (मू पा टि)

अथवा जैसे "रसगङ्गाधर" (1, पृ 184) में—

पुत्र की उक्ति—पूज्य पिताजी के द्वारा रचे गये निबन्ध में यह नवीन युक्ति निरूपित है कि जब गायों का पूर्व अंग पवित्र होता है, तो गर्दभ की धर्मपत्नी का अंग पवित्र क्यों नहीं माना जाये। (धर्मशास्त्र में गौ का पश्चार्द्ध पवित्र बताया गया है, पर यहाँ हास्योत्पत्ति के लिये असंगत बात कही गयी है।) ॥87॥

इस प्रकार हास्य रस का वर्णन पूरा हुआ।

करुण-रस—

चित्त की विक्लता शोक है, वही करुण-रस का स्थायी भाव है, ऐसा कहा जाता है ॥सू 80॥

इष्टनाश आदि के कारण चित्त की विक्लता को शोक कहते हैं। यही शोक स्थायी भाव है, जो (परिणत होकर) करुण नामक रस होता है। (विनष्ट बन्धु आदि) शोचनीय व्यक्ति आलम्बन, शोचनीय व्यक्ति का दाहकर्म आदि उद्दीपन, भूमि पर गिरना आदि अनुभाव हैं। विवर्णता, उच्छ्वास, स्तम्भ, प्रलाप, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, श्रम, विषाद, जडता, उन्माद, चिन्ता आदि इसके व्यभिचारिभाव हैं।

जैसे—

खेद है कि अग्नि (दावाग्नि) प्रज्वलित हो रही है, (गोप) सखा क्रन्दन कर रहे हैं, बूढे अहीर (बाबा नन्द) स्तम्भित होकर पृथ्वी पर गिर रहे हैं। सोचो तो इसका कैसे परिहार किया जाये, इस चिन्ता से व्याकुल कमलनयन श्रीकृष्ण के नेत्रों से जल बह रहा है ॥88॥

"रसगङ्गाधर" (1, पृ 156) में—

हे विनयशील पुत्र! समस्त बन्धुओं की चिन्ता छोडकर, गुरुकुल के प्रेम को भी भूलकर तू कैसे परलोक का पथिक हो गया? ॥89॥

करुण-रस का निरूपण समाप्त हुआ।

[31ब] चित्तविक्लवताहेतुर्भयं तत्र भयानक ॥सू 81॥

भयहेतुरालम्वन[1], घोरतरचेष्टोद्दीपन, रोमाञ्चादिरनुभाव, सत्रासग्लानिदीनताशङ्काद्या व्यभिचारिण।

---

1 ० म्बन

यथा—

अवलोक्य मातरमुपागता रुषा, दधिभाण्डपाणिरपहर्तुमक्षम[1]।

अपि कम्पमानतनुराकुलेक्षण, परिशुष्यदास्यमभवज्जनार्दन ॥90॥

इति भयानकाख्यो रस ।

रौद्रस्तीक्ष्णावबोधात्मक्रोधपोषितविग्रह ॥सू 82॥

क्रोध स्थायी, अरिरालम्बन[2] तच्चेष्टोद्दीपन, भ्रूविभङ्गोष्ठ[3]दशनबाहुस्फोटनात्मवृत्तकीर्त्तनाक्षेपतर्जनादिरनुभाव, आवेगोग्रता-रोमाञ्चस्वेदमदमोहादयो व्यभिचारिण ।

यथा—

धिगित्यसकृदुच्चरत्यपि जने पुरो निष्कृप
[4]गुरोर्गलितगौरव त्वमि शिरो हठाद्वृश्चति ।
अपि समरसाहसोच्छलदसवर्गवेज्वरे
पतत् कठिनकण्ठत पिबतु रक्तधार[5] पय ॥91॥

"[6]कृतमनुमत दृष्ट वा यैरिद गुरुपातक, मनुजपशुभिर्नि"द तु वृत्ति-विकलत्वान्नोदाहृतम्।

यथा वा—

आस्फोट्योद्दण्डबाहुद्वयमहमुचितारम्भसम्भावनीय-
स्तावच्चाणूर[7] गर्ज्ज क्षणमिह ममसाया[8]श्चपेटाऽतिथित्वम्।

---

1 भाण्डे पाणिर्यस्य तादृशो दधि अपहर्तुमसमर्थ (मू पा टि)
2 ०म्बन   3 ०ष्ठ०
4 द्रोणाचार्यस्य (मू पा टि)
5 रक्ता धारा यस्य तत् पय (मू पा टि)
6 कृतमनुमत दृष्ट वा यैरिद गुरुपातक
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधै ।
नरकरिपुणा सार्धं मनोमकिरीटिना-
मयमहममसृङ्मेदोमासै करोमि दिशा बलिम् ॥—का प्र—4, 39
7 ० नूर । हे (मू पा टि)
8 माया नागच्छेस्त्व (मू पा टि)

सपिण्डयाऽर्द्धमुष्ट्या करजठरमुखान्यन भोजायमस्य[1]
तृप्त्यै कीनाशमार्गे तव पलविहित पिण्डमेष क्षिपामि ॥92॥

इति रौद्र ।

भयानक-रस—

चित्त को व्याकुल बनाने का कारण जहाँ भय स्थायी भाव होता है, वहा भयानक रस होता है ॥सू 81॥

भयानक रस मे भय का कारण ही आलम्बन उसकी अत्यन्त भीषण चेष्टाएँ उद्दीपन, रोमाञ्च आदि अनुभाव, सन्त्रास, ग्लानि, दीनता, शका आदि व्यभिचारिभाव होते हैं ।

जैसे—

माता को क्रोध के साथ पास आई हुई देखकर, दही के पात्र मे हाथ डाले हुए कृष्ण (जनार्दन) उसे बाहर निकालने मे असमर्थ हो गये, इसलिए उनका शरीर कांपने लगा, नेत्र व्याकुल हो गये और मुख सूखने लगा ॥90॥

यह भयानक रस है ।

रौद्र-रस—

तीक्ष्णता के अवबोध से युक्त क्रोध से पुष्ट विग्रह (स्वरूप) वाला रस रौद्र-रस होता है ॥सू 82॥

रौद्र-रस मे क्रोध स्थायी भाव, शत्रु आलम्बन और उसकी चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव होती हैं । भ्रूभग, ओष्ठ-दशन, भुजाओ को फैलाना, अपने किये हुए (वीरता आदि) कार्यों की प्रशसा करना, प्रहार, तर्जन (डाटना) आदि अनुभाव होते हैं । आवेग, उग्रता, रोमाञ्च, स्वेद, मद, मोह आदि व्यभिचारिभाव होते हैं ।

जैसे—

"धिक्कार है" ऐसा बार-बार लोगो द्वारा कहे जाने पर भी निर्दय होकर अपने सामने गुरु द्रोणाचार्य की गुरुता का तिरस्कार करके उनके मस्तक को हठात् (बलपूर्वक) काट देने वाले तथा युद्ध मे अपने साहस के उत्कर्ष से उत्पन्न अनगण्डित गर्व के ज्वर से युक्त तुम्हारे (धृष्टद्युम्न के) ऊपर गिरती हुई मेरी यह तलवार तुम्हारे कठोर कण्ठ मे रक्त धार वाला जल पिये ॥91॥

---

1 भमस्य (मू पा टि)

(काव्यप्रकाशकार द्वारा उद्धत) "कृतमनुमत दृष्ट वा यैरिद गुरुपातकम्" इत्यादि पद्य रौद्र-रस के उदाहरण-स्वरूप नही देना चाहिये, क्योकि इसकी रचना मे रौद्र-रस को ग्रभिव्यक्त करने वाली ग्रारमटी वृत्ति नही है ।

ग्रथवा ग्रन्य उदाहरण—

मजबूत बाहुद्वय को फडकाकर उचित रणकौशल के साथ स्वागत करने के योग्य मैं उपस्थित हूँ । चाणूर, तू गर्जन भले ही करले, किन्तु मेरे चपेट-प्रहार का ग्रतिथि बनने के लिए ग्रागे मत बढ जाना । ग्राज ग्रपने मुक्को से नीच कम के हाथ, पेट ग्रौर मुख को गठरी की तरह इकट्ठा करके तृप्ति के लिए यह मै तुम्हारे कच्चे मास के बने पिण्ड को यम-मार्ग की ग्रोर फेंक रहा हूँ ॥92॥

रौद्र-रस का विवेचन समाप्त हुग्रा ।

[32] सरम्भऽस्फोरसाहाज्न्त-पातोवीरश्चतुर्विध ॥सू 83॥

चतुर्विध इत्युपलक्षणम् ।उत्साहपरिपोषो वीर , ग्रस्य विजेतव्यादय ग्रालम्बन[1] तच्चेष्टोद्दीपन, विपक्षान्वेषणादिरनुभाव , धृतिमतिगर्वरोमाञ्चादयो व्यभिचारिण ।

क्षुद्रा केऽमी क्षितीशा क्व च स्मरकथाप्रेक्षणीया कुमारा[2] ।
सरम्भारम्भदम्भोद्भटभुजयुगल कञ्चिदन्वेषयामि ।
इत्य जल्पत्यनल्प कुरुकुलतिलके[3] वायुसूनो[4] सवर्ग
सभ्रूभग कटाक्षा करकलितगदागौरव भावयन्ति ॥93॥

चतुर्विध इति दानदयाधर्म[युद्ध] भेदात् ।

दानवीरो यथा—

ग्रजाविकमिवेभाना यूय केमी तुरङ्गमा ।
कणाना कनक याति दानोद्यतकरे मयि ॥94॥

इद तु नोदाहार्यम्—

त्वयि दातरि दानवेन्दो[5] लज्जामरनम्र मुरकाश्यपीरुह[6] ।
कतिचिद्दिवसेषु भूमिलोके कृतपुण्याश्चयो भविष्यति ॥95॥

---

1 ०श्वन
2 नकुलादय (मू पा टि)
3 दुर्योधने (मू पा टि)
4 भीमस्य (मू पा टि)
5 ०वेन्दु
6 कल्पद्रुम (मू पा टि)

वर्णनीयविषयिककविरतेरेव मुख्यत्वात् ।

धर्मवीरो यथा[1]—

> किमिदं वस्तु वा नृपासन न च धर्मादपयाति मन्मनः ।
> अपि कौशिक[2] दासताऽस्तु[3] मे, न कथञ्चिन्मयि रुष्यता भवान् ॥96॥

दयावीरे नागानन्दे[4]—

> शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
> तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणात्त्वं विरतोऽगुरुत्मन्[5] ॥97॥

[32व] एवमेव पाण्डित्यवीरक्षमावीरसत्यवीराणामुदाहरणमुन्नेयम् । वस्तुतस्तु अरिविषय एव वीरः दानदयादिकं तु शान्तस्य नर्ममात्रम् ।

इति वीरः ।

वीर-रस—

कार्य करने में उत्कट आवेश (संरम्भ) रूप उत्साह नामक स्थायिभाव-युक्त वीर-रस चार प्रकार का होता है ॥मू 83॥

"चतुर्विध"—यह उपलक्षण है । उत्साह नामक स्थायीभाव से परिपुष्ट वीर रस है । जीतने योग्य (व्यक्ति) इस वीर रस का आलम्बन, उस (व्यक्ति) की चेष्टा उद्दीपन और विपदा का अन्वेषण आदि अनुभाव होते हैं । धृति, मति, गर्व, रोमाञ्च आदि व्यभिचारिभाव हैं ।

कहाँ हैं वे क्षुद्र राजा और कहाँ हैं युद्धकथा में देखने योग्य नकुल आदि कुमार ? मैं तो क्रोधयुक्त युद्ध से विशिष्ट अहङ्कारयुक्त भुजयुगल वाले किसी (योद्धा) को खोज रहा हूँ । इस प्रकार दुर्योधन के बहुत अधिक बोलने पर भीम के गर्व और भ्रूभंग से युक्त कटाक्ष उनके हाथों में सुशोभित गदा का गौरव प्रकट कर रहे हैं ॥93॥

---

1 *हरिश्चन्द्रस्य वच (मू पा टि)
*हरस्च०
2 विश्वामित्र (मू पा टि)
3 किंकरत्वमस्तु (मू पा टि)
4 नाटक (मू पा टि)
5 हे (मू पा टि)

(उपर्युक्त युद्धवीर के अतिरिक्त) दान, दया और धर्म के भेद से वीर चार प्रकार का होता है।

दानवीर जैसे—

दान देने को मेरा हाथ उद्यत होने पर ये घोड़े तो क्या हाथियों का समूह भी बकरियों (छोटे पशुओं) के समान लगता है और स्वर्ण कण-स्वरूप (तुच्छ) हो जाता है ।।94।।

दानवीर का ऐसा उदाहरण नहीं होना चाहिये—

हे दानवेन्दु ! तुम्हारे दान देने के लिए उद्यत होने पर लज्जा के भार के कारण नम्र हुआ कल्पवृक्ष कुछ ही दिनों के लिए पृथ्वी के राजाओं द्वारा पुष्प चुनने योग्य हो जायेगा ।।95।।

यहां कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव ही प्रधान है। (अत उत्साह "दानवीर" रसरूप में परिणत नहीं हो सकता। इसलिए यह श्लोक भाव-ध्वनि का उदाहरण हो सकता है, रसध्वनि का नहीं।)

धर्मवीर जैसे—

(हरिश्चन्द्र का कथन—) यह धन अथवा राजसिंहासन क्या है? मेरा मन धर्म से नहीं हट सकता। इसके अतिरिक्त विश्वामित्र की दासता मेरे लिए हो, आप किसी प्रकार भी मेरे ऊपर क्रोधित न हों ।।96।।

दयावीर का उदाहरण "नागानन्द" नाटक में—

(गरुड के प्रति जीमूतवाहन की उक्ति—) हे गरुड ! छिन्न नाडियों के मुख से अब भी रक्त निकल रहा है, मेरे शरीर में मांस भी है। मैं देखता हूँ कि अब भी तुम्हारी तृप्ति नहीं है। फिर भी तुम खाने से विरक्त क्यों हो गये हो ? ।।97।।

इसी प्रकार पाण्डित्यवीर, क्षमावीर, सत्यवीर के उदाहरण भी हो सकते हैं। वास्तव में शत्रुविषयक ही वीर होता है, दानदया आदि तो शान्त के नर्म-मात्र हैं।

वीर-रस का विवेचन समाप्त हुआ।

दोषेक्षणादुगर्हणादियुक्तो बीभत्स उच्यते ।।मू 84।।

जुगुप्सादि परिपोषो वीभत्स पिशिताद्यालम्बन[1], तत्र कृमिपाताद्युद्दीपन, [2]निष्ठीवननेत्रसङ्कोचाद्यनुभाव , मोहापस्मारव्याधाद्या व्यभिचारिण । यथा—

मेदो मांसाऽसपङ्कं पलभुजि[3] तरल पश्यति प्रेतरङ्क
कृत्वाऽङ्के कश्चिदोष्ठ[4] दशति करपुटीमेष गृध्रो लुनीते ।
इत्थ [5]वीभत्सुरुच्चै करविहितमुखाकुञ्च्यमाणाऽक्षिघोण
साय सग्रामभूमौ हरिमुचितपद याहि याहीत्यवोचत् ॥98॥

इति वीभत्स ।

चेतोविकाशो यस्तत्र लोकसीमानिर्वर्तिनि सोऽद्भुतो ॥सू 85॥

अलौकिकचमत्कारजनक वस्त्वालम्बन[6], तन्महिमोद्दीपन, स्तम्भस्वेदरोमाञ्चनेत्रविकाशादिरनुभाव , वितर्कावेगहर्षाद्या व्यभिचारिण । यथा—

अहो रक्ताभाणा पटलमिमपर्माभमधुना
पुराकार भूयो व्रजति विरल [7]महतमथ ।
पुनश्चित्राकार करधृतनवोष्णीषमसित—
श्चलत्पट्या स्पष्ट सचकितमिद पश्यति जन ॥99॥

[33अ] इत्यद्भुत ।

अन्यो रस शान्त प्रशमादौ स भासते ॥सू 86॥

शमपरिपोष शान्त , अशेषवस्तुनिस्सारतालम्बन[8], पुण्यतीर्थाद्युद्दीपन, रोमाञ्चादिरनुभाव , निर्वेदादयो व्यभिचारिण । यथा—

निस्सारसंसारविहारखिन्न परिभ्रमन्त प्रजवीथिकासु
सहेलमानन्दसमाधिमग्न तिरस्करिष्यन्ति कदा कुमारा ॥100॥

---

1 ०म्बन
2 निष्ठी०
3 राक्षस (मू पा टि)
4 ०ष्ट
5 वीभत्सुरर्जुन (मू पा टि)
6 ०म्बन
7 मिलिन (मू पा टि)
8 ०म्बन

अत्र प्रीतप्रेयान्वत्सलादयोऽन्तर्भाविता द्रष्टव्या ।
रसाभासादयस्तु पूर्वमुक्ता ।

इति श्री काव्यालोके तृतीयो रसविलासप्रकाश समाप्त ॥3॥

बीभत्स-रस—

दोष-दर्शन के कारण (किसी वस्तु के प्रति) घृणा (गर्हना) आदि वृत्ति होने पर बीभत्स रस कहा जाता है ॥सू 84॥

जुगुप्सा आदि का परिपोष बीभत्स-रस है। मास आदि आलम्बन है। बीभत्स रस मे कृमिपात (कीडे पड जाना) आदि उद्दीपन विभाव हैं। थूकना, नेत्र बन्द कर लेना आदि अनुभाव हैं। मोह, अपस्मार, व्याधि आदि व्यभिचारि-भाव है, जैसे—

चमकदार चर्बी, मास और रुधिर के ढेर को मासभक्षी राक्षस देखता है। प्रेतरूपी रक गोद मे रखकर किसी ओष्ठ को काटता है। यह गिद्ध कटी हुई हाथ की अजलि को खाता है। इस प्रकार युद्धभूमि मे सायकाल घृणा करते हुए (अर्जुन) ने हाथ से मुख छुपाकर आँख और नासिका को सकुचित करते हुए उच्च स्वर से "उचित स्थान पर जाइए, जाइए", ऐसा हरि (श्रीकृष्ण) से कहा ॥98॥

बीभत्स-रस का विवेचन कर दिया।

अद्भुत रस—

पदार्थ या वस्तु के लोकसीमा का अतिक्रमण करने पर जो चित्त का विस्तार (विस्मय) है, वही अद्भुत-रस है ॥सू 85॥

अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करने वाली वस्तु अद्भुत रस का आलम्बन, वस्तु की महिमा उद्दीपन है। स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, नेत्र-विकास आदि अनुभाव हैं। वितर्क, आवेग, हर्ष आदि व्यभिचारिभाव हैं। जैसे—

अहो, इस समय रक्तिम बादलो का समूह हाथी के चर्म की कान्ति जैसा दिखता है, अब पुर के आकार को प्राप्त करता है, फिर विरल हो जाता है, पुन मिलकर सघन हो जाता है। पुन विचित्र आकार धारण कर लेता है। अपने सम्मुख आकाश मे इस बादल को लोग हाथ से नवीन उष्णीष को पकडकर चचल दृष्टि से चकित होकर स्पष्ट देखते है ॥99॥

अद्भुत रस का निरूपण कर दिया है।

शान्त रस—

(उक्त आठ रसों के अतिरिक्त) अन्य शान्त रस है। वह प्रशम आदि से भासित होता है ॥सू 86॥

शम स्थायिभाव से परिपुष्ट शान्त रस होता है। इसमें समस्त वस्तु की निस्सारता आलम्बन, पुण्य तीर्थ आदि उद्दीपन हैं। रोमान्च आदि अनुभाव और निर्वेद आदि व्यभिचारिभाव हैं। जैसे—

निस्सार ससार के विहार से खिन्न व्रज की गलियो मे घूमते हुए तथा हेला के साथ आनन्द-समाधि मे मग्न होने वाले का कुमारजन कब तिरस्कार करेंगे ॥100॥

स्नेही व्यक्ति के प्रति प्रदर्शित वात्सल्य आदि रस का अन्तर्भाव देखना चाहिये। (पृथक्रूप से यह रस नहीं मानने चाहिये)।

रसाभास आदि का वर्णन पूर्व मे किया जा चुका है।

इस प्रकार काव्यालोक का तृतीय "रसविलास" नामक प्रकाश समाप्त हुआ। □

निर्दोष[1] गुणवत्काव्य सालङ्कार सुखाप्तये ।
इति दोषा विविच्य ते समासात्काव्यशुद्धये ।। सू 87 ।।

दोषाणा मलरूपत्वात् विवेकवह्निसन्निधाने काव्यसुवर्णस्य परिशुद्धि-रित्याशय ।

अपकर्ष प्रधानस्य वाह्लादक्षतिरित्यसौ[2] ।। सू 88 ।।

दोष प्रधानस्यापकर्ष प्रधानो रस रसमात्रप्रतिवधकतावच्छेदरूप । तेन श्रोत्रकटुत्वादिरनित्य । तथाह गङ्गानन्द —

रसत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नोपस्थितिवाध्यतानिरुपित-
प्रतिवन्धकतावच्छेदकरूपत्व तत्त्व[3] आह्लादक्षति ।।

[4]इति तु युक्तम् ।

दोषा श्रुतिकटुवर्ण कार्त्तार्थ्यं प्राप्यते कदा ।

माधुर्याव्यञ्जकपरपवर्णमयत्वमित्यर्थ । यथा कार्त्तार्थ्यमिति[5] ।
[6]च्युतमस्कृनिक प्रोक्त ते स्तनावनुनाथते[7] ।

तत्तद्व्याकरणाऽसाधुपदसमभिव्याहारादित्यर्थ । आशिष्येव [33ब] नाथ‹नेगत्मनेपदनियमात् ।

---

1 ० र्दोष 2 आह्लादेति स्वमत (मू पा टि)
3 रसत्व (मू पा टि)
4 पाण्डुलिपि मे सन्धि करके ' आह्लादक्षतिरिति" लिखा है ।
5 कृतार्थस्य भाव (मू पा टि) 6 च्युतिम ०
7 याचते (मू पा टि)

दोष-विवेचन —

दोष रहित, गुणयुक्त तथा अलंकारसहित काव्य आनन्द की प्राप्ति के लिये होता है। अतः काव्य की शुद्धि के लिये, संक्षेप में, दोषों का विवेचन किया जा रहा है॥ सू 87॥

अभिप्राय यह है कि दोष मलरूप हैं और विवेक रूपी अग्नि में रखने पर काव्यरूपी स्वर्ण की शुद्धि होती है।

प्रधान (रस) का अपकर्ष अथवा आह्लाद का क्षय जिससे होता है वह दोष है। ("आह्लादध्रति" हरिप्रसाद का स्वमत है।) ॥ सू 88 ॥

दोष प्रधान का अपकर्ष करने वाले हैं। प्रधान का अभिप्राय है "रस"। दोष रस में अवरोध करने वाले होते हैं। इनमें श्रुतिकटु आदि दोष अनित्य हैं। जैसा कि गङ्गानन्द ने कहा है—

रसत्व में व्याप्त धर्म से अवच्छिन्न उपस्थिति बाध्यता से निरूपित प्रतिबन्धकतावच्छेदक रूपत्व तत्त्व (रसत्व) ही "आह्लादध्रति" है—ऐसा कहना उचित है।

(1) श्रुतिकटु—

कठोर वर्णरूप श्रुतिकटु दोष होता है, जैसे—वह कब कार्तार्थ्यं (कृतार्थत्व) प्राप्त होगा।

माधुर्य की अभिव्यञ्जना न करने वाले कठोर वर्णों का जब प्रयोग किया जाये तो श्रुतिकटु दोष होता है। जैसे यहाँ "कार्तार्थ्यं" पद (श्रुतिकटु) है।

(2) च्युतसंस्कार—

च्युतसंस्कार दोष का उदाहरण दिया है—तुम्हारे स्तनों के लिये प्रार्थना करते हैं।

व्याकरण के नियम के अनुसार साधुपद नहीं होने पर च्युतसंस्कार दोष होता है, यह अर्थ है। "आशिषि नाथ" इस सूत्र से "नाथ्" धातु से आशी अर्थ में ही आत्मनेपद का विधान किया गया है। परन्तु यहाँ याचना अर्थ में आत्मनेपद का प्रयोग किया गया है। अतः "अनुनाथते" पद च्युतसंस्कार दोष से युक्त है।

अप्रयुक्त पिशाचोऽस्य दैवत क्रूरकर्म्मण ।

आम्नातमपि महाकविभिरनादृतम् । यथा दैवतशब्दस्य पुस्त्वमादृत-मप्यप्रयुक्तम् ।

असमर्थमय गङ्गा हन्ति सम्प्रति सादरम् ।

प्रयुक्तार्थे प्रयोजितमप्यगृहीतशक्तिक पदम् । यथा हन्तीति गमनार्थे ।

[1]निहतार्थ यथा पादलाक्षाशोणित[2]कुतल ।

रूढ्योपात्तसङ्केतस्य यौगिकमङ्केतप्रापणम् । यथोज्ज्वलीकृतरूपार्थस्य ।

रणाऽश्वमेधपशुताम्वगायाऽनुचितार्थकम् ।

स्तोतव्यनिन्दार्थयो प्रतिकूलार्थबोधकमनुचितार्थम् । पशुपद कात-रताव्यञ्जकमित्यनुचितम् ।

निरर्थक यथा शम्भो कान्तयश्च[3] हिमप्रभा ।

वाक्यार्थानुपकारमव्ययमित्यर्थ ।

अवाचक यथा जन्तु[4] किं गणस्य करिष्यति ।

अत्र जन्तुपद विवक्षितार्थस्याऽवाचक तात्पर्यविपयीकृतवस्तुप्रकार-कज्ञानाऽभावबोधकमित्यर्थ ।

(3) अप्रयुक्त—

अप्रयुक्त दोष जैसे—क्रूरकर्म करने वाले इसका उपास्य देवता कोई पिशाच है ।

कोश आदि मे उस अर्थ मे पढा हुआ होने पर भी कवियो द्वारा अपनाया हुआ नही होने पर अप्रयुक्त दोष होता है । जैसे यहाँ दैवत शब्द का पुंल्लिङ्ग मे

---

1 निहि ०
2 शोणितशब्दो रुधिरे रूढ उज्ज्वले तु यौगिक (मू पा टि)
3 अत्र चकारोऽनर्थक (मू पा टि)
4 जन्तुपद कीटादौ अत्र तु मूरादि पदापेक्षा (मू पा टि)

प्रयोग ('दैवतानि पुंसि वा" इस प्रकार अमरकोश में) कहा गया है फिर भी महाकवियों द्वारा प्रयुक्त नहीं हुआ है, अतः अप्रयुक्त दोष है।

(4) असमर्थ—

असमर्थ का उदाहरण जैसे—अब यह आदरसहित गङ्गा जा रहा है।

प्रयुक्त अर्थ में कहे जाने पर भी पद की उस अर्थ में शक्ति न होने पर असमर्थ दोष कहते हैं। जैसे यहां "हन्ति यह पद गमनार्थ में असमर्थ है।

(5) निहतार्थ—

निहतार्थ जैसे—चरणों के लाक्षारस से उज्ज्वल कुन्तल है।

रूढ्यर्थ में सङ्केतित शब्द का यौगिक अर्थ में सङ्केत प्राप्त कराना (दोनों अर्थों का वाचक होने पर भी अप्रसिद्ध अर्थ में शब्द प्रयुक्त हो वह) निहतार्थ दोष कहलाता है। जैसे यहां शोणित शब्द रुधिर अर्थ में रूढ है और उज्ज्वल अर्थ में यौगिक है। पर यहां उज्ज्वल अर्थ में प्रयोग किया गया है।

(6) अनुचितार्थ—

अनुचितार्थ का उदाहरण—रणरूपी अश्वमेध यज्ञ में पशु के समान (वीर लोग) स्वर्ग प्राप्त करते हैं।

स्तुति और निन्दा बोधक शब्दों में प्रतिकूल अर्थ का बोध होना अनुचितार्थ दोष है। जैसे यहां पशु-पद (मारे जाने वाले की) कातरता का अभिव्यञ्जक है, अतः (वीरता के वर्णन में) अनुचित है।

(7) निरर्थक—

निरर्थक दोष का उदाहरण जैसे—शम्भु की कान्तियाँ हिम की प्रभा वाली हैं।

वाक्यार्थ में उपकारक (सहायक) न होने वाले (पादपूर्ति मात्र के लिये प्रयुक्त चकार आदि) पद निरर्थक होते हैं। जैसे उक्त उदाहरण में "कान्तयश्च" में प्रयुक्त चकार अनर्थक है।

(8) अवाचक—

अवाचक जैसे—एक जन्तु (व्यक्ति) गरा या वया कर लेगा।

("जन्तु" पद कीट आदि अर्थ का वाचक है, यहां व्यक्ति आदि पद की अपेक्षा में प्रयुक्त है। अतः जन्तुपद विवक्षित अर्थ का वाचक नहीं है। अर्थात् तात्पर्य के विपर्यीभूत वस्तु-प्रकारक ज्ञान के अभाव का बोधक है, यह आशय है।

ग्राम्य कटिस्तवाऽत्यर्थं मदीय हरते मन ।

लोकमात्रप्रसिद्ध ग्राम्य यथा कटिपदम् ।

सन्दिग्धमवले पश्य नरवे रागोऽभ्रसभव ।

तात्पर्यमशयक्कृत् करावयवे गगननिषेधेवेति तात्पर्यसशय ।

अप्रतीत यथा ज्ञानदलिताशयनिर्मल ।

[34 अ] शास्त्रैकप्रसिद्धमित्यर्थं । यथा आऽशयशब्दो योगशास्त्रे वासनाया प्रसिद्ध ।

व्रीडाजुगुप्साऽमाङ्गल्यपदमश्लीलमुच्यते ।
साधन[1] सुमहद्वायुर्विनाशयति पार्थिवान् ।।

साक्षाद्व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलद्योतक पद यथा क्रमेण साधनवायुविनाशशब्दा ।

नेयार्थमिन्दु कुरुते चपेटापातनाऽतिथिम् ।

निषिद्धलाक्षणिकमित्यर्थं । चपेटापातने निर्जितत्व लक्ष्यम् ।

क्लिष्टमत्रिदृगुल्लासमासिभि सदृश यश ।

व्यवधानेनार्थप्रत्यय । यथा अत्रिदृगुल्लासश्चन्द्र तेन भासिभि कुमुदे समान यश ।

(9) ग्राम्य—

ग्राम्य दोष का उदाहरण जैसे—तुम्हारी कमर मेरे मन को अत्यधिक आकर्षित कर रही है।

जो शब्द केवल लोक मे प्रसिद्ध होता है वह ग्राम्य है जैसे "कटि" पद ग्राम्य है ।

(10) सन्दिग्ध—

सन्दिग्ध दोष जैसे—हे अवले ! देखो बादल मे उत्पन्न राग नख मे है (नभे) अथवा आकाश मे नहीं है (न खे)।

जहाँ अर्थ सशययुक्त होता है, वहाँ सन्दिग्ध होता है। यहाँ "नखे" शब्द मे हाथ के अवयव नख से अभिप्राय है या आकाश का निषेध किया गया है, इस अर्थ मे सशय होता है।

---

1. साधनपद गुदे वायुपद अपानवायो (मू पा टि)

(11) अप्रतीत—

अप्रतीत दोष का उदाहरण जैसे—ज्ञान से "आशय" (अर्थात् वासना नामक संस्कारों) को विनष्ट करके जो निर्मल हो गया है।

जो शब्द किसी विशेष शास्त्र में प्रसिद्ध है (अर्थात् पारिभाषिक शब्द है उसका साधारण रूप में प्रयोग करना) अप्रतीत दोष होता है। जैसे 'आशय' शब्द योगशास्त्र में वासना (शुभाशुभ कर्मों से उत्पन्न संस्कार) के वाचक रूप में प्रसिद्ध है (लोक में नहीं। उपर्युक्त उदाहरण में इस शब्द का प्रयोग अप्रतीत दोष है)।

(12) अश्लील—

व्रीडा, जुगुप्सा और अमङ्गल के व्यञ्जक पद होने पर अश्लील नामक दोष कहा गया है। जैसे—इसका साधन अत्यन्त बड़ा है तथा वायु पार्थिवों को तितर-बितर कर देती है।

इन वाक्यों में "साधन" पद (गुदा का वाचक होने से) व्रीडा (लज्जा) का द्योतक है। "वायु" शब्द (अपानवायु का सूचक होने से) जुगुप्सा का व्यञ्जक है और विनाश शब्द (मरण का बोधक होने से) अमङ्गल का व्यञ्जक है।

(13) नेयार्थ—

नेयार्थ दोष का उदाहरण जैसे—(तुम्हारा मुख) चन्द्रमा को भी थपत लगा रहा है।

निषिद्ध लक्षणावाला पद नेयार्थ है (अर्थात लक्षणा के प्रयोजक हेतुओं के अभाव में भी लक्षणा का प्रयोग करने पर नेयार्थ दोष होता है।)जैसे यहाँ थप्पड़ लगाने से "तिरस्कृत कर देना" (जीत लेना) यह अर्थ लक्षणा से प्रतीत होता है (परन्तु रूढि अथवा प्रयोजनरूप लक्षणा के हेतु न होने से नेयार्थ दोष है)।

(14) क्लिष्ट—

क्लिष्ट दोष जैसे–अत्रिमुनि के नेत्र में प्रकाश (चन्द्रमा) से खिलने वाले (कुमुदों) के समान यश है।

व्यवधान से अर्थ की प्रतीति होने पर क्लिष्ट दोष होता है। जैसे उक्त उदाहरण में अत्रिमुनि के नेत्रों का प्रकाश चन्द्रमा है, उससे (चन्द्रमा से) खिलने वाले "कुमुदों" के समान यश है यह अर्थ व्यवधान से प्रतीत होता है। अतः क्लिष्ट दोष है।

अविमृष्टविधेयांशो विधेयस्याऽविमर्शनात् ।
अयथावद्विनिर्देशो[1] यथोदाहृतिरूह्यताम् ।।

स्पष्टम् । यथा वा[2]—

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताऽविरलगल[3]गलद्रक्तसंसक्त[4]धारा
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम्[5] ।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरी[6]रक्षणे यत्प्रयासः ।। 101 ।।

यथा वा—

रसैः कथा यस्य सुधावधीरणीनलः स भूजानिरभूद्गुणाद्भुतः ।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापानलकीर्त्तिमण्डलः[7] ।। 102 ।।

यथा वा—

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः ।
[34ब] सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटान् जीवत्यहो रावणः ।।
धिग्धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा ।
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठ[8]नवृथोच्छूनैः[9] किमेभिर्भुजैः ।। 103 ।।

अकार्यमित्रमित्यादौ विरुद्धमतिकृद्यथा ।

---

1 विधेयांशोविमृष्ट इत्यपेक्षित । अविमृष्टेत्यादि कथनमेवोदाहृतिः ।
(मू पा टि)

2 मुरारिनाटके रावणवाक्य (मू पा टि)

3 कठ (मू पा टि)

4 संसिक्त॰

5 अत्र विधेय दोष्णां* मिथ्यामहिमत्व तत्समासेन पिहित दोषः मूर्ध्नां
(मू पा॰ टि)
* दोष्णां

6 लङ्का (मू पा टि)

7 अत्र सितातपत्रित विधेय तत्समासेन पिहित अविमृष्टविधेयांशो दोष
(मू पा टि)

8 ०ष्ट०

9 अत्र भुजनिष्ठ वृथोच्छूनत्व विधेय तत्समासेन पिहितमतो दोष (मू पा टि)

विरुद्धबुद्धिहेतुरित्यर्थः कार्यं विनेति विवक्षिते अकार्येषु मित्रमिति प्रतीतिः ।

(15) अविमृष्टविधेयांश—

जहाँ विधेय अंश का विमर्श (प्रधानरूप से परामर्श) न होने से अप्रधानवद् विनिर्देश होता है, वहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष होता है। यह अविमृष्टविधेयांश उदाहरणों के अनुरूप समझ लेना चाहिये।

यह स्पष्ट ही है अथवा अन्य उदाहरण है—

("मुरारिनाटक" में रावण की उक्ति है—) उद्धतता के साथ निरन्तर काटे गये कण्ठों से बहती हुई रक्त की अविच्छिन्न धारा से धोये हुए शिवजी के चरणों के प्रसाद से प्राप्त विजय से जगत् में मिथ्या महिमा को प्राप्त हुए मेरे इन दस सिरों का और कैलाश को उठाने की कामना के सूचक तीव्र अभिमान से गर्वित मेरी इन भुजाओं का क्या यही फल है कि इस लंका नगरी की रक्षा में प्रयास करना पड़े ? ॥ 101 ॥

यहाँ मिथ्यामहिमशालित्व विधेय है। इसके समास में आ जाने से प्रधानता नष्ट हो गयी है अतः अविमृष्टविधेयांश दोष है।

अथवा अन्य उदाहरण—

गुणों के कारण जिसकी कथा सुधा का तिरस्कार करने वाली है, वह गुणों से अद्भुत, सुवर्ण दण्ड से युक्त श्वेत छत्र से मण्डित तथा प्रताप रूपी अग्नि से प्रज्वलित कीर्ति मण्डल वाला यह पृथ्वीपति राजा नल हुआ ॥ 102 ॥

यहाँ "सितातपत्रित" विधेय है जिसके समास में आ जाने से अविमृष्टविधेयांश दोष हो गया है।

अथवा अन्य उदाहरण—

(रावण की गर्वोक्ति है--) संसार में शत्रुओं का होना ही मेरा अपमान है, उस पर भी यह तपस्वी (मेरा शत्रु) है। वह भी यहीं है और राक्षस वीरों का नाश कर रहा है, इस पर रावण जीवित है, यह आश्चर्य की बात है। इन्द्र को जीतने वाले मेघनाद को धिक्कार है। अथवा जगाये गये कुम्भकर्ण से भी क्या लाभ हुआ ? स्वर्गरूपी क्षुद्र ग्राम को लूटकर व्यर्थ ही गर्व से फूली हुई भुजाओं से क्या फल है ? ॥ 103 ॥

1 ०बु०

यहाँ भुजनिष्ठ वृथा उच्छूनत्व विधेय है अत वृथात्व को समास में नहीं रखना चाहिये। परन्तु यहाँ वृथात्व को समास में रखने से अविमृष्टविधेयांश दोष हो गया है।

(16) विरुद्धमतिकृत्—

विरुद्धमतिकृत दोष जैसे—(वह) नि स्वार्थ मित्र है।

विरुद्ध बुद्धि को पैदा करने वाला विरुद्धमतिकृत् दोष है। जैसे यहाँ बिना कार्य (बिना स्वार्थ) के मित्र यह अर्थ विवक्षित है परन्तु "अकार्यमित्रम्" पद स बुरे कार्य मे सहायक मित्र, इस अर्थ की प्रतीति होती है (अत यह प्रयोग विरुद्धमतिकृत् दोष है)।

एतेवान्यगता[1]स्तद्वत्सोऽध्यैष्टागमसहिता ।

इद श्रुतिकटोरुदाहरणम्[2]।

तदुक्तम्—

> अपास्य च्युन[3]संस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।
> वाक्येऽपि दोषा सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ॥

पदस्यांशे यथा—

> अलमतिचपलत्वात् स्वप्नमायोपमत्वात् ।
> परिणतिविरसत्वात् सङ्गमेनाङ्गनाया ॥ 104 ॥[4]

अत्र त्वादिति[5]।

---

1 एते दोषा यथा पदस्य तथा वाक्येऽपि भवन्तीति (मू पा टि)

2 स आगमसहिता अध्यैष्टेति वाक्ये श्रुतिकटुदोष (मू पा टि)

3 च्युति०

4 अलमतिचपलत्वात् स्वप्नमायोपमत्वात्
परिणतिविरसत्वात् सगमेनागनाया ।
इति यदि शतकृत्वस्तत्त्वमालोचयाम-
स्तदपि न हरिणाक्षी विस्मरत्यन्तरात्मा ॥ का प्र 7ह197

5 पुन पुनरुच्चरित त्व पदांशेन दोष (मू पा टि)

शून्य वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छन्नै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ॥[1] 105 ॥

अत्र ल्यप्‌बाहुल्य इत्याद्युदाहार्यम् ।

वहिनिर्ह्रादिना[2] हेयमित्यादौ ते समासगा ।
ते श्रुतिकट्वादयः एवमन्येप्युदाहर्त्तव्या ॥

वाक्यगत दोष—

ये दोष जिस प्रकार पद मे होते हैं, वैसे ही वाक्य मे भी होते है। जैसे—उसने आगम सहिता का अध्ययन किया।

यह वाक्यगत श्रुतिकटु दोष का उदाहरण है।

("काव्यप्रकाश" मे) यह कहा गया है—

च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक, इन तीन पद-दोषो को छोडकर ये दोष वाक्य मे भी होते हैं और कुछ पदाश मे भी होते हैं।

पदाश दोष—

पदाश (श्रुतिकटु) दोष का उदाहरण जैसे—

अत्यन्त चञ्चल, स्वप्न और माया के समान (भ्रान्तिस्वरूप) और परिणाम मे नीरस (दुःखकारी) होने के कारण स्त्री का सग नही करना चाहिये ॥ 104 ॥

यहाँ बार-बार उच्चरित (प्रयुक्त) "त्वात्" यह पदाश श्रुतिकटु दोष है।
(अन्य उदाहरण-)

नायिका ने अपने शयनकक्ष को शून्य (सखियो से रहित), देखकर अपने बिस्तर से कुछ धीरे मे उठकर नीद का बहाना करके लेटे हुए पति के मुख को बहुत देर तक देखकर ॥ 105 ॥

---

1 शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थली
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥
—का प्र—4, 30

2 वहिणा निर्ह्रदति इत्यंव शीलेन (मू पा टि)

यहाँ ल्यप् प्रत्यय का बाहुल्य होने से पदांश श्रुतिकटु दोष है। इसी प्रकार पदांश दोष के अन्य उदाहरण हैं।

समासगत दोष—

समासगत श्रुतिकटु का उदाहरण जैसे—
मोर के ध्वनि करने के कारण यह त्याज्य है।

यहाँ ("वर्हिनिर्ह्लादिना" यह) समस्तपद श्रुतिकटु है। इसी प्रकार अन्य दोषों के भी समासगत उदाहरण समझ लेने चाहिये।

अथ वाक्यदोषा —

प्रतिकूलाक्षर कण्ठे सुकण्ठ्यागुण्ठ्यस्व[1] माम।

रसाऽननुकूलवर्णत्वम्। तत्र शृ गारे कण्ठेति।
एवमन्यत्र।

प्राप्तोव्[2] लुप्तसर्गस्तु मीनो नीतोव[3] ईदृश।

अथ असकृद्दोष।
न सकृन् तथा—

[35अ] धीरो विनी[4]तो निपुणो वराकारो नृपो[1]ऽत्र स।
यस्य भृत्या बलो[5]न्मिक्ता भक्ता[6] बुद्धिप्रभाविता ॥ 106 ॥

विसन्धिश्चन्द्रवदने[7] इमौ पश्य कुमारकौ।
उर्व्यंसावत्र[8] तर्वाम्या [9]चलण्डामरचेष्टित ॥

---

1 हे सुकण्ठि मा कण्ठे मागुण्ठ्यस्वेन्यत्र शृङ्गारे ठकार बहुपठन दोष (मू पा टि,)
2 अत्र प्राप्तोव न्व (मू पा टि)
3 व इन्यत्र लुप्तविसर्गत्वम् (मू पा टि)
4 नयो ०
5 वलो ०
6 भक्ता श्रेष्ठा (मू पा टि)
7 हे (मू पा टि)
8 इमौ उर्व्यौ तत्र तर्वाम्या तरुपक्वौ (मू पा टि)
9 चलद्दला ०

अथ दोष प्रगृह्यनिमित्त सकृदपि स्वेच्छानिर्मित ॥
अश्लीलकाटसूत्रान्तरनिमित्तश्चेति पञ्चविध ॥ सू 89॥

इहैव विकृतस्यान्तर्भाव । यथा—एयरत्नं पतय सुरकल्पा ।

जौहोत्यादिकत्वेनश्लुविकरणस्य ऋगतावित्यस्य श्लौ द्वित्वे "उरद"-त्वे रेफलोपे "अर्तिपिपर्त्योश्चे"त्यभ्यासेत्वे "ऽभ्यासस्याऽसवर्णे" इति यङि, "सिजभ्यस्तविदिभ्यश्चे"ति, "जुसि[1] चे"तिगुणे, आडागमे "आटश्चे"ति वृद्धौ ऐयरुरिति रूपम् । तत्र सूत्रान्तरनिमित्तम् । सन्ध्यनुगत भिन्न विकृत तु धातोर्दूरविकृतेर्भिन्नमितिनान्तर्भावमन्ये मन्यन्ते ।

वाक्यगत दोष के भेद—

(1) वाक्यगत प्रतिकूलता दोष का उदाहरण जैसे—हे सुकण्ठि ! मेरे कण्ठ में अवगुण्ठन (आलिङ्गन) करो ।

रस के अनुकूल वर्णों का प्रयोग नहीं होने पर प्रतिकूल वर्ण दोष होता है । यहाँ शृङ्गार रस के वर्णन में "ठ" वर्ण का प्रयोग अनेक बार किया गया है । (जो शृङ्गार रस के प्रतिकूल है अत वाक्यगत प्रतिकूल वर्णना का उदाहरण है) ।

इसी प्रकार अन्य (रसों के वर्णन में प्रतिकूल वर्ण होने पर) वाक्यगत दोष होते हैं ।

(2) (उपहतविसर्गत्व के दो भेद हैं-प्राप्तोत्वविसर्गत्व और लुप्तविसर्गत्व) जहाँ विसर्ग ओकार के रूप में परिणत होते हों अथवा वाक्य में सर्वत्र विसर्ग का लोप होता हो, ऐसा अनेक बार करने पर वहाँ उपहतविसर्गता दोष होता है जैसे—"धीरो नीतोव ईदृश" ।

वाक्य में यह बार-बार होने पर दोष होता है ।

एक बार नहीं होने पर (अर्थात् अनेक बार विसर्ग का लोप तथा विसर्ग का ओकार होने का उदाहरण) जैसे—

यहाँ (संसार में) वह राजा धैर्यवान्, विनीत, निपुण और सुन्दर है, जिसके सेवक बलाभिमानी, श्रेष्ठ और बुद्धि से प्रभावित हों ॥ 106 ॥

(इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में धीरो, विनीतो, निपुणो और नृपो में विसर्ग का "ओ" हो गया है, इस प्रकार अनेक बार विसर्ग का ओत्व एक साथ प्रयुक्त किया

---

1 जसि

गया है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में मृत्या, बलोत्सिक्ता तथा मल्ला इन शब्दों में विसर्ग का लोप किया गया है। अतः यहाँ उपहतविसर्गता दोष कहा गया है।)

(3) विसन्धि दोष के उदाहरण हैं—

1 चन्द्रवदने इमौ पश्य कुमारकौ
2 उर्व्यसावत्र तर्वाल्याम्
3 चलण्डामरचेष्टित

(यहाँ प्रथम उदाहरण मे "चन्द्रवदने+इमौ" के मध्य "एचोऽयवायाव" सूत्र से अयादेश प्राप्त होता है परन्तु "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा हो जाने से सन्धिविश्लेष हो गया है जो कवि की अशक्ति का सूचक होने से दोष है। उर्वी+असौ" मे सन्धि होकर "उर्व्यसौ" पाठ बना है, "उर्व्यसौ तर्वाल्या" —यह पाठ सुनने और अर्थज्ञान मे कष्टदायक है, अतः कष्टसन्धि का उदाहरण है। "चलण्डामर" मे "लण्डा" अंश पुरुष के लिंग का सूचक होने से इस सन्धि मे अश्लीलता है।)

विसन्धि दोष (1) प्रगृह्यनिमित्तक, (2) अपनी इच्छा से एक बार भी किया हुआ सन्धिविश्लेष, (3) अश्लीलता, (4) कष्टजन्य विसंधि और (5) अन्य सूत्र निमित्तक (विकृत), इस प्रकार पाच प्रकार का होता है ।।सू 89।।

यही विकृत का अन्तर्भाव होता है। जैसे—ऐयरुर्नृपतय सुरकल्पा (देवताओ के समान राजा आये)।

इस वाक्य मे प्रयुक्त "ऐयरु" पद मे "ऋ गतौ" इस धातु के जुहोत्यादिगणीय होने से (ऋधातु, लङ्लकार, प्र पु, बहु व मे) "श्नु" विकरण के योग से धातु को द्वित्व हुआ (ऋ ऋ झि) और "उरत्" से ऋ को अत् ("उरण् रपर" से अर् = अर् ऋ झि होकर = "हलादि शेष" से) रेफ का लोप होकर (अ ऋ झि), "अर्तिपिपर्त्योश्च" सूत्र से अभ्यास को इत्व हुआ ("उरण् रपर", "हलादि शेष" होकर = इ ऋ झि)। फिर "अभ्यासस्याऽसवर्णे से "इ" के इयङ् होने पर (इय् ऋ झि)। "सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च" के अनुसार ("झि" को) जुस् होने पर (इय् ऋ उस्), "जुसि च" से ऋ को गुण हुआ (इय् अर् उस्), "आडजादीनाम्" मे आट् का आगम हुआ (आ इय् अर् उस्) और "आटश्च" सूत्र के आट् को वृद्धि होकर (ऐ य् अर् उस् =) "ऐयरु" यह रूप सिद्ध हुआ।

इस उदाहरण मे सूत्रान्तरनिमित्तक दोष है। सन्धि का अनुगत दोष होकर भिन्न रूप से होने वाला विकृत दोष तो धातु की दूरगामिनी विकृति के कारण भिन्न होता है, अतः विकृत का अन्तर्भाव अन्य कुछ विद्वान् नही मानते हैं।

हृतवृत्तमिद पश्याञ्जनाञ्जितविलोचने ।

इद पुनर्दुरुच्चारमशोभन पादान्तप्राप्तगुरुलघुसुलक्षणहीन रसाननुगुण चेत्यश्रव्यमेव । यथा वा—

अमृतममृत क सन्देहो मधून्यपि नाऽन्यथा
मधुरमधुर चूतस्यापि प्रसन्नरस वलम् ।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थ सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत्स्वादु स्यात् प्रियारदनच्छदात् ॥107॥

शेषमूह्यम् ।

न्यून स्वत्सरसिक्तोऽस्मिन् द्विपद्धाधे भय कुत ।

[35ब] अत्र धारा[1]पदमपेक्षितम् । यथा वा—

तथामूता दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्[2]चालतनया
वने व्याधै सार्द्धं सुचिरमुषित वल्कलधरं ॥[3]108॥

[4]इत्यत्राऽस्माभिरिति ।

पल्लवाकृति रक्तोष्ठी[5] सा वासैरधिक मतम् ।

अत्र आकृतिपदमधिकम् ।

यथा वा "वाचमुवाच कौत्स" इत्यत्र वाचमिति ।

पुनरुक्त सिताम्भोजसितहासरुचि पुमान् ।

अत्र सितपदम् ।

---

1 मरधारासिक्ते इति युक्तम् (मू पा टि)

2 पञ्चा०

3 तथामूता दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनया
वने व्याधै सार्धं सुचिरमुषित वल्कलधरं ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृत
गुरु खेद खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥

—वेणीसंहार–1, 11

4 पाण्डुलिपि मे श्लोक के पश्चात् "इति" को मिलाकर, सधि करके "इत्य" इत्यादि लिखा है ।

5 ०ष्ठी

(4) हतवृत्त दोष का उदाहरण जैसे—अञ्जन से युक्त नेत्र देखो।

यह हतवृत्त दोष (तीन प्रकार का होता है—छन्द के लक्षण के अनुसार होने पर भी) 1 उच्चारण में दुष्कर लगने पर अशोभन होता है। 2 पद के अन्त में प्राप्त गुरु–लघु के नियम से रहित (अन्त में ऐसा लघु हो जो गुरुत्व को प्राप्त न हो सके) और 3 रस के अनुरूप छन्द का प्रयोग नहीं होना, ये अश्रव्य हतवृत्त दोष के तीन भेद हैं। उपर्युक्त उदाहरण अश्रव्य हतवृत्त का है। अथवा अन्य उदाहरण—

अमृत अमृत ही है, इसमें क्या सन्देह है ? शहद भी (मधुर है) अन्य प्रकार का नहीं है। सुस्वादु रस वाला आम्र-फल भी अत्यधिक मधुर होता है। पर अन्य रसों को जानने वाला एक भी व्यक्ति पक्षपात-रहित होकर कहे कि इस संसार में प्रिया के ओष्ठ से स्वादिष्ट अन्य क्या वस्तु है ॥107॥

(यहाँ "यदिहान्यत्स्वादु स्वाद" यह पूरा पद अश्रव्य है। क्योंकि छन्द में "वदतु यदिहा" के पश्चात् यति होनी चाहिये, परन्तु यह यति यहाँ सुनने में अश्रव्य हो जाती है।)

इसी प्रकार शेष भेदों के उदाहरण जानने चाहिये।

(5) न्यूनपद वाक्य दोष का उदाहरण जैसे—

तुम्हारी जल की धारा से गीले इस शत्रु से विरोध में भय कहाँ ?

यहाँ ("सरसिक्ते" पद में "सरधारासिक्त" पद होना चाहिये अत) 'धारा' पद अपेक्षित है (यह पद नहीं होने से न्यूनपदता दोष हो जाता है)।

अथवा अन्य उदाहरण ("वेणीसंहार" नाटक के श्लोक की पंक्तियाँ हैं)।

राज्यसभा में द्रौपदी की उस प्रकार की स्थिति को देखकर, और फिर वन में वल्कल धारण करके बहुत समय (बारह वर्ष) तक व्याधों के साथ रहा गया, इत्यादि ॥108॥

यहाँ (कर्ता के रूप में) "अस्माभि" (हमारे द्वारा) पद होना चाहिये (उसके नहीं रहने से न्यूनपदता दोष आ गया है)।

(6) अधिकपद दोष जैसे—वह बालिका पल्लव की आकृति के समान रक्तिम ओष्ठ वाली है।

यहाँ "आकृति" पद अधिक है।

अथवा अन्य उदाहरण—कौत ने यह वचन कहा।

यहाँ "वाचम्" पद अधिक है ("उवाच" कहना ही पर्याप्त है अतः अधिकपदता का उदाहरण हो जाता है)।

(7) पुनरुक्त दोष का उदाहरण है—श्वेत कमल के समान श्वेत हास्य की कान्ति से युक्त यह पुरुष है।

यहाँ "सित" पद (दो स्थान पर प्रयुक्त हुआ है) अतः पुनरुक्त या कथित पद दोष है।

पतत्प्रकर्षं प्रारब्धपदनाव्यत्यय स्फुटम्।

स्पष्ट उदाहरणमपीदमेव।

समाप्तपुनरात्त तु वाला पश्यति भामिनी।

यथा वा—

नाशयन्तो घनध्वान्त मावयन्तो वियोगिन ।
पतन्ति शशिन पादा भासयन्त क्षमातलम् ॥109॥

शेषवाचकमिच्छन्ति यदि पूर्वोत्तरार्द्धयो । उदाहरन्ति च—

इदुर्विभाति कर्पूरगौरैर्धवलयन् करै ।
जगन्मा कुरु तन्वङ्गि मान पादानते प्रिये ॥110॥

अत्र जगदिति प्रथमार्धे पठितुमुचितम्।

अभवन्मतमित्युक्त यथा जितमिद जगत् ।
या विस्मेरसरोजाक्षी या विना जीवित न मे ॥111॥

अत्र विस्मेरसरोजाक्षीशब्देन यच्छब्दनिर्दिष्टाना सम्बन्धो[1] दुर्घट ।

अपरापलव वीक्ष्य क रष्टाऽनुक्तवाच्यता ।

अत्र लवमपीत्यपि वाच्य ।

(8) पतत्प्रकर्ष वाक्यदोष जैसे—प्रारब्ध पदयदना के उत्तरोत्तर स्फुट रूप से व्यत्यय (पतन) होने पर पतत्प्रकर्ष दोष होता है।

यह स्पष्ट है और उदाहरण भी यही है।

---

1 ०बन्धो

2 र्था०

(9) समाप्तपुनरात्त दोष—(वाक्य की समाप्ति के बाद पुन एक और विशेषण का प्रतिपादन किया जाये वह समाप्तपुनरात्तत्व होता है) जैसे–बाला देखती है भामिनी।

अथवा अन्य उदाहरण—

गहन अन्धकार का नाश करते हुए, वियोगिनी को सन्तप्त करते हुए चन्द्रमा के चरण पड़ते हैं। पृथ्वीतल को चमकाते हुए ॥109॥

(यहा श्लोक के तृतीय चरण "पतन्ति शशिन पादा" मे वाक्य की समाप्ति हो जाने पर भी चतुर्थ चरण मे पुन एक विशेषण दिया गया है अत समाप्तपुनरात्त वाक्यदोष है।)

(10) अर्धान्तरैकपदत्व दोष वहा होता है जहाँ पूर्वार्द्ध का एक पद उत्तरार्द्ध के कथन के लिये शेष रह जाता है। उदाहरण है—

कपूर के समान श्वेत किरणो से धवल बनाता हुआ चन्द्रमा सुशोभित हो रहा है। ससार को, अत हे कृशाङ्गि ! अपने प्रिय के चरणो मे नत होने पर मान मत करो ॥110॥

यहा "जगत्" शब्द (का सम्बन्ध पूर्वार्द्ध से है अत इसे) प्रथमार्ध मे ही पढ़ना चाहिए। (इस एक पद के शेष रहने पर, उत्तरार्द्ध मे रखने से यहाँ 'अर्धान्तरैकपद' वाक्यदोष हो गया है)।

(11) अभवन्मतसम्बन्ध दोष (वाक्य मे अभिमत अर्थात् इष्ट सम्बन्ध विद्यमान नही होने पर होता है) उदाहरण जैसे—

यह जगत् जीत लिया गया है, जो अच्छी तरह खिले हुए कमल के समान नेत्रवाली है, जिसके बिना मेरा जीवन नही है ॥111॥

यहाँ "विस्मेरसरोजाक्षी" शब्द के द्वारा "यत्" शब्द से निर्दिष्ट वाक्यो का सम्बन्ध घटित नही होता (अत अभवन्मत दोष कहा गया है)।

(12) अनुक्तवाच्यता दोष (जहाँ अवश्य कहने योग्य शब्द को न कहा जाये वहाँ होता है) उदाहरण जैसे—

किसी तुच्छ से (भी) अपराध को देखकर रुष्ट हो।

यहाँ "लवमपि"—"तुच्छ भी'—यह कहना चाहिये (अर्थात् "अपि" का प्रयोग भी करना चाहिये। इसके अभाव मे वाक्यदोष हो गया है)।

स्रज न काचिद्विजहावित्यस्थानपद मतम् ।

अत्र काचिन्न विजहाविति वाच्यम् ।

[36अ] केऽपिचिदक्रमतामाहु अस्य[1] दोषस्य । यथा—

> द्वय गत सम्प्रति शोचनीयता
> समागमप्रार्थनया कपालिन ।
> कला च सा कान्तिमती कलावत-
> स्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥ 112 ॥

इत्यत्र त्वमित्यनन्तर चकारानुपादानात् अक्रमता । स्वातन्त्र्येणार्थबोधनविरहान्न च तस्य वाचकतानिश्चय ।

अस्थानस्थसमासता यथा—

> अद्यापि स्तनतुङ्गशैलशिखरे सीमन्तिनीना हृदि
> स्थातु वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहित ।
> उद्यन् दूरतरप्रसारितकर कर्षत्यसौ[3] तत्क्षणात्
> फुल्लत्कैरवकोशनिस्सरदलिश्रेणीकृपाणी शशी ॥ 113 ॥

अत्र क्रोधे समासो न कृत , कवेरुक्तौ तु कृत ।

सङ्कीर्णं गगने पश्य मानमिदु परित्यज ।

वाक्यान्तरपदाना वाक्यान्तरेऽनुप्रवेश इत्यर्थ ।

(13) अस्थानपद दोष माना गया है—किसी स्त्री ने माला को नही उतारा ।

यहाँ "काचिन्न विजहा" इस प्रकार ("काचित्" के पश्चात् "न" का प्रयोग करके कहना चाहिये । "न" का प्रयोग पूर्व मे करने से अस्थानपद दोष आ गया है) ।

(14) अक्रमता दोष—

कुछ लोग इस अस्थानपद दोष के उदाहरण मे अक्रमता दोष बताते है ।

---

1 अस्थानपददोषस्य अक्रमनामा दोषमूचु (मू पा टि)

2 वाञ्छ०

3 कर्षत् (मू पा टि)

(अक्रमता दोष का उदाहरण) जैसे—

कपाल धारण करने वाले शिव के समागम की प्रार्थना में इस समय चन्द्रमा की सुन्दर कला और इस संसार के नेत्रों की कौमुदीरूप तुम (पार्वती) दोनों शोचनीय हो गयी हो ॥ 112 ॥

यहाँ "त्वम्" पद के आगे चकार रखना चाहिये था, पर इसका प्रयोग यहा नहीं करने से अक्रमता दोष आ गया है। "नञ्" स्वतन्त्रता में अर्थबोधक नहीं माना जाता अत उसकी ("न" की) वाचकता निश्चित नहीं है। (अतएव कुछ लोगों के मतानुसार "द्वय ग त" इस पद्य में "च" की तरह "स्रज न" इत्यादि में "न" शब्द के स्थान में स्थित होने पर भी यहाँ अक्रमत्वदोष होता है, अस्थानपदत्व दोष नहीं)।

(15) अस्थानस्थसमास दोष जैसे—

अब भी (चन्द्रमा के उदय होने पर भी) स्तनरूपी ऊँचे पर्वतशिखर और स्त्रियों के हृदय में यह मान रहना चाहता है, इसे धिक्कार है। इससे मानो क्रोध के कारण लाल हुआ यह चन्द्रमा दूर तक (किरणरूपी) हाथ फैलाकर तुरन्त ही खिले हुए कुमुदों के भीतर (कलीरूपी म्यान) से भ्रमरपंक्तिरूप तलवार खींच रहा है ॥ 113 ॥

यहाँ (पूर्वार्द्ध में क्रोधी चन्द्रमा की उक्ति है वहा) समास नहीं किया गया और उत्तरार्द्ध में कवि की उक्ति है वहाँ समास किया गया है (अत अस्थानस्थसमास दोष है)।

(16) सकीर्णता दोष का उदाहरण, जैसे—आकाश में देखो मान को चन्द्रमा को छोड़ो। (अर्थात् आकाश में चन्द्रमा को देखो, मान छोड़ो।)

एक वाक्य के पद दूसरे वाक्य में आ जाने पर सकीर्ण दोष होता है। (यहाँ "इन्दु" का सम्बन्ध "पश्य" के साथ है और "मान" का "परित्यज" के साथ, परन्तु ये शब्द एक दूसरे वाक्य में प्रवेश हो गये हैं।)

गर्भित दुरिताकारं सत्तैरेकान्तसङ्गति ।
कथयन्ति पुराणानि श्रेयसे न कदाचन ॥

वाक्यमध्ये वाक्यान्तरानुप्रवेश ।

प्रसिद्धिहतमुन्मत्तवीराणा समरे रव ।

रवो मण्डूके न पुनर्वीरगर्जिते प्रसिद्ध ।

भग्नप्रक्रमनोद्देश्य प्रतिनिर्देश्यहीनता ।

[36 ब] उद्देश्य प्रतिनिर्देश्याऽव्यतिरिक्तविषय एव पुनरुक्तदोषा-सम्भवात् तत्र त्वपुनरुक्तो दोष भग्नप्रक्रमतेत्यर्थ । यथा—

म्लाने कमलिनीबधौ[1] विवर्णा च मलिन्यपि ।
कुलाङ्गनानामेव हि प्रायशो भवति स्थिति ॥ 114 ॥

अत्र म्लाने इत्युक्ते मम्लौ कमलिनीति युक्तम् । यथा—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥ 115 ॥

अन्यथा पदान्तरेण प्रतिपद्यमान स एवार्थोऽर्थान्तर इव भासमान प्रतीति स्थगयति ।

वटाक्षशरमभिनानुरागरुधिरोत्पिता ।
जीवितेशालय यातेत्यादावमतमुच्यते[2] ॥ 116 ॥

प्रकृतरसविरुद्धरसव्यञ्जकार्यप्रतीत्या दोष इत्यर्थ ।

(17) गर्भित वाक्यदोष जैसे—बुराई मे लगे हुए दुष्टो के साथ सदैव सगति पुराण कहते है कभी भी श्रेयस्कर नही है ।

एक वाक्य के मध्य दूसरा वाक्य आ जाने पर गर्भितत्व दोष होता है (यहाँ श्लोक का तृतीय चरण अलग वाक्य है जो दूसरे वाक्य मे प्रविष्ट हो गया है अत गर्भितत्व दोष है) ।

(18) प्रसिद्धिविरुद्धता दोष का उदाहरण है—युद्धभूमि मे उन्मत्त वीरो की ध्वनि ।

(कविप्रसिद्धि का उल्लघन होने पर प्रसिद्धिविरुद्धता दोष होता है । यहाँ प्रयुक्त) "रव" शब्द मेढक आदि मे प्रसिद्ध है, वीरो के गर्जन मे नही (अत प्रसिद्धिविरुद्धता दोष है) ।

(19) भग्नप्रक्रमता दोष वहाँ होता है जहाँ उद्देश्य के प्रति निर्देश्यभाव से युक्त स्थल पर उसी पद का प्रयोग नही किया जाये ।

---

1 सूर्ये (मू पा टि)
2 अमतनामा दोष इत्यर्थ (मू पा टि)

उद्देश्य के प्रतिनिर्देश्यभाव से भिन्न स्थल पर (एक पद का दो बार प्रयोग करने पर) पुनरुक्ति दोष होता है पर (उद्देश्य–प्रति निर्देश्यभाव होने पर)पुनरुक्ति दोष नही होता है। (अत उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्यभाव वाले स्थल पर) उस पद का ही दुबारा प्रयोग करना चाहिये, ऐसा नही होने पर भग्नक्रमता दोष होता है। उदाहरण जैसे—

सूर्य के म्लान होने पर कमलिनी भी विवर्ण हो गयी। क्योकि कुलागनाओ की प्राय यही स्थिति होती है॥ 114 ॥

यहा "म्लान" कहे जाने पर 'मम्लौ कमलिनी" यह कहना चाहिये।

अथवा अन्य उदाहरण—

सूर्य लाल ही उगता है और लाल ही अस्त होता है। महापुरुष सम्पत्ति और विपत्ति मे एक जैसे ही रहते हैं॥ 115 ॥

यहां (उद्देश्यस्थल और प्रतिनिर्देश्यस्थल, दोनो ही स्थल पर "ताम्र" शब्द का प्रयोग किया गया है। यदि यहा प्रतिनिर्देश्यस्थल "ताम्र" के स्थान पर 'रक्त' शब्द का प्रयोग किया जाय तो) अन्य पद से प्रतिपादित वही (ताम्रत्व) अर्थ उस अर्थ के समान प्रतीत होता है और(सम्पत्ति विपत्ति की एकरूपता की) प्रतीति मे बाधा उत्पन्न करता है (इसलिये "रक्त एवास्तमेति" पाठ करने पर भग्नक्रमता दोष हो जाता है)।

(20) अमतपरार्थता दोष जैसे—

कटाक्षरूपी बाण से आहत होकर अनुरागरूपी रक्त उत्पन्न होने पर वह (नायिका) यमपुरी (जीवितेश-यम-दूसरे पक्ष मे प्राणनाथ की पुरी) को गई है। ॥ 116 ॥

प्रकृत रस के विरुद्ध दूसरे रस के व्यञ्जक अर्थ की प्रतीति होने पर अमतपरार्थता दोष होता है। यहाँ प्रकृत (बीभत्स) रस के विपरीत शृङ्गाररस का व्यञ्जक दूसरा अर्थ होने से अमतपरार्थता दोष है।

अथार्थदोषा —

अपुष्टो वितने व्योम्नि विलोकयेन्दु त्यज क्रुधम्।

मुख्यार्थानुपकारित्वमपुष्टत्वम् तस्य क्वचिदत्यन्तानुपयोगित्व अन्यथा लब्धस्य चेति भेद । यथा विततशब्दस्य मानपरित्याजनानुपयोगित्वम्।

कष्ट दुरुहतार्थस्य दूरे वा प्रस्तुतश्रुति ।
यस्याम्बु[1] वारिदो वर्षत्यादायेति मुनेर्वच ।
तत्करेषु मृगी वेत्ति न तोय यमुनापितु ॥117॥

अत्र यस्य यमुनापितुर्भानोर्जलमादाय वारिदो वर्षति ततश्च मुनि-[37अ] वाक्य सत्यमिति विश्वा Λ साद्भानुकरेषु तोयप्रत्ययो न्याय्य-स्तथापि रविकिरणेषु भ्रान्तत्वान्मृगी जल न वेत्तीति सक्षेपार्थ ।

व्याहृत न मनोहारिनवेन्दुकलिकोत्सव ।
येषामेषा दश याति लोकलोचनचन्द्रिका ॥

अनुत्कर्षेण व्यनत उत्कर्ष आरोप्यमाने व्याहृतम् । येषामिन्दुकलोत्सवो नानन्दहेतुस्तदानन्दाय चन्द्रिकात्वारोप ।

अर्थदोष—

अब अर्थदोषो को कहते है—

(1) अपुष्टार्थ का उदाहरण जैसे—विस्तृत आकाश मे चन्द्रमा को देखकर क्रोध त्याग दो ।

(जब कोई पदार्थ) मुख्य अर्थ का उपकारी न हो तो अपुष्टार्थ दोष होता है । वह पदार्थ उस मुख्य अर्थ का कही पर अत्यन्त अनुपयोगी होता है और कही पर "अन्यथा प्राप्त" हो जाता है, इस प्रकार इनका भेद हो जाता है । जैसे उक्त उदाहरण मे "वितत" शब्द क्रोध-त्याग मे उपकारी नही है अत अपुष्टार्थ दोष है ।

(2) कष्टत्व अर्थदोष वहाँ कहा जाता है जहाँ अर्थ दुर्बोध हो अथवा प्रस्तुत भूत अर्थ की व्यञ्जना दूर की बात है । जैसे—

जिस सूर्य से जल ग्रहण करके बादल वर्षा करता है, यह वचन व्यास मुनि के हैं । परन्तु फिर भी यमुना के पिता उस सूर्य की किरणों मे हरिणी जल नहीं पाती ॥117॥

जिस यमुना के पिता सूर्य से जल लेकर बादल वर्षा करता है और यह मुनि का वाक्य सत्य है, इस विश्वास से सूर्य का किरणों मे जल रहता है यह निश्चित होता है, परन्तु फिर भी भ्रान्त रहने के कारण मृगी सूर्य की किरणों मे जल नहीं पाती । यह सक्षेप मे अर्थ है (यहाँ यह अप्रस्तुत अर्थ भी दुर्बोध है, फिर

1 ० म्बु

उससे मुग्धा नायिका के नायक पर अविश्वास रूप प्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना दूर की बात है, अत यहाँ कष्टार्थ दोष है)।

(3) व्याहतार्थ दोष जैसे—

चन्द्रमा की नवीन कला का आनन्द जिसके मन को नही हरता, यह ससार के नेत्रो की चाँदनी उनको दिखायी पडी।

किसी वस्तु का अनुत्कर्ष बताकर उसकी व्यर्थता वर्णित की जाये और पुन दूसरी वस्तु का उत्कर्ष बताने के लिये उस वस्तु का आरोप किया जाये वहाँ व्याहतार्थ दोष होता है। जैसे यहाँ उदाहरण मे जिन लोगो को चन्द्रमा की नवीन कला आनन्द नही देती उन्ही को आनन्दित करने के लिये (प्रकृत कामिनी) मे चन्द्रिकात्व का आरोप किया गया है अन व्याहतत्व दोष है।

पुनरुक्त सखे कार्यं विचार्यायैर्मनीषितम्।
विमृश्यकारिणा लोके भवन्त्यभिमता श्रिय ॥

अत्र द्वितीयार्थं व्यतिरेकेन स एवार्थ इति पुनरुक्तता।

तुरङ्गम वा मातङ्ग देहि दुष्क्रममिष्यते।

अत्र मातङ्गस्य प्राङ्निर्देशो युक्त ।

ग्राम्य स्वपिहि मत्पार्श्वे स्वपिम्यंपा तवाप्यहम्।

अत्रार्थो ग्राम्य ।

सन्दिग्ध सुन्दरी सेव्या दरी वेति विचार्य्यताम्।

अत्र प्रकरणाभावाच्छृङ्गारशान्तयो को वक्तेति नियमाभावात्सदेह ।

कामस्य चक्र बटक करे लोकप्रयानिगम्।

लोकप्रयातिग लोकप्रसिद्धिविरुद्धम्। कामस्य चक्र लोकेऽप्रसिद्धमिति विरोध ।

विद्याविरुद्ध मुक्तोऽसौ विवेकख्यातिसश्रयात्।

अत्र सप्रज्ञातानन्तर मुक्तिर्न तु विवेकख्याताविति योगविद्या विरोध । इत्थमन्यत्।

निर्हेतु सपरित्यक्त त्वयास्त्र सत्यजाम्यहम् ।

[37व] अत्र शस्त्रत्यागे ∧ हेतुर्नोक्त ।

नित्यमुष्ण सहस्रांशुर्नित्यमुष्ण द्विपन्मन ।
नित्य प्रमुदिता सन्त इत्यादावनवीकृतम् ।।

अत्र नित्यमिति न नवीकृतम्

(4) पुनरुक्त दोष का उदाहरण—

हे मसे[1] आर्यजनो को विचार करके इच्छित कार्य करना चाहिये। ससार मे सोचकर कार्य करने वाले लोगो को ही अभीष्ट समृद्धियाँ मिलती हैं।

यहाँ उत्तरार्द्ध मे कहा गया अर्थ पूर्वार्द्ध का व्यतिरेक से कहा गया ही अर्थ है, अत पुनरुक्त दोष है।

(5) दुष्क्रमत्व दोष जैसे—

मुझे घोडा अथवा हाथी दो।

यहाँ हाथी का निर्देश पहले करना चाहिये (क्योकि जो घोडा नही दे सकता वह हाथी कैसे दे सकेगा। अत वस्तुओ का क्रम बिगडने से दुष्क्रमत्व दोष होता है)।

(6) ग्राम्यत्व अर्थदोष—

मेरे पार्श्व मे सो जाओ, यह मैं भी तुम्हारे पार्श्व मे सोती हूँ।

(7) सन्दिग्धत्व अर्थदोष—

सुन्दरी अथवा पर्वतकन्दरा मे से कौन सेवनीय है, इस पर विचार करिये।

यहाँ प्रकरण का अभाव होने से यह निर्णय करना कठिन है कि क्या शृगार है या शान्त, अत अर्थ मे सन्दिग्धत्व दोष है।

(8) लोकप्रसिद्धिविरुद्धता अर्थदोष जैसे—

हाथ (मे पहना हुआ) कङ्कन वामदेव का वज्र है।

1 सहृध्याणु०

लोक-प्रथा का अतिगामी होने का अर्थ है—लोक में प्रसिद्ध नहीं होना। लोकप्रसिद्धिसम्मत नहीं होने पर प्रसिद्धिविरुद्धता अर्थदोष होता है। जैसे यहाँ उदाहरण में वर्णित काम का चक्र लोक में प्रसिद्ध नहीं है, अत प्रसिद्धिविरुद्धता दोष है।

(9) विद्याविरुद्धता दोष—

यह (योगी) विवेकख्याति को प्राप्त करने से मुक्त हो गया।

यहाँ (योगशास्त्र के क्रम में) सम्प्रज्ञात समाधि के बाद मुक्ति होती है, विवेकख्याति (प्रकृति-पुरुष के भेद का ज्ञानरूप) होने पर मुक्ति नहीं होती, अत यह योगशास्त्र के विपरीत होने से विद्याविरुद्ध है।

इसी प्रकार अन्य शास्त्रों के विरुद्ध होने पर विद्या-विरुद्ध दोष होता है।

(10) निर्हेतु अर्थदोष का उदाहरण है—

तुमने अस्त्र छोड़ दिया, मैं (भी) छोड़ता हूँ।

यहाँ अस्त्रत्याग का कारण नहीं बताया गया (अत निर्हेतुक अर्थ-दोष है)।

(11) अनवीकृत दोष—

सहस्र किरणों वाला सूर्य नित्य उष्ण होता है। शत्रु का मन नित्य उष्ण रहता है। सज्जन नित्य प्रसन्न रहते हैं।

यहाँ "नित्य पद का प्रयोग बार बार किया गया है, अत इसमें नवीनता नहीं रहने से अनवीकृत दोष हो गया है।

दृगम्बुज[1] भङ्ग एव तारतानियमान्वितम्।

स नियमम्[2]। भङ्ग एवेति नियमो न वाच्य।

आरम्भरुचिरे भागे रमेनाऽनियम मतम्।

आरम्भ एव नियमो वाच्य।

मात्रा धनुषो भङ्ग स्त्रीरत्न मृगना कथम्।

अत्र स्त्रीरत्नमित्युपेक्षितुमित्याकाङ्क्षति।

---

1 ० म्बुज

2 दोष (मु पा टि)

नीलाशुका याति रात्रौ विशेषपरिवर्त्तितम् ।

अत्र तमिस्रायां[1] यातीति विशेषो वाच्य ।

अविशेषो यथा सिन्धोर्म्मौक्तिकाकरता मता ।

अत्र रत्नाकरतेत्यविशेषो वाच्य ।

पदमुक्तमय योग्यो वर सन्त्वन्यतो गुणा ।

अत्र वर इत्यन्त एव समाप्यम् ।

विलश्यन्ते साधवो व्योम्नि शशाङ्को मलिनद्युति ।
खल सम्पूज्यते सेय सहचारिविभिन्नता ।।

अत्र शशाङ्कसाधू शोभनौ खलस्त्वशोभन ।

प्रकाशितविरुद्धत्व पुत्रस्ते राज्यमृच्छतु ।

अत्र "त्व म्रियस्वे" ति विरुद्धार्थप्रकाश ।

(12) अनियमपरिवृत्त अर्थदोष (जहाँ नियम नही करना चाहिये, वहाँ नियम या अवधारणा का प्रयोग) जैसे—नेत्र-कमल है, तारका (आँख की पुतली) भ्रमर ही है।

यहाँ "भृङ्ग एवेति", "तारका भ्रमर ही है", यह नियम नहीं करना चाहिए (यह कह देन से "अनियम परिवृत्त" दोष हो गया है)।

(13) सनियमपरिवृत्त अर्थदोष—जिसका प्रारम्भ रुचिर (मधुर, स्वादिष्ट) हो, ऐसे भोग मे रमण करना चाहिये।

यहाँ "प्रारम्भ एव" यह नियम करना चाहिये ("एव" शब्द का प्रयोग न करने से "सनियमपरिवृत्त" रूप अर्थदोष आ गया है)।

(14) साकाङ्क्षता अर्थदोष—धनुष का टूटना और स्त्रीरत्न (की उपेक्षा करना) आप कैसे सहन कर सकते है।

---

3 ०स्रायां

यहाँ "स्त्रीरत्न" के आगे "उपेक्षितु" पद की आकांक्षा होने से साकांक्षता अर्थदोष है।

(15) विशेषपरिवृत्त अर्थदोष जैसे—रात्रि में नीलांशुका (कृष्णाभिसारिका) जा रही है।

(जिस स्थल पर विशेषवाचक शब्द का प्रयोग करना चाहिये वहाँ सामान्यवाचक शब्द का प्रयोग कर दिया जाये तो विशेषपरिवृत्त दोष होता है। उक्त उदाहरण में कृष्णाभिसारिका का वर्णन है और सामान्यवाचक "रात्रि" शब्द का प्रयोग किया गया है परन्तु) यहा "तमिस्रा" इस प्रकार रात्रि-विशेष का कथन करना चाहिये।

(16) अविशेषपरिवृत्त अर्थदोष (जहाँ सामान्यवाचक पद का प्रयोग करना चाहिये, वहाँ विशेषवाचक पद का प्रयोग किया जाये) जैसे—सिन्धु (समुद्र) को मोती की खान माना गया है।

यहाँ "मौक्तिकाकरता" इस विशेष पद के स्थान पर "रत्नाकरता" यह सामान्य शब्द कहा जाना चाहिये। इस प्रकार के प्रयोग से अविशेषपरिवृत्त अर्थ-दोष आ गया है।

(17) अपदयुक्तता (अनुचित स्थान में अनावश्यक पदों का प्रयोग) का उदाहरण जैसे—यह वर योग्य है (भले ही) गुण दूसरे प्रकार से रहे।

यहाँ "वर" के पश्चात् ही समाप्त कर देना चाहिये।

(18) सहचरभिन्नता अर्थदोष जैसे—साधु क्लेश पाते हैं, आकाश में चन्द्रमा की द्युति मलिन है, दुष्ट पुरुष की पूजा की जाती है।

यहाँ "शशाङ्क" और "साधु" पद शोभन हैं और इनके साथ "खल" शब्द अशोभन है।

(19) प्रकाशितविरुद्धता अर्थदोष का उदाहरण—आपका पुत्र राज्य प्राप्त करे।

यहाँ "तुम मर जाओ" यह विरुद्ध अर्थ प्रकाशित हो रहा है। (क्योंकि राजा के जीते जी पुत्र को राज्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः प्रकाशितविरुद्धत्व दोष है।)

अनुवाद्यविधेय चाऽयुक्तमेव क्वचिद्यथा।

तत्राद्यमुदाहरति—

न मा खेदय शीतांशो विरहिप्राणनाशन ।

अत्र विरहिप्राणनाशन इति नानुवाद्यम् ।

[38अ] द्वितीयो यथा—

स्वीयानानन्दयन्नेष परकीयान् हनिष्यति ।

अत्र परकीयान् हत्वा स्वीयानन्दयिष्यतीति विधेयम् ।

स्तब्धोऽयं विवरान्वेषी पतत्यश्लीलमीदृशम् ।

अत्र पुंव्यञ्जनस्यापि प्रतीति ।

व्यक्तास्वीकृतमित्युक्तमर्थस्य पुनरुक्तिता ।

यथा—

लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह यथैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥118॥

अत्र विदितं तेऽस्तु इत्युपसंहृतोऽपि तेनेत्यादिना पुनरुपात्तः । लक्ष्मी-स्ततोऽपसरतीति विरुद्धमतिकृत् । अक्रमश्च प्रकाशितविरुद्धता चेत्येवम-न्येऽपि दोषाः सन्तीति दोषाकरस्य पद्यस्य गुणागुणदृष्टीनां कौमुदीप्रमोदा-येत्यलम् ।

(20) अनुवादायुक्तता (21) विधेयायुक्तता—जहाँ पर अनुवाद की अयुक्तता तथा विधेय की अयुक्तता होने पर दोष होता है ।

इनमें से प्रथम अनुवादायुक्तता का उदाहरण जैसे—

हे विरहीजनों के प्राणों का नाश करने वाले शीतांशु (चन्द्रमा) ! मुझे दुःख न दो ।

यहाँ 'विरहिप्राणनाशन" यह पद अनुवाद के योग्य नहीं है । (क्योंकि यह विरही की उक्ति है और चन्द्रमा से दुःख न देने की प्रार्थना है, परन्तु बाद में विशेषण विरहिप्राणनाशन' दिया है ।)

द्वितीय विधेयायुक्तता दोष का उदाहरण है—

स्वपक्ष को आनन्दित करता हुआ यह परपक्ष का नाश करेगा ।

यहा परपक्ष का हनन किये बिना स्वपक्ष को आनन्दित करना सम्भव नही, अत "परकीयान् हत्वा स्वीयानन्दयिष्यति" इस प्रकार विधेय करना चाहिए।

(22) अश्लीलता अर्थदोष—उद्धत अभिमानी (खडे हुए) और छिद्रान्वेषी (व्यक्ति या लिंग) का पतन होता है।

यहाँ पुरुष के लिंग की प्रतीति होती है (अत व्रीडाजनक अश्लीलता का उदाहरण है)।

(23) त्यक्तपुन स्वीकृतत्व या समाप्तपुनरुक्तत्व अर्थदोष वहाँ होता है, जब उपसहार हो जाने के पश्चात् उसे पुन उठा लिया जाये। जैसे—

(राजा की स्तुति करते हुए कवि का कथन है कि मानो लक्ष्मी राजा की कीर्त्ति को अपनी दूती बनाकर अपने पिता समुद्र के पास यह सन्देश भेज रही है–) जो तलवार राग (अनुराग या रुधिर के रग) से युक्त होकर शत्रुओं के गले मे लग जाती है, जिसको अन्य लोगो ने मातङ्गो (हाथियो या चाण्डालो) के भी ऊपर गिरते हुए देखा है, उसी तलवार मे आसक्त होकर यह राजा मेरी कुछ परवाह नही करता और उसने मुझे सेवको को दे दिया है, यह आपको मालूम रहे। लक्ष्मी की आज्ञा से मानो यह सन्देश सुनाने के लिये उस राजा की कीर्त्ति (लक्ष्मी के पिता) समुद्र के पास गयी है ॥118॥

यहाँ 'विदित तेऽस्तु" यहाँ वाक्य पूरा हो गया है, उसे "तेन" इत्यादि से पुन उठाया गया है अत समाप्तपुनरात्तत्व अर्थदोष हो गया है। लक्ष्मी उसको छोड रही है, इस विरुद्ध बुद्धि की प्रतीति होने से विरुद्धमतिकृद् दोष भी यहाँ है। अक्रमता, प्रकाशितविरुद्धता आदि ऐसे अन्य दोष यहाँ हैं, अत दोष की खान इस पद्य को गुण और दोष की दृष्टि रखने वालो के समक्ष "कौमुदी प्रमोद" (मनोविनोद) हेतु प्रस्तुत किया गया है। अर्थदोषों का यह प्रसग यही समाप्त किया जाता है।

अथ रसदोषा —

रसस्य शब्दवाच्यत्व कष्टाद् व्यक्तिविभावजा
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्ति पुन पुन
अकाण्डेप्रथनोच्छेदावङ्गस्याप्यतिविस्तृति
अङ्गिनोऽननुसधान प्रकृतीनां विपर्यय
अनङ्गस्याभिधान च रसदोषा प्रकीर्त्तिता ॥सू 90॥

रसविभावावुपलक्षणौ तेन व्यभिचारिस्थायिभावादयो गृह्यन्ते।

यथा—

[38ब] कोऽपि तस्या रसो जज्ञे यत्र व्रीडादिविभ्रम ।

अत्र रसव्रीडादीना शब्दवाच्यत्वम् ।

शृङ्गार सुखदो बाला[1] रतिकल्पलताफलम् ।

अत्र रसस्थायिभावयो शब्दवाच्यत्वम् ।

यथा वा—

शृङ्गारी गिरिजानने सकरुणो रत्या प्रवीर स्मरे ।

इति रसाकारान्त[2]करणवृत्ते शब्दज्ञानतिरस्कृतिर्दोषबीजम् ।

विकाशिनि विधौ बाला[3] वीक्षिताक्षिप्तलोचना ।

अत्र शृङ्गारोद्दीपनालम्बनविभावावनुभावपर्यवसायिनौ स्थिताविति कष्टकल्पना ।

मा विधेहि प्रिये[5] मानमिद यौवनमस्थिरम् ।

अत्र यौवनाऽस्थैर्यकथन शान्तस्याङ्गमिति शृ गारे प्रतिकूलम् ।

रस दोष—

अब रसदोष का निरूपण करते हैं—

(1) रस की [(2) व्यभिचारिभावो की अथवा (3) स्थायिभावो की] स्वशब्द वाच्यता, [(4) अनुभाव और] (5) विभाव की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति, (6) प्रतिकूल विभाव आदि का ग्रहण करना, (7) रस को बार-बार दीप्त करना, (8) रस का अनुचित स्थान मे विस्तार कर देना या (9) विच्छेद कर देना, (10) अगभूत रस को अतिविस्तृत करना, (11) अगी(प्रधान) को भुला देना, (12) प्रकृतियो (पात्रो) का विपर्यय करना और (13) जो अग नही है उसका कथन करना, ये तेरह रस-दोष कहे गये है ।।सू 90।।

---

1 वाला
2 ०न्तरव०
3 वाला
4 ०म्बन०
5 हे (मू पा टि)

रस और विभाव शब्द उपलक्षण हैं उनसे व्यभिचारिभाव, स्थायिभाव आदि का भी ग्रहण होता है।

(1–2)–(रस और व्यभिचारिभावो की स्वशब्द से वाच्यता का उदाहरण) जैसे—

उसके किसी रस का बोध हुआ जिसमे व्रीडा आदि का विभ्रम था।

यहाँ रस और व्रीडा आदि व्यभिचारिभावो का अपने वाचक शब्दो द्वारा कथन होने से स्वशब्दवाच्यता दोष है।

(3) शृङ्गार सुखदायक है और बाला रतिरूपी कल्पलता का फल है।

यहाँ रस और स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता होने से रसदोष है।

(4–5) अथवा जैसे—

गिरिजा के मुख पर शृङ्गारी, रति पर सकरुण और कामदेव पर प्रकृष्ट वीर हैं।

इस वाक्य मे अन्त करण की रसाकार चित्तवृत्ति का शब्दज्ञान द्वारा तिरस्कार ही दोष का बीज है।

चन्द्रमा के विकसित होने पर बालिका ने देखने के लिए नेत्रो को आक्षिप्त किया (नजर उठायी)।

यहा शृङ्गाररस का उद्दीपन विभाव और आलम्बन विभाव "अनुभावपर्यवसायी" होकर स्थित हैं अर्थात् अनुभाव की कठिनता से कल्पना कराते हैं।

(6) हे प्रिय ! मान मत करो, यह यौवन स्थिर नही रहता।

यहाँ यौवन की अस्थिरता का कथन शान्त रस का अग है, अत शृगाररस के प्रतिकूल भावो का ग्रहण होने से दोष है।

पुन पुन समुद्देशो दीप्तिर्वाक्येषु कल्पिता ।।सू 91।।

वाक्येष्विति प्रकरण सन्दर्भपरिहार काव्यत्वेनाभिमतस्य शब्दस्यैव निर्दोषत्वे लक्षणस्वरसात् ध्वनेस्तु भिन्नो विषय इति न शङ्कास्पदम्। नापि सन्दर्भस्य रसोपस्थापकत्वनियम तादृशवाक्येनापि तदुद्बोधात्। एतेन कुमारसम्भवे रतिप्रलापे दोषोदाहरण परास्तम्, तदेवमुदाहार्यम्—

रमयति परिचुम्बिता नितान्त
सुखयति सा परिरम्भिता भुजाभ्याम्।
मदयति मदन परिस्फुरन्ती
सुतनुरियं सुरतेषु रत्नमौनि ।।119।।

अकाण्डे प्रथनं यथा—

[39अ] गच्छाम्युद्दण्ड चापच्युतविशिखशिखोन्मूलितारातिमुण्डै
क्रीडाहेतोस्तथाय रसति रणभुवि न्यस्तढक्कानिनाद ।
इत्थं जल्पत्यनल्पं प्रणयिनि सुदती कण्ठमालिङ्ग्य कान्तं
तैस्तैरानन्दलीलासमुचितरचनैश्चित्तमन्य चकार ।।120।।

न चैव सहारकाले दुर्योधनस्य भानुमत्या सह शृङ्गारकथने सर्वो-ऽप्यङ्कः कलङ्कयितुमुचितः ।

(7) बार-बार निर्देश किया जाना दीप्ति है जो वाक्यों में कल्पित की जाती है ।। सू 91 ।।

"वाक्येषु" का अभिप्राय प्रकरण है, इसके कथन से सन्दर्भ का निराकरण होता है । काव्यत्व के रूप में अभिमत शब्द की ही निर्दोषता में लक्षण की स्व-रसता (अनुकूलता) के कारण ध्वनि का कोई भिन्न विषय है—ऐसी शका का यहाँ स्थान नहीं है । न ही सन्दर्भ का ही रस की उपस्थापकता का नियम होता है (क्योंकि) उस प्रकार के वाक्य के द्वारा भी उस (रस) का उद्‌बोध किया जा सकता है । अतएव "कुमारसम्भव" का रतिप्रलाप दीप्ति के उदाहरण के रूप में अस्वीकृत हो जाता है । इसलिये यह उदाहरण देना चाहिये—

वह चुम्बन किये जाने पर अत्यधिक प्रसन्न होती है, भुजाओं से आलिंगन करने पर सुख देती है, काम को जगाती हुई धड़कने मदविह्वल करती है, इस प्रकार यह कृशागी सुरत में विशेष रमण करती है ।। 119 ।।

(8) रस के अनवसर में प्रतिपादन का उदाहरण जैसे—

ऊपर उठे हुए धनुष से छूट हुए बाण के अग्रभाग से काटे गये शत्रुओं के मस्तकों से क्रीडा के लिये जाता हूँ । वैसे ही युद्धभूमि में रखे हुए बड़े ढोल का निनाद गूँज रहा है । इस प्रकार में बहुत सी बातें बोलते हुए पति का सुंदर दातों वाली पत्नी ने कण्ठ में आलिंगन करके उन-उन आनन्ददायक क्रीडाओं के समुचित प्रयोग में चित्त को अन्य प्रकार का कर दिया ।। 120 ।।

इसी प्रकार ("वेणीसंहार" नाटक[1] के द्वितीय अंक में भीष्म आदि अनेक वीरों के) सहार के समय भानुमती के साथ दुर्योधन के शृंगाररस का वर्णन किया गया है । इसमें सम्पूर्ण अंक को ही दोषयुक्त बताना उचित नहीं है ।

छेदो यथा वीरचरिते द्वितीयेऽङ्के भार्गवराघवयोर्धाराधिरूढेऽन्यो-

1. नाटक (मू पा टि)

न्यसरम्भे कङ्कणमोचनाय गच्छामीति राघवस्योक्ति ।

अङ्गस्य विसृतिर्यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य।

अङ्गिनो ऽननुसन्धान यथा रत्नावल्या चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यगमने सागरिकाया विस्मृति ।

प्रकृतयो दिव्याऽदिव्या दिव्यादिव्याश्च, धीरोदात्ताद्या, उत्तमाद्याश्च। तेनातादृशवर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोष। यथा धीरोदात्तस्य रामस्य धीरोद्धतच्छद्मना वालिवध । यथा वा कुमारे परमेश्वरयो सम्भोगवर्णन पित्रोरिवात्यन्तमनुचितम् ।

अनङ्गस्याऽनुपकारकस्य वर्णन यथा कर्पूरमञ्जर्या राज्ञा नायिकया च स्वय कृत वसन्तवर्णनमनादृत्य [1]बन्दिवर्णितप्रशसा'।

इत्युक्ता रसदोषा ।

(9) अनुचित स्थान मे रसभग कर देना (भी दोष है।) जैसे—

"महावीरचरितनाटक" के द्वितीय अक मे परशुराम और राम के परस्पर प्रारम्भ हुए सवाद के चरमोत्कर्ष पर पहुँचने पर "कङ्कण खोलने के लिये जा रहा है," यह रामचन्द्र का कथन (रसानुभूति मे बाधक होने से रसदोष है)।

(10) अङ्ग (अप्रधान) रस का विस्तार किये जाने पर दोष का उदाहरण जैसे (कश्मीरी भर्तृमेण्ठकवि विरचित नाटक) "हयग्रीववध" मे (प्रतिनायक) हयग्रीव का वर्णन।

(11) अङ्गी (प्रधान नायक या नायिका) का विस्मरण होने पर भी रसदोष होता है जैसे "रत्नावली" नाटिका के चतुर्थाङ्क मे बाभ्रव्य (नामक कञ्चुकी) के आने पर (उदयन को मुख्य नायिका) सागरिका की विस्मृति हो जाती है (अत शृङ्गार-रस मे विच्छेद-सा आ जाने पर दोष हो जाता है)।

(12) प्रकृतियाँ तीन प्रकार की होती हैं–दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य। फिर ये नायक धीरोदात्त आदि (धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरशान्त भेद से चार प्रकार के होते है) और उत्तम आदि(उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन भेद) होते हैं। इनमे से जो जैसी प्रकृति का है उसके स्वरूप के अनुरूप ही वर्णन होना चाहिये, ऐसा वर्णन न होने पर प्रकृतिविपर्यय दोष होता है।

---

1 व०

2 ०प्रसग०

जैसे धीरोदात्त नायक राम का धीरोद्धत की भाँति छद्म से बाली का वध करना अथवा "कुमारसम्भव" में शिव और पार्वती के सम्भोग का वर्णन माता-पिता के (सम्भोग-वर्णन के) समान अत्यन्त अनुचित है।

(13) अनङ्ग अर्थात् प्रकृत रस के अनुपकारक का वर्णन, जैसे—"कर्पूरमंजरी" नाटिका में राजा के द्वारा स्वयं किये हुए और नायिका के किए हुए वसन्तवर्णन की उपेक्षा करके बन्दियों द्वारा किये गये वसन्तवर्णन की (राजा के द्वारा) प्रशंसा की जाती है।

इस प्रकार रसदोष कहे गये हैं।

[39a] [1]सर्वेषामप्यदोषत्वं कस्याप्यनुकृतौ भवेत् ॥ सू 92 ॥

अनुकरणे तु सर्वेषामित्युक्तत्वात्—

मृगचक्षुषमद्राक्षमित्यादि कथयत्ययम्[2]।

वक्त्राद्यौचित्यमात्रे तु गुणत्वं नोभयं क्वचित् ॥ सू 93 ॥

वैयाकरणे वक्तरि रौद्रादौ व्यङ्ग्ये च दुःश्रवत्वं कष्टत्वं गुणः। यथा-[3]श्रोत्राहन्तीवर्णगुर्व्यं।

यथा वा—

> प्रदह्यनाग्निज्वालाभिर्येदाखण्डलखाण्डवम्[4]।
> अकाण्डोद्दण्डपाण्डित्यमेनत्पाण्डवनाण्डवम्[5] ॥ 121 ॥

अत्रौद्धत वाच्यम्।

> [6]कामिनीगण्डपाण्डुर्मा क्षिणोति क्षणदासु यद्।
> प्राप्तामस्ताचलोदस्त[7]मस्तकश्चन्द्रमाश्चिरम् ॥ 122 ॥

---

1 अथ दोषाङ्कुशमाह (मू पा टि)
2 अनानुकरणे श्रुतिकटुदोषा न (मू पा टि)
3 श्रोत्राहन्ती वर्णगुर्व्यमेहर्षिमिरर्हदिवम्।
तोष्टूयमानाऽप्यगुणो विमुक्तियनेतराम् ॥
4 वन (मू पा टि)
5 अनुनेस्य लास्य (मू पा टि)
6 कामिनी गण्डवत्पाण्डुश्चन्द्रा मा रात्रिषु पीडयति तत्कालमस्ताचलेति।
(मू पा टि)
7 मान (मू पा टि)

अत्र विप्रलम्भे कुपितो वक्ता ।

दोषो की अनित्यता—

अब दोषो की अनित्यता (दोषाङ्कुशों) को कहते है—

(1) यदि किसी का अनुकरण किया जाय तो कोई दोष दोष नही रहता ॥ सू 92 ॥

अनुकरण किये जाने पर सब दोषो की अदोषता जैसे—

वह (व्यक्ति) "मैंने मृगनयनी को देखा" इत्यादि कहता है ।

यहां (शृङ्गाररस के वर्णन मे "अद्राक्षम्" श्रुतिकटु वर्णों का प्रयोग किया *गया है अत दोष होना चाहिये । परन्तु यहां वक्ता दूसरे के द्वारा प्रयुक्त शब्दो* का अनुकरण करके निर्देश कर रहा है अत) अनुकरण मे श्रुतिकटुदोष नही माना जायेगा ।

(2) वक्ता आदि का औचित्य होने पर (कही दोष भी) गुण हो जाता है और कही (गुण और दोष) दोनो ही नही होता ॥ सू 93 ॥

1 वैयाकरण के वक्ता होने पर और रौद्र आदि रस व्यङ्ग्य होने पर श्रुतिकटु और कष्टत्व दोष गुण हो जाते हैं, जैसे "श्रोत्राहंन्तीचर्णैर्गुण्यं" । (सम्पूर्ण श्लोक का अर्थ है—वेद के अध्येता और वेदविहित कर्म के योग्य रूप मे प्रसिद्ध गुणो से सम्पन्न महर्षियो के द्वारा प्रतिदिन अत्यधिक स्तूयमान निगु ण भी विभु = सर्वव्यापक परमेश्वर सर्वोत्कर्षरूप में स्थित है ।)

(यहां कठोर वर्णों का प्रयोग होने से दु श्रवत्व दोष माना जा सकता है, परन्तु वैयाकरण वक्ता होने से दोष भी गुण ही हो जाता है ।)

अथवा जैसे—

इन्द्र का खाण्डववन अग्नि की ज्वलाओ से जल गया, यह अर्जु न की आकस्मिक उद्दण्डतापूर्ण दक्षता से युक्त क्रीडा थी ॥ 121 ॥

यहां उद्धत वाच्य है (अत दु श्रवत्व यहां गुण है, दोष नहीं) ।

कामिनियो के कपोलो के समान श्वेत चन्द्रमा मुझे रात्रि मे पीडित करता है, अत (मेरी कामना है कि) चिरकाल तक अस्ताचल से उसका मस्तक भग्न होता रहे ॥ 122 ॥

यहां विप्रलम्भ (शृङ्गार कोमल रस है पर चन्द्रमा के ऊपर) कुपित वक्ता होने से श्रुतिकटुत्व गुण है ।

रौद्रबीभत्सादौ दुःश्रवत्वं गुणः । सुरतारम्भगोष्ठ्या[1]दावश्लीलत्वं तथा गुणः । यथा—

करिहस्तेन सम्बाधे[2] प्रविश्यान्तर्विलोडिते ।
उपसर्पन् ध्वजः पुंसः[3] साधनान्तर्विराजते ॥ 123 ॥

शान्ते यथा—

उत्तानोच्छूनमण्डूकपाटितोदरसन्निभे ।
क्लेदिनि स्त्रीव्रणे प्रीतिरकृमेः[4] कस्य जायते ॥ 124 ॥

[5]निर्वाणवैर[6]दहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन ।
[7]रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था[8] भवन्तु कुरराजसुताः[9] [10]सभृत्याः ॥ 125 ॥

अत्र भाव्यमङ्गलम् ।

[40अ] एवं "पृथुकार्तस्वरपात्रमि"[11]त्यादौ वाच्यमहिम्ना व्याजस्तुतिपर्यवसायित्वे सन्दिग्धो गुणः ।

विदूषकाद्युक्तौ ग्राम्यो गुणः ।
ख्यातेऽर्थे निर्हेतुताया अदोषः ।

---

1 ० ष्ठ्या ०
2 ० म्बाधे
3 पुंसा
4 कृमि विना (मू पा टि)
5 वेणीसंहारे युधिष्ठिरं प्रति सहदेववाक्यम् (मू पा टि)
6 ० वैरि ०
7 रक्तं रुधिरं रागश्च (मू पा टि)
8 पक्षे स्वः स्वर्गे स्थाः स्वर्गस्था इत्यर्थः (मू पा टि)
9 दुर्योधनादयः (मू पा टि)
10 सुत ०
11 पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥

2 जैसे रौद्र, वीभत्स आदि रसो मे दुःश्रवत्व (श्रुतिकटुत्व) गुण हो जाता है, उसी प्रकार सुरत के आरम्भकाल की बातो मे अश्लीलता गुण हो जाती है, जैसे—

हाथी की सूँड के द्वारा (अथवा करिहस्त–तर्जनी, मध्यमा और अनामिका तीनो अगुलियो को मिलाकर) शत्रुओ के साथ युद्ध मे (अथवा रति क्रीडा मे) भीतर प्रविष्ट होकर विलोडित करने पर पुरुष की ध्वजा (अथवा लिंग) उस (शत्रु) के समीप चलते हुए शत्रुसेना के (अथवा योनि के) बीच मे जाकर सुशोभित होती है ।। 123 ।।

(यहाँ कामशास्त्र की रहस्य वस्तु को सुरतारम्भगोष्ठी के समय व्यक्त किया गया है अत व्रीडाजनक अश्लीलता भी गुण हो गयी है।)

शान्त मे (वैराग्यविषयक चर्चा मे जुगुप्साव्यञ्जक अश्लीलता गुण हो जाती है) जैसे—)

ऊपर पेट करके पडे हुए और फूले हुए (अथवा किसी रोग से सूजे हुए) मेंढक के फाडे हुए पेट के समान, मवाद बहाते हुए (मदनजल से युक्त) स्त्री की योनि मे कीडो के अतिरिक्त और किसकी प्रीति हो सकती है ? ।। 124 ।।

3 (अमगल व्यञ्जक अश्लीलता के गुणत्व के उदाहरण रूप मे "वेणीसहार" नाटक के प्रथम अक मे सूत्रधार की उक्ति हैं। पादटिप्पणी मे इसे युधिष्ठिर के प्रति सहदेव का वाक्य कहा गया है, परन्तु नाटक मे यह सूत्रधार का कथन है—

शत्रुओ के नष्ट हो जाने से जिनकी वैराग्नि शान्त हो गयी है, ऐसे पाण्डव कृष्ण के साथ आनन्दित हो। अपने आसक्त मित्र आदि को भूमिदान देने वाले और आपसी विग्रह को नष्ट करने वाले दुर्योधन आदि कौरव भृत्यो के साथ स्वस्थ हो। (श्लोक के उत्तरार्द्ध का द्वितीय अर्थ है–अपने रक्त से पृथ्वी को रगने वाले और घायल शरीर वाले वे कौरवगण अपने भृत्यो-सहित स्वर्ग चले जायें) ।।125।।

यहाँ भावी अमगल की सूचक (अश्लीलता गुण हो गयी है)।

4 इसी प्रकार "पृथुकार्तस्वरपात्रम्" इत्यादि श्लोक मे वाच्य के प्रभाव से व्याजस्तुतिपर्यवसायी होकर सन्दिग्धत्व भी गुण हो जाता है।

5 विदूषक आदि (अधमप्रकृति के पात्रो) की उक्ति मे ग्राम्यत्व दोष भी गुण हो जाते हैं।

6 प्रसिद्ध अर्थ मे निर्हेतुता (हेतु न होना) दोष नहीं है।

कविसमयख्याते ख्यातविरुद्धता गुणः । यथा—

> मालिन्यं व्योम्नि पापं, यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्यो
> रक्तौ च क्रोधरागौ, सरिदुदधिगतं पङ्कजेन्दीवरादि ।
> तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसंघो
> ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः ॥ 126 ॥
>
> पादाघातादशोको विकसति बकुलं योषितामास्यमद्यै—
> र्यूनामङ्गेषु हाराः[1] स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः ।
> मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतो[2]—
> र्भिन्नं स्यादस्य बाणैर्युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत् ॥ 127 ॥
>
> अह्न्यम्भोजं, निशायां विकसति कुमुदं, चन्द्रिका शुक्लपक्षे,
> मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां नाप्यशोके फलं स्यात् ।
> न स्याज्जाती वसन्ते न च कुसुमफले[3] गन्धसारद्रुमाणा[4]—
> मित्याद्युन्नेयमन्यत् कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे ॥ 128 ॥

[5]निहतार्थोऽप्रयुक्तौ च न दुष्टौ कविवर्त्मनि । यथा—

> येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरा स्त्रीकृतो[6]
> यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत् ।
> यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
> [40ब] पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः[7] ॥ 129 ॥

अत्र शशिमदन्धकक्षयकरशब्दावप्रयुक्तनिहतार्थौ[8] ।

---

1. ० र
2. नामस्य (मू पा टि)
3. मूले भुजङ्गैः शिखरं विहङ्गैः शाखा प्लवङ्गैः कुसुमानि भृङ्गैरिति तु कविसमयविरुद्धम् (मू पा टि)
4. चन्दनानाम् (मू पा टि)
5. निहिता ०
6. ० कृता
7. माधव श्रीहरिः । उमाधवो रुद्रश्च (मू पा टि)
8. ० हितार्थौ

7 कवि-सम्प्रदाय मे प्रसिद्ध होने पर ख्यातविरुद्धता दोष भी गुण हो जाता है, जैसे—

आकाश और पाप (रूपरहित होने पर भी कविसम्प्रदाय मे) मलिन प्रसिद्ध है। यश, हास और कीर्त्ति मे श्वेतता वर्णित की जाती है। क्रोध और अनुराग को रक्तिम कहा जाता है। नदी और समुद्र मे लाल कमल, नील कमल आदि का वर्णन किया जाता है (जबकि बहुत पानी मे और समुद्र मे कमल सम्भव नही है)। सम्पूर्ण जलाशयो मे हंसादि पक्षियो का वर्णन होता है। चकोरो के द्वारा चन्द्रिका का पान किया जाता है, वर्षा ऋतु म हंस मानसरोवर जाते हैं, युवतियों के पादाघात से अशोक पुष्पित होता है, उनके मुख की मदिरा से बकुल (मौलसिरी) विकसित होता है। युवको के अगो म हार होते हैं और वियोग के सन्ताप से उनका हृदय फटता है। कामदेव के धनुष की प्रत्यञ्चा भ्रमर-पंक्ति होती है, उसके धनुष-बाण पुष्पो के होते है और उसके बाणो से तथा उसी के समान स्त्रियों के कटाक्षो से युवको के हृदय विद्ध होते हैं। दिन मे कमल और रात मे कुमुद खिलते हैं। शुक्लपक्ष मे चादनी होती है, मेघ-गर्जन पर मयूरो का नृत्य होता है। अशोक वृक्ष मे फल नही होता। वसन्त ऋतु मे चमेली नही होती और चन्दन के वृक्ष पर पुष्प और फल नही होते (इस वृक्ष की जड सर्पों से, शिखर पक्षियो से, शाखा बन्दरो से, पुष्प भ्रमरो से युक्त होते है) इत्यादि कवि-सम्प्रदाय की अन्य प्रसिद्धियाँ भी सत्कवियो के प्रबन्ध मे देख लेनी चाहिये।
॥ 126–8 ॥

8 कविमार्ग मे "निहतार्थत्व" तथा "अप्रयुक्तत्व" दोष नही होते, जैसे—

(विष्णुपक्ष मे श्लोकार्थ—) जिस (अभवेन अना ध्वस्त) अजन्मा विष्णु ने (बाल्यावस्था मे) शकटासुर को नष्ट किया। पहले (अमृतहरण के समय) राजा बलि को जीतने वाले, अपने शरीर को स्त्रीरूप (मोहिनीरूप) कर लिया। जो दुष्प्रवृत्ति वाले कालियनाग को मारने वाले हैं, जिसमे रव श्रुतिरूप वेद का लय होता है अथवा जिनका लय अकाररूप मे शब्द मे होता है। जिसने 'अग'—गोवर्धन पर्वत तथा "गा" वराहावतार के समय पृथ्वी को धारण किया। देवता जिनका "शशिमच्छिरोहर" (राहु का सिर काटने वाले) यह प्रशसनीय नाम बताते हैं। यादवो का नाश करने वाले और सब कामनाओ को देने वाले विष्णु तुम्हारी रक्षा करें।

(शिवपक्ष मे श्लोकार्थ–) कामदेव का नाश करने वाले जिन शिव ने (पुरा) त्रिपुरदाह के समय विष्णु के शरीर को (अस्त्रीकृत) बाण बनाया। जो भयानक

सर्पों को हार और कगन के रूप में पहनते हैं और जिन्होंने गङ्गा को धारण किया है, जिनका सिर चन्द्रमा को धारण करता है। देवता जिनको 'हर' यह प्रशसनीय नाम कहते हैं। अन्धकासुर का नाश करने वाले (उमा धव) उमापति शकर सदा तुम्हारी रक्षा करें ॥ 129 ॥

यहाँ (विष्णुपक्ष में) "शशिमद" तथा "अन्धकक्षय" शब्द अप्रयुक्त और निहतार्थक हैं।

"वद वद जित स शत्रुरि"त्यादौ हर्षभयशोकादियुक्ते वक्तरि अधिक न दोष ।

लाटानुप्रासे अर्थान्तरसक्रमितवाच्ये कथितपद गुण, विहितानुवाद्यत्वे च । इत्यमन्यत्रापि गुणत्व वक्तृप्रतीत्यादिना बोध्यम् ।

स्वशब्देनाप्युक्तौ क्वचिद्व्यभिचारिणामदुष्टता ॥ सू 94 ॥

यथा—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया ।
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्य पुन ॥[1]

अत्रौत्सुक्यस्य स्वरूपानुभावमुखेन प्रतिपादने न झटिति प्रतीति ।

सञ्चार्यादिविरुद्धस्य बाध्यत्वेन वचन गुणो ॥ सू 95 ॥

यथा—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मण [3] क्व च कुल भूयोऽपि दृश्येत सेति ।[4]

---

1 औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्य पुन ।
दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
सरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु व ॥–का प्र –331

2 का ०

3 चन्द्रस्य (मू पा टि)

4 क्वाकार्यं शशलक्ष्मण क्व च कुल भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणा प्रशमाय न श्रुतमहो कोपोऽपि कान्त मुखम् ।
कि वक्ष्यन्त्यपकल्मषा कृतधिय स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेत स्वास्थ्यमुपैहि क खलु युवा धन्योऽधर पास्यति ॥–का प्र –53

अत्र शमाङ्गाना वितर्कादीनामभिलापादिना तिरस्कार ।

भङ्गियङ्गत्वप्राप्तौ विरोधिनोऽपि स्मरणे न दोषो ।। सू 96 ।।

यथा—"अय स रसनोत्कर्षी"ति[1] इत्यमन्यत् ।

इति काव्यालोके चतुर्थ प्रकाश ।। 4 ।।

9 (अधिकपदत्व का गुण होना जैसे -) बतायो, बतायो वह शत्रु जीत गया (या नही) । इत्यादि उदाहरणो मे हर्ष, भय, शोक आदि से युक्त वक्ता होने से अधिकपदत्व दोष नही रहता ।

10 लाटानुप्रास, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा विहित का अनुवाद करने मे कथितपदत्व (पुनरुक्तत्व) गुण हो जाता है । इसी प्रकार अन्य स्थानो पर भी वक्ता के विचार आदि के अनुसार गुणत्व जानना चाहिये ।

(3) कही कही पर व्यभिचारी भावो का स्वशब्द से कथन होने पर भी दोष नहीं माना जाता ।। सू 94 ।।

जैसे (रत्नावली का मङ्गलाचरण का श्लोक)—

(प्रथम समागम के समय शिवजी से) मिलने की उत्सुकता के कारण (पार्वती) शीघ्रता करती हुई, फिर लज्जा के कारण लौटती हुई, पुन बन्धुओ की वधुओ के उस समय प्रयुक्त वचनो के साथ शिव के सम्मुख पहुँचाई गयी ।

यहाँ "औत्सुक्य" का अनुभाव त्वरा (भयादि का भी अनुभाव हो सकता है अत त्वरारूप) अनुभाव के द्वारा यदि प्रतिपादन किया जाये तो औत्सुक्य की प्रतीति जल्दी नही हो सकती (अत यहाँ औत्सुक्य और ह्री रूप व्यभिचारिभावो का स्वशब्द से कथन करना आवश्यक हा गया है) ।

(4) विरुद्ध रस के सञ्चारी आदि भावों का वाच्य रूप से कथन करना गुण होता है ।। सू 95 ।।

जैसे—

कहाँ यह अनुचित कार्य और कहाँ चन्द्रमा का वश (तक), क्या वह फिर कभी देखने को मिलेगी (औत्सुक्य) ?

यहाँ (शृङ्गार रस के विरोधी) शान्त रस के पोषक वितर्क आदि का

---

1 अय स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दन ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसन कर ।।—का प्र –338

अभिलाष के अंगभूत औत्सुक्य आदि से तिरस्कार होता है (अत वितर्क आदि दब जाते हैं और चिन्ता ही प्रधान रहती है, अत विप्रलम्भ शृङ्गार रस पुष्ट होता है)।

यदि दो विरोधी रस किसी तीसरे प्रधान (अङ्गी) रस में अङ्गता प्राप्त कर ले (तो दोष नहीं रहता) तथा विरोधी रस का स्मरण के रूप में कथन हो तो दोष नहीं माना जाता है ।।सू 96।।

जैसे—"अय स रसनोत्कर्षी" इत्यादि (श्लोक में स्मर्यमाण शृङ्गाररस प्रधान करुण रस का पोषक होने से दोष नहीं है)

इसी प्रकार अन्य दोषों का भी गुणत्व (अदोषत्व) माना जाता है।

"काव्यालोक" का चतुर्थ प्रकाश समाप्त हुआ ।। 4 ।।

□

पञ्चम प्रकाश

गुण-निरूपणम्

विशिष्टशब्दधर्माणा गुणानामथ निर्णय ॥सू 97॥

शब्दस्य विशिष्टत्व व्याख्यात प्राक्। शब्दार्थरसरचनागतत्वेन काव्यधर्मत्व गुणत्वम्।

अत्रेत्थ मूलग्रन्थाभिप्राय न काव्यधर्मो गुण अपितु रसस्य अन्वय-व्यतिरेकाभ्या[1] गुणाना रसधर्मत्वनिश्चयात्।

अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोनितरा सुधाम्।

[41अ] इत्यत्रालङ्कारमहिम्नैव *काव्य* A पदप्रयोगात्।

"भद्रावत्र प्रज्वलन्त्यग्निरुच्चैं" रित्यादौ सत्यपि गुणे तदप्रयोगात्।

तम्मादात्मन एव शौर्य्यादयो नाकारस्य तस्मिं[2]स्तूपचरिता। *तथाहि विततकृतित्वमात्रेणाऽशूरेऽपि शूरत्वव्यवहारस्याऽऽकृतिलघुत्वे शूरेऽप्यशूरत्वव्यवहारात् रसधर्मत्व गुणत्व समुचितवर्णव्यज्यत्व न पुन-र्वर्णमात्राश्रयत्व गुणानामिति*।

नव्यास्तु[3] निर्गुणस्यात्मनो गुणत्वानुपपत्तिवत् तादृशस्य रसस्यापि माधुर्यादिगुणानुपपत्ते। "*शृङ्गारो मधुर*" इत्यादिव्यवहारस्तु वाजिगन्धो-*ष्येतिवदस्तु। अथैव द्रुति*[4]*दीप्तिविकाशाख्यचित्तवृत्तिप्रयोजकतासम्बन्धो*

---

1 रसमत्वे गुणत्व रसाभावे गुणाभाव इत्यन्वयव्यतिरेकौ (मू पा टि)

2 आकारे (मू पा टि)

3 रसगङ्गाधरकारादय (मू पा टि)

4 द्रवत्व (मू पा टि)

द्रुत्यादिकमेव माधुर्यादिकमस्तु । प्रयोजकत्व वादृष्टादिविलक्षणशब्दार्थ-रसरचनागतमेवेत्याहु ।

गुण-निरूपण—

अब विशेष शब्द के धर्म गुणो का विवेचन किया जा रहा है।

॥ सू 97 ॥

शब्द की विशिष्टता की व्याख्या पहले की जा चुकी है। शब्द, अर्थ, रस और रचना मे रहने वाला काव्य का धर्म गुण है।

इस विषय के मूलग्रन्थ (काव्यप्रकाश) का अभिप्राय है कि गुण काव्य के धर्म नही है, अपितु रस के (धर्म) होते हैं। अन्वय और व्यतिरेक (रस होने पर गुण रहते हैं और रस का अभाव होने पर गुण का अभाव होता है), से निश्चय होता है कि गुण रस के ही धर्म हैं। (यदि गुणो को काव्य का धर्म माना जाये तो—)

इस (नारी) के अधरपान का रस अमृत का भी तिरस्कार करता है।

इत्यादि उदाहरण मे (गुणो के बिना व्यतिरेक) अलकार के प्रयोग मे ही काव्य पद का प्रयोग होता है। (अत गुणो को काव्य-व्यवहार का प्रयोजक नही माना जा सकता)।

"इस पवत पर बहुत तेज आग जल रही है" इत्यादि (रसविहीन काव्य) मे (ओज आदि) गुण होने पर भी काव्यपद का प्रयोग नही होता है (अत इन दो युक्तियो से स्पष्ट होता है कि गुण काव्य के धर्म नही है, अपितु रस के धर्म हैं)।

जिस प्रकार शौर्य आदि (धम) आत्मा के ही होते हैं, आकार (शरीर) के नहीं। परन्तु उस (शरीर) मे (शौर्य आदि गुणो की स्थिति) उपचार से मानी जाती है। क्योकि (कही-कही) अशूर (शरीर) मे भी केवल लम्बी-चौडी आकृति को देखकर यह "शूर है" इस प्रकार का व्यवहार किया जाता है (और कही पर) शूर मे भी शरीर के छोटे होने के कारण यह "शूर नही है" इस प्रकार का व्यवहार होने लगता है। अत यह निश्चित होता है कि (माधुर्य आदि) गुण रस के धर्म है, और माधुर्य आदि गुण योग्य वर्णो मे अभिव्यक्त होते हैं, केवल वर्णो के आश्रित रहने वाले नही हैं।

नवीन आलोचक रसगङ्गाधरकार आदि का मत है कि जिस प्रकार आत्मा निर्गुण होने से उसमे गुण नही रहता है, उसी प्रकार रस मे भी माधुर्य आदि

गुण नही रह सकते । 'शृङ्गार-रस मधुर होता है" इत्यादि व्यवहार "इसकी वाजिगन्ध" ("यह औषध अश्वगन्धा है" इस व्यवहार के समान है।) उसी प्रकार द्रुति, दीप्ति और विकास चित्तवृत्तियो के प्रयोजकतासम्बन्ध से माधुर्य आदि गुण कहलाते हैं (अर्थात् द्रुति आदि चित्तवृत्तियां जब रस आदि के साथ प्रयोजकता-सम्बन्ध रखती है, तब उन्हे माधुर्य आदि गुण कहते हैं और "शृङ्गार रस मधुर होता है" इत्यादि व्यवहार होता हैं) । और (रस मे रहने वाली द्रुत्यादि) प्रयोजकता अदृष्ट आदि से विलक्षण (अदृष्ट, काल, ईश्वरेच्छा आदि मे नही रहने वाली), शब्द, अर्थ, रस और रचना, इन सब मे रहने वाली है (अत माधुय आदि गुण शब्द, अर्थ, रस और रचना मे रहते है) । ऐसा ("रस-गङ्गाधर" मे) कहा गया है ।

सर्वेषा गुणाना रसधर्मत्वे मानाऽभावात् ओज प्रभृतीनामेव गुणत्वे रसधर्मत्वे च सगुण काव्यमिति व्यवहारानुपपत्ते । न ह्योज प्रभृतीना स्वतन्त्रत्व मुख्यस्य व्याघातात् । अपितु द्रुतिदीप्तिविकासाना[1] तत्तद्गुण-विशिष्टरसचर्वणाजन्यत्वमाश्रित्य गुणाना वृत्तिजन्यत्व तज्जनकत्व वा वक्तव्यम् । न तावज्जन्यत्व प्रयोजनाभावात् नापि तज्जनकत्व रसरूप-त्वेनानुत्पाद्यत्वात् । किन्तु समुचितवर्णव्यज्यत्वमेव तथात्वे सगुणाविति शब्दार्थयोर्विशेषण पायन्नतिचातुरीमारोहसि । किं च [41ब] "अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरा सुधामि" त्यादौ स[2] *A* र्वरस-साधारणस्य प्रसादस्येवान्यत्रापि यथायथ्य गुणदर्शनात् अलौकिकाह्लादस्य विशिष्टशब्दत्वे काव्यप्रयोगात्, "अद्रावत्रेत्यादा" वप्रयोगात् शब्दार्थो-पस्कारेणाह्लादस्य धर्मिणो धर्मा गुणा इत्यस्मत्तातचरणा ।

विशेषाधायकस्तेन गुण शौर्यादिवत्सन
आह्लादस्याविशिष्टस्य धर्म सर्वत्र धर्मिण ।।सू 98।।
रसे त्रेधापि कथित [3] प्राचीनैर्दशधा स्फुटम् ।। सू 99।।

सर्वत्र काव्ये धर्मिण आह्लादस्य न खलु वस्त्वलङ्कारप्रधाने वक्तृ-यदृच्छासन्निवेशितश्च । वस्तुधर्मो द्विविध सिद्ध साध्यश्च । आद्यो

---

1 ०काशाना

1 सवरस्यमा०

2 काव्यप्रकाशकारेण त्रेधा रस उक्त (मू पा टि)

द्विविध पदार्थप्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च । विशेषाधानहेतुर्विशेषाधायको धर्मविशेष न चालङ्कारेऽतिव्याप्ति शौर्यादिविलक्षणत्वात् ।

स च त्रिविध ।।सू 100।।

ओज प्रसादो माधुर्य चेति मूलग्रन्थ ।

तत्र द्रुतिकारणमाह्लादकम् माधुर्य शृङ्गारवृत्ति सातिशय चेत् करुणविप्रलम्भ[1]शान्तेषु ।

विस्ताररूपदीप्तिजनकत्वमोज वीरवृत्ति सातिशय चेत् बीभत्स-रौद्रयो ।

स्वच्छजलवच्चित्तव्यापको धर्मविशेष प्रसार सर्वरसवृत्ती ।

शब्दार्थयोर्भक्तिस्तदेतत्परीक्षित लक्षणे ।

सभी गुणो को रस का धर्म मानने मे प्रमाण के अभाव के कारण ओज आदि का ही गुणत्व और रसधर्मत्व मानने पर 'सगुण काव्यम्'' (काव्य गुण से युक्त है) यह व्यवहार उपपन्न नही होगा । न ही ओज आदि गुणो की स्वतन्त्र सत्ता है क्योकि उससे मुख्य (रस) का व्याघात होता है । बल्कि द्रुति, दीप्ति और विकास (ये तीनो चित्तवृत्तियां) उन-उन गुणो से (क्रमश माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणो से) विशिष्ट रसो के आस्वाद मे उत्पन्न होने के कारण ही गुणो को उन चित्तवृत्तियो से उत्पन्न होने वाले या उनका जनक कहना चाहिये । (वे चित्तवृत्तियां) न तो उन गुणो से उत्पन्न है क्योकि वह (गुण) इनका (चित्तवृत्तियो का) प्रयोजन नही है और न ही वे (गुण) उन (चित्तवृत्तियो) को उत्पन्न करने वाले है, क्योकि रस के रूप मे उन चित्तवृत्तियो की उत्पत्ति नही होती । किन्तु (तीनो गुण) समुचित वर्णों से ही व्यञ्जित होते है, ऐसा होने पर "सगुणौ" को शब्दार्थ के विशेषण के रूप मे जोडना अत्यधिक चतुरता का आरोपण करना है । और "अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरा सुधाम्" (इस नारी के अधरपान का रस अमृत का भी तिरस्कार करता है) इत्यादि उदाहरण मे सभी रसो मे रहने वाले प्रसाद गुण के समान अन्यत्र भी यथोचित गुणो का दर्शन होने से, अलौकिक आह्लाद से युक्त विशिष्ट शब्द से वाक्य का प्रयोग होने से "अत्रावन प्रज्वलत्यग्निरुच्चै" (इस पवन पर बहुत तेज आग जल रही है) इत्यादि मे (ओज गुणयुक्त वाक्य मे कठोर-पद का) प्रयोग नही होने से,

---

1 ०विप्रल०

शब्दार्थ की शोभा द्वारा आह्लाद रूपी धर्मों के धम ही गुण है, यह हमारे तात-चरण (गुरु) का मत है।

इसलिए शौय आदि के समान विशेषता पैदा करने वाला (कारणभूत सिद्ध) धम गुण होता है। इस प्रकार (काव्य मे) सर्वत्र अविशिष्ट आह्लादरूप धर्मी का धम, (सत्पुरुष के शौर्य आदि के समान विशेषाधानहेतु) गुण हैं ॥ सू 98 ॥

काव्यप्रकाशकार ने रस मे (अर्थात् रस के धर्मरूप गुणो को) तीन प्रकार का बताया है। प्राचीन ग्रन्थकारो ने गुण के दस भेद किये हैं ॥ सू 99 ॥

काव्य मे सवत्र धर्मी आह्लाद का (धर्म गुण होता है) वस्तु और अलङ्कार प्रधान (काव्य) मे वक्ता की यदृच्छा से सन्निवेशित धर्म गुण नही होता। (शब्द की उपाधि मुख्यरूप से दो प्रकार की होती है(1) वस्तुधर्म वस्तु का यथार्थ-धम और (2)वक्ता के द्वारा अपनी इच्छा से सन्निवेशित)। वस्तुधर्म दो प्रकार का होता है (1) सिद्धरूप और (2) साध्यरूप (क्रिया)। प्रथम (सिद्धरूप वस्तु-धम भी) दो प्रकार का होता है—(1) पदार्थ का प्राणप्रद धर्म (जाति) और (2) (वस्तु म) विशेषता पैदा करने का कारण(गुण होना है)। वस्तु का विशेषाधान हेतु विशेष का आधायक धमविशेष (गुण) होता है। शौय आदि से विलक्षण होने के कारण उसकी अलङ्कार मे अतिव्याप्ति नही होती।

मम्मट द्वारा उक्त तीन गुण—

वे (गुण) तीन प्रकार के होते हैं ॥ सू 100 ॥

मूलग्रन्थ ("काव्यप्रकाश") मे ओज, प्रसाद और माधुय (ये तीन गुण कहे गये हैं)।

(चित्त के) द्रवीभाव का कारण आह्लादरूप माधुय (गुण होता है)। यद्यपि यह (माधुर्य गुण सम्भोग) शृङ्गार मे रहता है, परन्तु करुण, विप्रलम्भ(शृङ्गार) और शान्त रस मे भी (उत्तरोत्तर) अधिक चमत्कारजनक होता है।

(चित्त के) विस्ताररूप दीप्ति का हेतु (उत्पन्न करने वाला) ओज गुण कहलाता है। यद्यपि (यह ओज गुण सामान्यत)वीररस मे रहता है, परन्तु बीभत्स और रौद्र रस मे भी क्रमश चमत्कारजनक होता है।

स्वच्छ (वस्त्र मे) पानी के समान जो चित्त मे व्याप्त हो जाता है वह धम-विशेष प्रसाद गुण होता है। (यह प्रसाद गुण) सभी रसों मे रहने वाला है।

(मुख्यरूप मे गुण रस के धर्म होते है परन्तु) गौणीवृत्ति मे शब्द और अर्थ मे भी उनकी स्थिति मानी जाती है—इसकी परीक्षा लक्षण मे की जा चुकी है।

श्लेष प्रसाद समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज कान्तिसमाधय ॥ सू 101 ॥

तत्र बहूना पदानामेकवद्भान शब्दश्लेष । असम्भावितार्थस्य सिद्धत्वेन कथनमर्थश्लेष । स च शब्दे बन्धगाढत्वापरपर्यायो । यथा—

जटाजूटकूटावटा[1]दुच्छलन्ती
महेशस्य सेय पुर स्व स्रवन्ती[2] ।
जगज्जालजम्बालमस्या सरस्या—
मपास्यापरे ब्रह्मभाव भजन्ते ॥ 130 ॥

[42अ] एते निस्तीर्णवेलावनिमदनपरिक्लेशमन्दा क्षिपन्त
कार्णाटीचन्दनाम्भ कणमुरमुरलातीरभाज समीरा ।
आयान्त्यायान्ति यान्तु प्रियसविधमिति प्रेयसीविप्रयुक्ता
सन्दिश्योच्चै पिकाना विरमनुहृत हुङ्कृतनापि यूथै ॥ 131 ॥

इह तु बन्धगाढतामात्र अर्थश्लेषो वा ।

अन्ये तु क्रियाकौटिल्यानुज्ज्वलत्वोपपत्तियोगरूपघटना श्लेष इत्याचक्षते ।

यथा—

दृष्ट्वा कश्चित्प्रियतमे सह[3]कासनसंस्थिते ।
निमील्य नेत्रे कस्याश्चिच्चुचुम्बान्या रसाकुल ॥ 132 ॥

अत्र दर्शनादय क्रिया उभयसमर्थनरूप कौटिल्य लोक-व्यवहाराऽविरोधोऽनुज्ज्वलत्व नेत्रनिमीलनादिकमुपपादकक्रिया । इदमप्यसिद्धार्थस्य सिद्धत्वेन कथनमेव । गाढत्वशैथिलाभ्या व्युत्क्रमेण बन्धस्य मिश्रणम् ।

वामनोक्त दस गुण—

श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि (ये दस शब्द गुण और दस ही अर्थ गुण वामन मानते हैं) ॥ सू 101 ॥

---

1 गर्तात् (मू पा टि)
2 गङ्गा (मू पा टि)
3 सहैकस०

अनेक पदों की एक पद के समान प्रतीति शब्द श्लेष है। असम्भावित अर्थ का सिद्धरूप से कथन करना अर्थश्लेष है। और शब्द में (अर्थात् शब्दश्लेष में) इस प्रकार की रचना का दूसरा नाम "बन्धगाढत्व" भी बताया गया है। जैसे—

यह सामने शिवजी की जटा-समूह के गर्त (विवर) से निरन्तर प्रवाहित होती हुई स्वर्ग की नदी (गङ्गा) है। बहुत से लोग गङ्गा के जल में जगत्-बन्धन रूपी कल्मष को दूर करके ब्रह्मभाव (परमात्मा में लीन होने) का अनुभव करते हैं।) ॥ 130 ॥

विस्तीर्ण मुरला (नदी) के तीर पर बहने वाली तथा तटवर्ती वनों में घूमने के क्लेश से मन्द-मन्द चलने वाली ये हवाएँ कर्णाटक की स्त्रियों के चन्दन-जल के कणों को बिखराती हुई आ रही हैं। इस समय वियुक्त प्रियाएँ प्रिय के समीप जायें, इस प्रकार वियोगिनी प्रेमिकाओं को सन्देश देकर सखि-समूहों के द्वारा उच्च हुंकार से कोयल की ध्वनि का अनुकरण किया गया (अर्थात् उनका स्वर कोयल के समान मीठा था) ॥ 131 ॥

यहाँ रचना का गाढबन्धत्वमात्र है अथवा अर्थश्लेष है।

अन्य लोग (वामन आदि) "क्रिया", 'कौटिल्य", 'अनुज्ज्वलत्व" और उपपत्ति के योगरूप घटना के विशेष प्रकार से श्लिष्ट होने को श्लेष कहते हैं। जैसे—

नायक ने अपनी दोनों नायिकाओं को एक ही आसन पर साथ-साथ बैठी हुई देखकर एक नायिका की आँखें बन्द करके रसाविष्ट हो दूसरी नायिका का चुम्बन लिया ॥ 132 ॥

उक्त पद्य में दर्शन आदि "क्रिया", उभयसमयनरूप "कौटिल्य" लोकव्यवहार का अविरोध अर्थात् लोकव्यवहाररूप "अनुल्वणत्व", नेत्रनिमीलन आदि उपपादक युक्तिरूप "उपपत्ति" का योग होने से श्लेष नामक अयगुण है। यह भी प्रसिद्ध अर्थ का सिद्ध रूप से कथन ही है। गाढत्व और शथिल्य के लिए व्युत्क्रम से बन्ध का मिश्रण होता है।

प्रसाद यथा—

> किं ब्रूमस्तव वीरे[1] वारणघटामद्भट्टघण्टारणत्—
> कारैरेव पलायनप्रवणतामापादिता वैरिणः।
> तूर्णीरेष्वमिपुत्रिकासु कवचेष्वङ्गेषु सम्प्रत्यमी
> पाभार्ये रचयन्तु पाणिकमल नामीरमेनामघा ॥ 133 ॥

---

1 हे (मु पा टि)

2 मेनामुर नु नामीर इति (मु पा टि)

रसे झटिति प्रतीयमानत्व झटिति प्रत्यायकत्व वा रचनाया स्वच्छतारूप प्रसाद इत्यन्ये । प्रसिद्धार्थत्वमिति तु दण्डी ।यथा—

> मति धवलोऽपि [1]शशाङ्क कलङ्कमङ्कं निवेशयति ।
> मलिनसहवासदोष कस्य न गगनेऽपि शुद्धस्य ।। 134 ।।

रीत्यभेद समता यथा—

> कुटिलतामलके चलता दृशो कठिनता मनसि ध्रुवमादधत् ।
> विधिरिमास्तनुते वनिता पर मनसिजस्य हहा विषम क्रम ।।
> ।। 135 ।।

[42ब] सयोगपरह्रस्वातिरिक्तवर्णाघटितत्वे सति पृथक् पदत्व माधुर्यम् । अर्थे तु चित्तद्रवीभावजनक वैचित्र्यम् । यथा—

> कुञ्जे कुञ्जे मधुपरणित माधवीना लताना
> मध्ये मध्य मधु[2]ररचना कोमलो वेणुनाद ।
> अस्माक तु त्रिभुवनसुख नन्दसूनो कटाक्षै–
> वृन्दारण्ये स्वपतु भगवान् शेषशायी सुखेन ।। 136 ।।

अत्र भगवता नास्ति किञ्चित् प्रयोजनमित्येषोऽर्थ सुखस्वापप्रेरण-रूपोक्तिवैचित्र्याभिहित ।

पूर्वो यथा—

> रणित वलयेषु पुरो मणित वचनेषु भवति वनितानाम् ।
> रणरणकविलसिताना[3] तद[4]नन्तरमेव साधिमा जयति ।। 137 ।।

प्रसाद गुण जैसे—

हे वीर ! (तुम्हारे विषय में) हम क्या कहें ? तुम्हारे हाथियों के समूह के परस्पर टकराने पर घण्टों की आवाज (रणत्कार) से ही शत्रुजन पलायन के लिए

---

1 शशा०
2 मधुपर०
3 रणरणक कामस्तस्य विलसितानां तत्र माधुर्य जयति (मू पा टि)
4 तदनन्त०

तत्पर हो गये । अब सेना के अग्रभाग में स्थित योद्धा तूणीरो, छुरियो, कवचो और अस्त्रों का अपने हस्तकमल की मात्र शोभा के लिए प्रयोग करते रहे ।।133।।

रस मे शीघ्र ही प्रतीत होने वाला अथवा जिस रचना से शीघ्र ही अर्थ की प्रतीति हो जाये, स्वच्छतारूप वह प्रसादगुण कहा जाता है, यह अन्य विद्वानो का मत है । दण्डी ने प्रसिद्धार्थक अर्थात् वाक्य मे ऐसे शब्दो का प्रयोग हो, जिसके सुनते ही अर्थ प्रकट हो जाये, ऐसे वाक्य को प्रसादगुण युक्त माना है । जैसे—

आकाश मे भी किस शुद्ध का मलिन के साथ सहवास दोष नही है श्वेत चन्द्रमा भी अपने अङ्क में कलङ्क को निवेशित रखता है ।।*134*।।

(प्रारम्भ से अन्त तक) एक ही प्रकार की रीति होने पर "समता" कहते हैं । जैसे -

केश मे कुटिलता, नेत्रो म चञ्चलता और मन मे निश्चय ही कठोरता का आधान करता हुआ विधि इन वनिताओं को अत्यन्त विशिष्ट अवस्था मे पहुँचा देता है । अहो, कामदेव का क्रम भी कितना विषम है ।।135।।

संयुक्त वर्ण आगे रहने पर (जिनकी गुरु सज्ञा होती है ऐसे) ह्रस्व स्वरो के अतिरिक्त वर्णों की सहायता से रचित होने पर तथा पदो की पृथक्ता (समास-रहित पदो का प्रयोग) होने पर माधुर्य गुण कहते हैं । (एक ही) अर्थ मे चित्त के द्रवीभाव की जनक विचित्रता माधुर्य नामक अर्थगुणहै । जैसे—

प्रत्येक कुञ्ज मे भ्रमर का गुञ्जन है, माधवी लताओं के बीच-बीच मे मधुर रचनायुक्त कोमल वेणुनाद है । वृन्दारण्य (गोकुल के निकट वन) मे नन्दनन्दन (श्रीकृष्ण) के कटाक्ष मे ही हमे त्रिभुवन का सुख प्राप्त होता है । (अत) भगवान् विष्णु शेषशैय्या पर सुखपूर्वक शयन करें ।।136।।

यहाँ 'भगवान् विष्णु से कुछ भी प्रयोजन नहीं है," इस एक अर्थ का "सुख पूर्वक शयन करें' इस प्रेरणात्मक उक्तिवैचित्र्य से कहा गया है ।

प्रथम (माधुर्य नामक शब्दगुण का उदाहरण) जैसे—

पहले स्त्रियों के कङ्कण मे ध्वनि होती है, बातो मे अस्पष्ट ध्वनि (स्त्री-सम्भोग के समय उच्चारित अस्पष्ट सीत्कार) होती है । उसके पश्चात् ही काम-क्रीडा की साधना की जय होती है ।।137।।

अपरुषवर्णघटितत्वं सुकुमारता। यथा—

स्वेदाम्बुकणमनोहरकपोलतलतुलितकान्तिभरैः।
पश्य सहसा हसन्ति प्रभातशरदमलकमलकुलम् ॥138॥

अत्र हसतीति।

सौकुमार्यं परुषार्थस्याऽपरुषार्थत्वप्रापणं वा। "[1]जीवितेशवसतिं जगाम सा" इत्यादिवद्बोध्यम्

झटितिप्रतीयमानार्थत्वमर्थव्यक्तिः यथा—

उद्यान्मदकालकूटकवलकवलेशो जगद्रक्षणे
तादृक्स्थितिरस्थिरत्रिपुरहृद्दाहे तथावादिता।
यच्चण्डीगौ[2] सलाटलोचनपुटज्वालाजटालः क्षणा—
त्काम कोमलमाप्नोऽपि भगवान् तत् किं न जानीमहे ॥139॥

पदानां नृत्यप्रायत्वमुदारता विकटत्वं वा। यथा—

पुरः प्रचलितैर्यया श्रवणयोर्दृशः प्रापिता
अदर्वनितकन्धरं स्थितमुदञ्चिताक्षं तया।
स्खलत् पदमटद्भ्रु[3] वनटदमन्दमञ्जीरव
रणत्कृणनकं कृति ध्वनिरकाण्ड एवोद्भूत् ॥140॥

कठोर वर्णों से रहित अर्थात् कोमल वर्णों से युक्त रचना होने पर सुकुमारता नामक गुण होता है। जैसे—

देखो, पसीने जलकणों से मनोहर कपोलस्थल के समान सौन्दर्यराशि के द्वारा प्रभातकालीन शरद् ऋतु का निर्मल कमल-समूह सहसा हँसता है ॥138॥

यहाँ "हसति" पद सुकुमारता का द्योतक है।

परुष (कठोर) अर्थ के निरूपण में परुष (कठोर) अर्थ न आने देना सौकुमार्य अर्थ गुण है। जैसे (रघुवंश में राक्षसी ताड़का की मृत्यु का) "वह जीवितेश (यम और प्राणेश) के घर चली गयी", इस प्रकार सुकुमारता से कहा गया है। इसी

---

1 राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥—रघुवंश—11, 20

2 हे (मू पा टि)

3 परदेव

के समान (परुष अर्थ को सुकुमाररूप मे कहने पर सौकुमार्य नामक अर्थगुण) जानना चाहिये ।

शीघ्र ही अर्थ की प्रतीति होना अर्थव्यक्ति नामक गुण है । जैसे—

हे चण्डीश्वर (महादेव) ! जगत् के रक्षण मे आपने उद्दाम और उन्माद-कारी कालकूट (विष) को कण्ठस्थ करने का क्लेश उठाया उसी प्रकार चञ्चल त्रिपुरासुर के हृदय को जलाने मे चरण की एक (दृढ) स्थिति को आदर दिया । अब क्षणभर मे ही यथेच्छया आप ललाट के तीसरे नेत्रपुट के ज्वालापुञ्ज कोमल बना रहे हैं—वह क्या (रहस्य) है—हम नही जानते ॥139॥

पदो के नृत्य के समान प्रतीत होने का नाम उदारता अथवा विकटता गुण है (अर्थात् रचना को पढते समय उसके पद नाचते हुए से प्रतीत होते हैं, वही उदारता या विकटता है) जैसे—

सबके समक्ष नृत्य म सचालित पदो के साथ जिस तरह उसने कानो तक नेत्रो को पहुँचा दिया (विशाल नेत्रो की बकविस्फारित मुद्रा से मोह लिया) उसी प्रकार कधे मोड कर नेत्रो को ढककर वह स्थिर खडी हो गई । चचल पदसचार, घूमती भौहो से तीव्र सगीतक (गायनादि) के साथ नृत्य करते समय (उन मुद्राओ के साथ) बडे बेमौके कणक्वणन की वकश ध्वनि उद्भूत होने लगी ॥140॥

सक्षेपप्रौढोक्तिरूपमोज । यथा—

> अखर्वगुरुगर्वमृद्गरुडगण्डकण्डूलन-
> प्रशामनमहौषधप्रबलमस्त्रमद्यापि न ।
> [43अ] त्रिकूटत ʕ टताडनोद्र[1]वितलोकशोकाकरे ।
> करे क्यय रे कथ त्यजतु रावणो जानकीम् ॥141॥

अत्र सक्षेपोक्ति स्पष्टा कण्डप्रशमनकर्तृत्वाऽनाश्रयस्याप्यस्त्रस्या-श्रयत्वोक्ते प्रौढोक्ति ।

लोकोत्तरशोभारूपमोज्ज्वल्य[2] कान्ति । यथा "कुञ्जे कुञ्जे" इत्यत्र ।

गाढत्वशिथिलत्वयो क्रमेणावस्थापन समाधि । यथा—

---

1 ०नोद्वि०

2 ०ज्वल्य

जगच्चङ्क्रिमाभङ्गतुङ्ग[1] स्तरङ्ग रनङ्गा[2] ग्सङ्गोज्ज्वलाङ्ग विभङ्ग ।
कृपापाङ्गरङ्गायमाणैर्विमुक्ते[3] कृतार्थो करिष्यामि गाङ्ग रिहाङ्गम् ॥142॥

अत्रारोहावरोहौ क्रमेण समाधिरर्थमहिमेत्यन्ये[4] ।

चपलितचापे मदने तरलितनयने च वपुषि गिरिजाया ।
सममुभयत्र पतन्ती विभिन्नभावा जयति हरदृष्टि ॥143॥

सक्षेप में प्रौढोक्तिरूप (अर्थात् विचित्रता से प्रतिपादन करना ही) ओज गुण है। जैसे—

समस्त महान् गर्व को तोडने वाला, गरुड के गालों की खुजलाहट को शान्त करने के लिए प्रबल महौषध रूप अस्त्र, हमारे त्रिकूट पर्वत (जिस पर लंका स्थित थी) के तट को तोडने से भागने वाले लोगों के लिए शोकाकार स्वरूप हाथ में आज भी स्थित है, तब कहा, रावण जानकी को कैसे छोड दे ॥141॥

यहाँ सक्षेपोक्ति स्पष्ट है। खुजलाहट को दूर करने के कर्तृत्व अनाश्रय अस्त्र में भी आश्रयत्व की उक्ति होने के कारण यहाँ प्रौढोक्ति है।

अलौकिक शोभारूप उज्ज्वलता कान्ति नामक गुण है। जैसे—'कुञ्जे कुञ्जे इत्यादि'' पद्य (136) में।

गाढता और शिथिलता का क्रम से स्थित रहना ही समाधि है।

जैसे—

जगत की विषमता को तोडने से तुङ्गरूपा, अनाहमय और वक्रता की भंगिमा से ऊंची ऊंची, रुद्र के सम्पर्क से उज्ज्वल रूप वाली, विशिष्ट भंगिमा वाली, कृपा-कटाक्ष रूपी रंग (अभिनय) का आचरण करने वाली, सर्वथा मुक्त (विशिष्ट मुक्ति के कृपाकटाक्ष के अभिनय का आचरण करने वाली) गङ्गा की तरंगो से अपने अंग को मैं कृतार्थ करूँगा ॥142॥

यहाँ आरोह और अवरोह क्रम से होने पर समाधि (गुण है)। अन्य मतानुसार इसे अर्थमहिमा कहा जाता है। (अर्थात् भरत, दण्डी आदि आचार्यों ने इसे अर्थगुण माना है)।

---

1 रुद्र (मू पा टि)
2 ० ज्ज्व०
3 मुक्तिस्त्रिया कृपाकटाक्षमङ्गलानि (मू पा टि), ०र्त्तै
4 ०त्यन्ये

धनुष चढाने वाले कामदेव और चञ्चल नेत्रो वाले पार्वती के शरीर, इन दोनो पर एक साथ ही पडने वाली विभिन्न भावयुक्त शिव की दृष्टि विजय प्राप्त करती है (अत शिवदृष्टि की जय हो) ॥143॥

एते गुणा शब्देऽर्थे च भवन्त्येते ॥सू 102॥

चकारादमे मतान्तरमाह ।

केचिदत्राङ्गता गता दोषाभावस्य ॥सू 103॥

यथा—

ग्राम्यत्वाऽभावो माधुर्यं अश्लीलत्वाभाव सौकुमार्य्यम् ।
नेयार्थत्वाभावोऽर्थव्यक्तिरित्यादि मतान्तरमाह ॥

त्रयाणा शेषता यान्ति[1] तदन्ये केचिदन्यथा ॥ सू 104॥

त्रयाणामोज प्रसादमाधुर्याणाम् । तथा च श्लेषार्थव्यक्तिसमाध्युदारतानामोजस्यन्तर्भाव । मार्गाभिदरूपा समता क्वचिद्दोष । प्रौढिवैचित्र्य न पुनर्गुण एवमर्थश्लेषोऽपि अनधिकपदात्मा प्रसाद, उक्तिवैचित्र्य, अपारुष्य, सौकुमार्य्य, ग्राम्यत्वाभाव औदार्य्यं, भग्नक्रमस्याभाव समता, अपुष्टार्थत्वाभाव ओज । एव केषाञ्चिद्दोषाभावरूपत्व केषाञ्चिदुक्तगुणेष्वन्तर्भाव इति न पृथग्गुणकल्पनेति मूलग्रन्थाभिप्राय ।

ये दस गुण शब्द मे और अर्थ मे होते हैं ॥सू 102॥

कुछ लोग यहाँ पर चकार का प्रयोग होने से रस मे भी गुण मानते हैं।
इन (दस गुणो) मे भी कुछ दोषाभाव की अगता को प्राप्त होते हैं ॥ सू 103 ॥

जैसे—

ग्राम्य का अभाव माधुर्य, अश्लीलत्व का अभाव सौकुमार्य, नेयार्थत्व का अभाव अर्थव्यक्ति इत्यादि विभिन्न मत कहे गये हैं।

कुछ गुण तो इन तीनो (माधुर्य, ओज और प्रसाद) गुणो मे अन्तर्भूत हो जाते हैं और कुछ अन्य प्रकार से अन्तर्भूत होते हैं ॥सू 104॥

---

1 यान्ति

वामनोक्त दस गुणों में से कुछ गुण ओज, प्रसाद और माधुर्यरूप तीनों गुणों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। श्लेष, अर्थव्यक्ति, समाधि और उदारता (इन चार गुणों का) ओज गुण में अन्तर्भाव होता है। मार्गभिदरूप समता कहीं पर दोष होती है। प्रौढि (रूप ओज) विचित्रतामात्र है, गुण नहीं। इसी प्रकार अर्थ-श्लेष भी (विचित्रतामात्र है)।

अनधिकपदरूप प्रसाद, उक्तिवैचित्र्यरूप (माधुर्य) अपारुष्यरूप सौकुमार्य, ग्राम्यत्व का अभावरूप उदारता, मार्गक्रम का अभाव समता, अपुष्टार्थ का अभाव ओज गुण है। इस प्रकार इनमें से कुछ गुण दोषाभाव के अन्तर्गत आ जाते हैं, कुछ का (माधुर्य, ओज और प्रसाद) गुणों में अन्तर्भाव हो जाता है, अतः इनको अलग से गुण नहीं मानना चाहिये, यह मूलग्रन्थ ("काव्यप्रकाश") का अभिप्राय है।

अथ गुणविशेषे वर्णघटनाविशेष मधुर प्रौढपरुषौ ललितो भद्र इत्यपि ॥सू 105॥

[43ब] गुणेषु वर्णविन्यासो यथावत्सम्प्रदर्श्यते। A
स्पष्ट तत्र मधुर।

वर्ग्यान्त्ययुग्भिद्विवर्ग्योलश्च ह्रस्वौ रणौ मितौ।
न पञ्चम्योषित्वा वर्ग्या मधुरो रचनाक्रम ॥

तथाह रुद्रट।

अग तरणि[1] रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि।
यदि मल्लीलोल्लापिनि गच्छसि तत्किं त्वदीय मे ॥144॥

मुक्त्वान्त्यटार् वर्ग्यंयणा मोघव[2]रेफा वपुर् च त।
स प्रौढ कारमावण्यमुक्तैरता विधीयते ॥

स्पष्टम्।

सर्वे गो रेणयुक्तो[3]ऽन्याद्विर्हाणि शणयुक्पर।

---

1 हे (मू पा टि)

2 मोढ्र०

3 सर्वैवर्णैयुक्त सकार। रकारेण युक्तान्य (मू पा टि)

परुष इत्यर्थ ।

अन्तर्ब्रह्मणि लिप्सा ते शेषे जिह्लेति कर्मणि ।

स्पष्टम् ।

लघवो धवतरसयुता अयुक्त लो ललितमथ भद्र शेषै श्रवर्णक-मुरवैरित्येव विरचिता रचना ।

अत्र मधुरादिरचनाविशेषो यथायथ गुणेपूहनीय ।

रीति समासभेदेन सापि तत्सहचारिणी ।।सू 106।।

गुणसहचारिणीत्यर्थ । असमस्ता समस्ता च ।

वैदर्भी प्रथमा मता ।

असमस्ता वैदर्भीरीति तत्राख्यातानामुपसर्गयोगो नानिष्ट ।

समस्ता द्वित्रिभि पञ्चसप्तभिर्बहुभि पुन ।
पाञ्चाललाटगौडाना तास्तिस्रो रीतय क्रमात् ।।

समस्तद्वित्रिपदापाञ्चाली एवमन्यत्रेति[1] गुणलक्षणम् ।

इति श्री काव्यालोके गुणनिरूपण नाम पञ्चम प्रकाश ।।5।।

गुणों को व्यञ्जक पाच वृत्तियां—

गुण-विशेष मे वर्ण और पदघटना (रचना) विशेष होने पर मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा (ये पांच प्रकार की वृत्तिया) भी होती है ।
।। सू 105 ।।

गुणो मे वर्णविन्यास यथानुसार बताया जा रहा है—

इनमे मधुरा स्पष्ट है ।

वर्ग्य (कवर्ग इत्यादि पाँचों वर्गों के 25 स्पर्श वर्ण) अपने-अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त, असंयुक्त लकार का प्रयोग, ह्रस्व रकार तथा णकार, मकार तथा तकार का प्रयोग, वर्ग्य (स्पर्श वर्ण) पाँच से अधिक नहीं, ऐसा रचनाक्रम मधुर होता है । जैसे कि रुद्रट ने उदाहरण दिया है—

1 पञ्चसप्तभि पदैर्लाटीबहुभि पदैस्समस्ता गौडीयर्य (मू पा टि)

आनन्ददायक सुन्दर चन्द्रमा के समान मुखवाली, हावभाव से मधुर बात करने वाली हे तरुणी ! कहो यदि तुम अपने प्रिय के घर जाती हो तो तुम्हारा (वह जाना) मुझे क्यों (व्याकुल करता है) ।।144।।

वर्गों के अन्तिम वर्ण (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) और टवर्ग को छोड़कर शेष वर्ण (स्पर्श वर्ण) तथा य और ण अपने ऊपर रेफ से संयुक्त रहते हैं तथा त का संयोग क के साथ होता है, वहा प्रौढ़ा वृत्ति होती है । जैसे—

बाय को सुनकर युक्त होने वाले लोगो द्वारा कही गई बात का पालन किया जाता है ।

यह स्पष्ट है ।

(परुषा वृत्ति मे) सकार सब वर्णों के साथ संयुक्त रहता है । सभी वर्ण रकार के साथ संयुक्त रहते हैं । र के साथ ह का प्रयोग एक ओर ही होता है और उससे परे श और ष का प्रयोग होता है ।

यह पुरुषावृत्ति है, यह अभिप्राय है । जैसे—

वहा मे तुम्हारी लिप्सा शेष कर्म करने मे लज्जा अनुभव करती है ।

यह स्पष्ट है ।

मधु ध, व, त, र और स का प्रयोग हो और असंयुक्तरस मे ल का प्रयोग होने पर ललितवृत्ति होती है । चारो वृत्तियो के वर्णों मे शेष बचे हुए वर्णों से श्रुति-सुखद रूप मे रची हुयी रचना भद्रवृत्ति होती है ।

यहाँ गुणो मे मधुर आदि रचना-विशेष यथानुसार जाननी चाहिये ।

रीति—

समास के भेद से रीति होती है ।।सू 106।।

यह (रीति) भी उनकी (गुणो की) सहचारिणी होती है । रीति समास रहित और समासयुक्त होती है ।

वैदर्भी रीति प्रथम मानी गयी है ।

समासरहित वैदर्भी रीति होती है। उसमें क्रियापदा का उपसर्ग के साथ योग व्याघात उत्पन्न नहीं करता।

दो या तीन पदों का, पाँच या सात पदों का अथवा अनेक पदों का समास करने पर क्रमश पाञ्चाली, लाटी और गौडी, ये तीन रीतियां होती हैं।

(अभिप्राय यह है कि) दो या तीन समस्त पद होने पर पाञ्चाली रीति होती है। इसी प्रकार अन्य रीतियाँ होती हैं (पाँच या सात समायुक्त पद होने पर लाटी रीति होती है और अनेक समस्त पद होने पर गौडी रीति होती है)।

गुण-लक्षण का विवेचन समाप्त हुआ।

"काव्यालोक" का गुणनिरूपण नामक पञ्चम प्रकाश समाप्त हुआ ।।5।।

□

षष्ठः प्रकाशः

शब्दालङ्कार-विवेचनम्

संयोगवृत्त्यालङ्कारः काव्यस्याह्लादकारणम् ।
तिलकादिरिव स्त्रीणां शब्दार्थं चोभयमद्गतः[1] ॥ सू 107 ॥

समवायवृत्त्या[2] गुण इत्युक्तं प्राक् ।

वक्रोक्तिरप्यनुप्रासो यमकश्लेषचित्रकम् ।
अलङ्काराः शब्दरूपे[3] वक्रोक्तिः श्लेषकाकुजा ॥ सू 108 ॥

वक्रोक्तिर्द्विधा श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्चेति । तत्र श्लेष-वक्रोक्तिः —

यदुक्तमन्यथा वक्तिवचनं पदभङ्गतः ।
श्लेषवक्रोक्तिरुदिता किं गौरीदृङ् गौरहम् ॥

पदभङ्गेनोदाहरणं गौरि ईदृक् किं, अहं गौर्नेति ।

काकुर्ध्वनिविकारः स्यान्नायास्यति मम प्रियः ।

न आयास्यति किन्त्वायास्यतीति काकुवक्रोक्तिः ।

अनुप्रासो व्यञ्जनानामावृत्तिश्छेक एकशः ॥ सू 109 ॥

व्यञ्जनानामिति स्वरनियमाभावार्थं एकश इति सकृदावृत्त्या[4] छेकानुप्रास इत्यर्थः ।

---

1 उभयगता गतिरस्य स अलङ्कारः (मू पा टि)
2 समवायेता गुणाः अर्थात् अलङ्कारास्तु पदानां संयोगा भवन्ति (मू पा टि)
3 वाक्ये (मू पा टि)
4 यथाक्रमं तथा इत्यर्थेनोदाहृतिः (मू पा टि)

असङ्कृद्वृत्तिरुदितो[1] ॥ सू 110 ॥

असकृदावृत्त्या वृत्त्यनुप्रास ।

मुदिनामुदितादित [2] ।

[44अ] लाटो ललितविन्यासः ॥ सू 111 ॥

[3]चालिता ललिता लता ।

केचित्त्वमु शिथिलमाचक्षते ।

सामान्य तु यथा—

याना पुनरायाना तयापि न कथा वृथा भवति[4] ।

इति सङ्कल्पमनल्प कल्पितमनया न जल्पित किञ्चित् ॥ 145 ॥

शब्दालङ्कार-विवेचन

अलङ्कार काव्य-आह्लाद का हेतु है और सयोगवृत्ति से काव्य मे विद्यमान रहता है । शब्द और अर्थ की सौन्दर्यवृद्धि (उन्मेष) ही उसकी गति है, जैसे तिलक आदि स्त्रियो के सौदर्य की अभिवृद्धि करते हैं ॥ सू 107 ॥

यह पहले कहा जा चुका है कि गुण काव्य में समवायवृत्ति से विद्यमान होते हैं । (गुण पदों मे समवेत होते हैं और अलङ्कार पदो मे सयोग सम्बन्ध से रहते हैं ।)

वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र, काव्य मे ये पाँच शब्दालङ्कार होते हैं ।

1 वक्रोक्ति—

श्लेष तथा काकु से उत्पन्न वक्रोक्ति होती है ॥ सू 108 ॥

वक्रोक्ति अलङ्कार दो प्रकार का होता है—श्लेष वक्रोक्ति तथा काकु-वक्रोक्ति । श्लेषवक्रोक्ति जैसे—

---

1 वारम्वारमावृत्ति वृत्तिरनुप्रास उदित (मू पा टि)

2 आदौ मदितामुदितेत्यर्थ (मू पा टि)

3 यहाँ सधि के कारण '० मत्वालिता ०' इत्यादि लिखा है ।

4 मत्तो नायकसमीप गता पुन प्रत्यागता तथापि नायकमिलनचिन्ता रूपा कथा न व्यर्थाभवति (मू पा टि)

पदभङ्ग द्वारा जब कहे गये वचन को अन्य प्रकार से अर्थ लगाकर ग्रहण किया जाता है तो श्लेषवक्रोक्ति अलङ्कार कहा जाता है। जैसे—"किं गौरीदृन गौरहम्", (प्रश्न) गौरी ! ऐसा क्या है ? (उत्तर) मैं गौ नहीं हूँ। (पदभङ्ग = किं गौरी ! ईदृक् ? = किं गौ ईदृक् ?)

यह पदभङ्ग का उदाहरण है। प्रथम वक्ता के द्वारा "गौरि ईदृक् किं" "गौरी ऐसा क्या है ?" कहे जाने पर द्वितीय व्यक्ति "किं गौ ईदृक्" विग्रह करके प्रत्युत्तर दे रहा है कि "अहं गौर्नेति" "मैं गौ नहीं हूँ"। (अत एक ही पद के दो प्रकार से विच्छेद करके श्लेष द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये जाने के कारण यहाँ श्लेष-वक्रोक्ति अलङ्कार है।)

काकु ध्वनि-विकार होता है। जैसे—मेरे प्रिय नहीं आयेंगे।

"न आयास्यति" "नहीं आयेंगे" कहे जाने पर भी "आयास्यति", "अवश्य आयेंगे" यह अर्थ निकलने से (यहाँ) काकुवक्रोक्ति है।

2 अनुप्रास—

छेकानुप्रास—व्यञ्जनों की एक ही बार आवृत्ति होने पर छेकानुप्रास होता है ॥ सू 109 ॥

व्यञ्जनों की अर्थात् स्वरों के नियम का अभाव होने पर (व्यञ्जनों की एकत) एक बार आवृत्ति रूप ही छेकानुप्रास है, यह अभिप्राय है। (जैसे—छेक एकत -इसमें "क" वर्ण की आवृत्ति होने से छेकानुप्रास का यही उदाहरण है।)

वृत्त्यनुप्रास—(एक वर्ण अथवा अनेक वर्णों की बार-बार) आवृत्ति को "वृत्ति" कहा जाता है ॥ सू 110 ॥

बार-बार आवृत्ति से वृत्त्यनुप्रास होता है। जैसे—मुदितामुदितादित। (अर्थात् आरम्भ में मुदिता होकर जो मुदिता है। यहाँ दकार और तकार की आवृत्ति अनेक बार की गई है।)

लाटानुप्रास—लाट ललितविन्यास को कहते है ॥ सू 111 ॥

जैसे—"वानिता ललिता सता"।

कुछ विद्वान् लिपिन (विन्यास) कहते हैं।

सामान्य जैसे—

सखी नायक के समीप गयी, पुन लौट आयी। परन्तु फिर भी (नायक-मिलन चिन्ता रूप) कथा व्यर्थ नहीं होती। इस प्रकार उसने सवन्ध ता बहुत सा लिया, (किन्तु) कुछ भी नहीं बोली ॥ 148 ॥

अन्यार्थाना पदाना तु यमकम् ।। सू 112 ।।

वर्णानामपीत्येके । आवृत्तिरिति[1] तु शब्दार्थ ।

तद्द्विधा मतम् ।। सू 113 ।।

यमक द्वि प्रकारमित्यर्थ समस्तपादैकदेशभेदात् । समस्त-पादावृत्तिरेकदेशेन पादावृत्तिरित्येतद्द्विधा ।

आद्या[2] त्रिधा स्फुटम् ।। सू 114 ।।

पादार्द्ध श्लोकभावा पर्यायेण त्रयश्च ते । ते यमकास्त्रय आदिपादेन सममावृत्तानामन्येषा पर्यायेणेत्यर्थ मुख सदश आवृत्ति ।

गर्भसन्दष्टकावपि ।। सू 115 ।।

पश्चिमपदयोर्द्वितीयेनावृत्त्या प्रत्येक गर्भसन्दष्टकावित्यपि शब्दार्थ ।

तत्र मुख यथा—

सखे सखेद मा धेहि मानस पक्षिजातिषु ।

यथा वा रुद्रटे—

चक्रन्द हतार चक्र दहतारम् ।
खड्गेन तवाजौ राजन्[3]रिनारी[4] ।। 146 ।।

यथा वा ममैव—

चक्रन्द चक्र दहनारिपूर्णा त्वयेक्षिता हन्त मयेन वामा ।
बाले[5] विधायाननमायताक्षीयस्मि श्व[6]सन्ति चकित बभूव ।। 147 ।।

सदशो यथा—

---

1 ० रति
2 समस्तपादावृत्ति (मू पा टि)
3 हे (मू पा टि)
4 हे राजन् ! आजौ तव खड्गेन हता सतो अरिनारी अरमत्यर्थं चक्रन्द कि सशरेण ख [ड्गेन] आरमरिमण्डलिचक्र समूह दहता (मू पा टि)
5 अमंगे (मू पा टि)
6 ० स्व ०

नाशनेन रिपूणा त्व नाशनेन[1] प्रसीदसि ।

आवृत्तिर्यथा—

[2]वसुन्धरा[3] महीपाल[4] जाता पश्य वसुन्धरा[5] ।

3 यमक—

अन्य (भिन्न-भिन्न) अर्थ वाले पदो की (आवृत्ति) यमक कहलाती है।
॥ सू 112 ॥

कुछ लोग कहते है कि वर्णों की आवृत्ति से भी यमक होता है। आवृत्ति होना-यह "तु" शब्द का अभिप्राय है।

यमक के भेद—

यमक
- (1) समस्त पादावृत्ति (11 भेद)
  - 1 पादावृत्ति (9 भेद)
    - 1 मुख
    - 2 सदश
    - 3 आवृत्ति
    - 4 गर्भ
    - 5 सन्दष्टक
    - 6 पुच्छ
    - 7 पंक्ति
    - 8 परिवृत्ति
    - 9 युग्मक
  - 2 अर्द्धावृत्ति (समुद्गक) (1 भेद)
  - 3 श्लोकावृत्ति (महायमक) (1 भेद)
- (2) एकदेश पादावृत्ति (अनेक भेदो मे से कुछ नाम उल्लिखित)
  - मध्य
  - वश
  - अर्द्धपरिवृत्ति
  - पादसमुद्गक
  - चक्र
  - शिखा
  - माला
  - काची
  - मध्ययमक
  - आसन्न

---
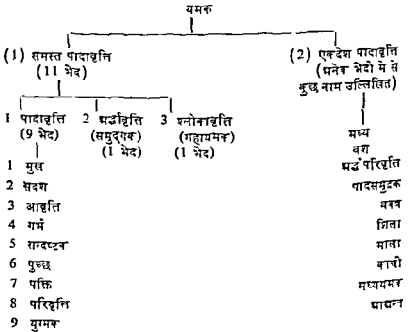
1 भोजनेन (मू पा टि)

2 पृथु प्रति प्रजावाक्यम् (मू पा टि)

3 पृथ्वी (मू पा टि)

4 हे (मू पा टि)

5 द्रव्यापहारिका (मू पा टि)

यमक के दो भेद—

वह (यमक) दो प्रकार का माना गया है ।।सू 113।।

समस्त पाद और एक देश के भेद से यमक दो प्रकार का होता है, यह अभिप्राय है अर्थात् 1 समस्तपादावृत्ति और 2 एक देशपादावृत्ति —यमक के ये दो भेद होते हैं।

(1) समस्त पादावृत्ति यमक के 11 भेद—

प्रथम (समस्त पादावृत्ति) तीन प्रकार का स्पष्ट है ।।सू 114।।

पाद (श्लोक का चतुर्थ भाग या चरण), श्लोकार्ध तथा सम्पूर्ण श्लोक की आवृत्ति होने से क्रमश यमक के तीन भेद पादावृत्ति, अर्द्धावृत्ति और श्लोकावृत्ति हो जाते हैं।

पादावृत्ति के नौ भेद—

इनमे से आदि (प्रथम) पाद की अन्य चरणो के साथ क्रमश आवृत्ति होने पर पादावृत्ति के तीन प्रकार होते हैं-मुख, सदश और आवृत्ति (अर्थात् प्रथम पाद की द्वितीय पाद मे आवृत्ति "मुख" कहलाती है, तृतीय पाद मे "सदश" कहलाती है और चतुर्थ पाद मे इसका नाम "आवृत्ति" है)।

गर्भ तथा सन्दष्टक भी यमक अलकार होते हैं ।।115।।

द्वितीय पाद की परवर्ती दोनो पादो मे (तृतीय तथा चतुर्थ पाद मे) आवृत्ति होने पर क्रमश गर्भ तथा सन्दष्टक नामक यमक होता है, यह अभिप्राय है। (द्वितीय पाद की तृतीय पाद मे आवृत्ति को "गर्भ यमक" और द्वितीय पाद की चतुर्थ पाद मे आवृत्ति को "सन्दष्टक यमक" कहते हैं।)

मुख नामक यमक का उदाहरण, जैसे—सखे! पक्षिजाति मे भेद के साथ मन का आधान मत करो।

अथवा रुद्रट के "काव्यालङ्कार" मे—

हे राजन्! युद्ध मे शत्रु-समूह को जलाने वाले तुम्हारे खड्ग से आहत होकर शत्रु-स्त्रियों ने अत्यधिक क्रन्दन किया ।।146।।

अथवा मेरा ही (स्वरचित) उदाहरण है—

हन्त विशाल नेत्रो वाली वह (शत्रु) स्त्री जो चकित भाव से अपने शिशु की ओर मुख करके नि श्वास ले रही थी, शत्रुओ के चक्र को दहन करने वाले तुम्हारे द्वारा देखे जाने पर भय से क्रन्दन करने लगी ।।147।।

सदश नामक यमक जैसे—

तुम शत्रुओं के नाशन से (नाशनेन) प्रसन्न होते हो, भोजन से नहीं (न अशनेन)।

आवृत्ति जैसे—

पृथु के प्रति प्रजा का वाक्य है—हे राजन्! देखो, यह वस्तुओं को धारण करने वाली पृथ्वी (वसु धरा) वस्तुओं का अपहरण करने वाली (वसु हरा) हो गई है।

गर्भो यथा—

न ददाति पर बीज पर बीजमुपागता।

सदष्टक यथा—

गोपीनयनचकोरीपारणवदनेन्दुचन्द्रिकाप्रसर[1]।
स जयति गोपकुमार पङ्कजवदनेन्दुचन्द्रिकाप्रसर[2] ॥148॥

इद तु दिङ्मात्रमुदाहृतम्।

पुच्छमुत्तरपादाभ्या पक्ति सर्वस्य पूर्ववत् ॥सू 116॥

उत्तरार्द्धे पादाभ्यामावृत्ताभ्या पुच्छम्। सर्वस्यचरणचतुष्टयस्य पूर्ववत् प्रथमचरणवत् आवृत्ति पक्ति।

तत्र पुच्छम्—

सम्बन्धिनेनापि रघूद्वहाना स मैथिल शत्रुगणाच्च राम[3]।
सीता[4] समाकृष्य रराज राजा सीता समाकृष्य रराज राजा ॥149॥

पक्तिर्यथा—जनकजा ननु का न पतिव्रतेतिपादस्य।

---

1 गोपीनां नयना येव चकोर्य्य तासा पारणार्थं वदनेन्दुचन्द्रिकाप्रसरते यस्य तादृशो गोपकुमार कृष्ण (मू पा टि)

2 पङ्कजवदने कमलमुखे इन्दुचन्द्रिका कर्पूरबिन्दु तस्या प्रसरो यस्य तादृश (मू पा टि)

3 स मैथिलो राजा जनक सीता हलपद्धति समाकृष्य रघूद्वहाना साम्बधिनेन रराज। हलकर्षणे पुत्री प्राप्ता तदा राघवै सह सम्बन्धो भविष्यतीति भावार्थ रामो दशरथात्मज शत्रुगणात् राक्षसात् सीता स्वस्त्री समाकृष्य रराजेति (मू पा टि)

4 हलपद्धतिम् (मू पा टि)

इत्यमन्येपि भेदा स्यु सङ्कीर्णपदसञ्चये ।।सू 117।।

तथा च गर्भावृत्तियोगात् परिवृत्ति मुखपुच्छयोगाद्युग्मकम्

परिवृत्तिर्यथा—ललिना[1] वचने वचने ललिता ।

युग्मक यथा——ममा[2] जन समाजने मदा नता सदानता ।

[44ब] एव A अर्द्धावृत्त्या समुद्गक श्लोकावृत्त्या महायमकम् ।

एव मध्यवन्शार्द्ध परिवृत्तिपादसमुद्गकवक्त्रशिखामालाकाची-मध्याद्यन्तादिकमूहनीयम्

गर्भ नामक यमक जैसे—

(आवृत्ति के उदाहरण "वसु धरा" इत्यादि श्लोक का उत्तरार्द्ध है–) परम कारण होते हुए भी (वह पृथ्वी) वस्तुओ के अन्य स्त्रोत को प्रकट नहीं करती है ।

सन्दष्टक ज से—

गोपियो के नयन-रूपी चकोरियो की पारणा (व्रतान्त भोजन) के लिये मुखरूपी चन्द्रमा की चन्द्रिका का प्रसार करने वाले, कमल के समान मुख मे कर्पूर-बिन्दु के समूह (विलेपन) मे युक्त गोपकुमार (श्रीकृष्ण) की जय हो ।।148।।

यह दिङ्मात्र (कुछ थोडे से) उदाहरण दिये है ।

उत्तरार्द्ध के दोनो (तृतीय और चतुर्थ) चरणो के आवृत्त होने पर पुच्छ नामक यमक का भेद होता है । प्रथम चरण की सभी (द्वितीय तृतीय तथा चतुर्थ चरणो) मे आवृत्ति होने पर पक्ति नामक यमक-भेद होता है ।।सू 116।।

उत्तरार्द्ध मे दोनो (तृतीय और चतुर्थ) पादो की परस्पर आवृत्ति होने पर पुच्छ नामक यमक होता है । पूर्व के समान (प्रथम चरण की) शेष सभी चरणो मे आवृत्ति होने पर पक्ति नामक यमक अलङ्कार होता है ।

पुच्छ नामक यमक (का उदाहरण)—

वह मिथिलाधिपति राजा जनक सीता को हलपद्धति म प्राप्त करके रघु-वशीय-जनो के साथ सम्बन्धी के रूप मे सुशोभित हुए और दशरथ-पुत्र राम शत्रु-गण (राक्षसो) म अपनी पत्नी सीता को (पुन) प्राप्त करके सुशोभित हुए ।।149।।

---

1 ललितो (मू पा टि)

2 समापरिषज्जने मदा नता नमा । समाजन आदर सदानता दानमस्तित्यर्थ (मू पा टि)

पक्ति जैसे—

जनस्जा ननु का न पतिव्रता" इत्यादि श्लोक (68) के चरणों में।

इसी प्रकार सङ्कीर्ण पद यमकों के मिश्रण से अन्य भी भेद होते हैं।
॥ सू 117 ॥

जैसे-(उपयुक्त) यम और आवृत्ति के योग से परिवृत्ति नामक यमक कहलाता है। मुख और पुच्छ के योग से युग्मक नामक यमक-भेद होता है।

परिवृत्ति, जैसे—वनिता सखी अपने वचन-वचन में ललिता (सुन्दर) है।

युग्मक जैसे—('सभाजने जने') आदर करने वाले लोगों से ही सभा होती है और दानशीलता सदा विनम्र होती है।

(इस प्रकार पादावृत्ति यमक के नौ भेद हुए।)

अर्धावृत्ति व श्लोकावृत्ति—

इसी प्रकार अर्द्ध आवृत्ति से (पाद का अर्द्ध भाग आवृत्त होने पर) और (पूरे) श्लोक की आवृत्ति से महायमक अलङ्कार होते हैं। (इस प्रकार समस्त पाद वृत्ति यमक के कुल 11 भेद हुए।)

2 एकदेश पादावृत्ति—

मध्य, वश, अर्द्ध परिवृत्ति, पादसमुद्गक, चक्र, शिखा, माला, काञ्ची, मध्य यमक आद्यन्त यमक इत्यादि (एकदेश यमक के) भेद भी जानने चाहिये।

अविलष्टपदसन्ध्यासमासेर्वाक्यसमुच्चित ।
श्लेषो वर्णपदाद्यात्मा सोऽष्टधा शब्दमूलकम्[1] ॥ सू 118 ॥

वर्णपदलिङ्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनभेदादष्टधा शब्दश्लेष इत्यर्थ। तत्र विविधानां वर्णानां विभक्तिप्रत्ययवर्णवशादैक्यरूप्ये वर्णश्लेष। समासकृत पदश्लेष। स्त्रीपुंनपुंसकानां सारूप्ये लिङ्गश्लेष। सुव्यक्तविविक्तभाषाभिर्भाषाश्लेष। प्रकृतीनां प्रत्ययागमोपपदे सारूप्ये प्रकृतिश्लेष। प्रकृतिप्रत्ययानां प्रत्ययसारूप्ये प्रत्ययश्लेष। सुप्तिङोर्मिथ सारूप्ये विभक्तिश्लेष। वचनकृतो वचनश्लेष।

किञ्चिन्नूदाह्रियते—

1 शब्दालङ्कार (मू पा टि)

असता च सता च भुवने[1] तव बाहुर्विमलामिवेल्लन[2]।
मयकृत्न[3] विरोधिनी क्रिया त्वयि काचित् कथयन्ति सूरयः ॥
॥ 150 ॥

अत्र करोतिकृन्तत्योः प्रकृत्योः।

विनापि हारेण निसर्गहारिणौ तवैव तन्वङ्गि कुचौ विलोकयन्।
प्रियाङ्करङ्कनटनः नक्षुषा सपत्ननारी प्रसभं वदिष्यति ॥ 151 ॥

इह तु हारिणावितीणिन्प्रत्यययोरेकरूपत्वाद्विनापि हारेणेति मत्वर्थीयोद्भेदात् प्रत्ययश्लेषः।

एवम्—

अरिमेदः पलाशस्ते खड्गो भाति सधेनुकः[4]।
ममत्वमपि नि मत्व नगा पश्यामि काननम् ॥ 152 ॥

इत्येव भाषाश्लेषादिकं ज्ञेयम्।

4 श्लेष—

अक्लिष्ट (कष्ट-कल्पना रहित) पदों की सन्धि में युक्त अनेक वाक्य एक साथ कहे जाने पर (अर्थात् एकवाक्य-रचना ही अनेक अर्थ बनाने में समर्थ होने पर) श्लेष नामक शब्दालङ्कार होता है। वर्ण, पद आदि के भेद से यह आठ प्रकार का होता है ॥ सू 118 ॥

1 वर्णश्लेष, 2 पदश्लेष, 3 लिङ्गश्लेष, 4 भाषाश्लेष, 5 प्रकृतिश्लेष, 6 प्रत्ययश्लेष, 7 विभक्तिश्लेष और 8 वचनश्लेष के भेद से श्लेष शब्दालङ्कार आठ प्रकार का होता है, यह अभिप्राय है। विभक्ति, प्रत्यय अथवा वर्णों के कारण विविध वर्णों में एकरूपता होने पर 'वर्णश्लेष" होता है। समासकृत (समास का अनेक वियोग) होने पर "पदश्लेष" होता है। स्त्रीलिंग, पुंल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग की समानता होने पर "लिङ्गश्लेष" होता है। सुव्यक्त (स्पष्टरूप में)

---

1 हे (मू पा टि)
2 विमनासिना वेल्लनीति (मू पा टि)
3 असता भय करोति मता भय कृन्ततीति मयकृत् (मू पा टि)
4 ते खड्गोऽसि सधेनुकः छुरिकया सह वर्त्तमान। अरीणा भेदः पले अश्नातीति तादृशो भाति। पक्षेऽरिमेदो विट्खदिरः पलाश प्रसिद्ध खड्गो जीवविशेष धेनुको मृगजाति। मत्वः प्राणो पराक्रमश्च (मू पा टि)

तथा विविक्त (पृथक्-पृथक मालूम पड़ने वाली अनेक) भाषाओं से "भाषाश्लेष" होता है। प्रकृति (मूल धातु तथा शब्द) में प्रत्यय, आगम अथवा उपपद (क्रिया के पूर्व लगाये गये उपसर्ग, निपात आदि)के कारण समानरूपता होने पर 'प्रकृति-श्लेष" होता है। प्रकृति प्रत्ययों में प्रत्यय की समानरूपता से "प्रत्ययश्लेष" होता है। सुप तथा तिङ में परस्पर (आपस में) समानरूपता होने पर "विभक्तिश्लेष" होता है। वचनकृत सारूप्य होने पर "वचनश्लेष" होता है।

कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

हे राजन्! विमल तलवार के साथ इधर-उधर हिलती हुई तुम्हारी भुजा सज्जनों तथा दुर्जनों के लिए भयकृत् है (दुर्जनों में भय उत्पन्न करती है, सज्जनों का भय दूर करती है)। अतः तुममें कोई विरोधिनी क्रिया नहीं है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं॥ 150॥

यहाँ ("भयकृत्" पद में भय के उपपद रहते "कृ" तथा "कृन्त्" दोनों धातुओं से एक ही पद बनता है—भयं करोति इति भयकृत्, भयं कृन्ततीति भयकृत्) असज्जनों में भय उत्पन्न करती है तथा सज्जनों का भय दूर करती है, ये दोनों अर्थ "भयकृत्" शब्द से निष्पन्न होने से यहाँ "प्रकृति-श्लेष" है।

हे तन्वङ्गि (सुकुमाराङ्गि)! हार के बिना भी स्वभावतः हार धारण करने वाले अथवा चित्त को आकृष्ट करने वाले तुम्हारे स्तनों को देखते हुए (मुग्ध नायक) तुम्हारे प्रिय अङ्गरूपी रङ्गस्थल पर ही नर्तन करने वाले नटसदृश नेत्र से ही मानिनियों को हठात् (जो कहता है वह) कहेगा॥ 151॥

यहाँ पर (हारो अस्त्यस्य इनि, हृ+णिनि वा, इस विग्रह से) "हारिणौ" शब्द हार+इनि अथवा हृ+णिनि, इस प्रकार दो प्रत्ययों से बना शब्द एक समान ही होने से "बिना हार के भी" इस पद में मत्वर्थीय प्रत्यय के उद्भेदन के कारण "प्रत्ययश्लेष" है।

इसी प्रकार—

तुम्हारी तलवार छुरी के साथ मिलित होकर शत्रुओं की चर्बी और मांस को क्षणभर में खाती हुई सुशोभित होती है। अतः मुझे यह कानन ससत्त्व (प्राणियों से युक्त) होकर निःसत्त्व (प्राणिविहीन) दिखाई देता है (तुम्हारा यह खड्ग सारे वन को प्राणिविहीन बना देगा ऐसा मुझे दिखाई देता है)। अथवा (अन्य कानन पक्ष में) विट्खदिर (अरिमेद), पलाश (वृक्षविशेष) और जीव विशेष (खड्ग) मृगजाति के धेनुक के साथ यह वन सुशोभित है। फिर भी इस प्रकार सत्त्व (प्राणियों) से युक्त भी इस जङ्गल को मैं सत्त्व (पराक्रम) से रहित देखता

हूँ। (मैं ऐसे साधन वन से भयभीत नही हूँ, यह आशय है।)

॥ 152 ॥

इस प्रकार भाषाश्लेष आदि जानना चाहिये।

साङ्ग चित्र वस्तुरूप चक्रखड्गादिरूपवत्।
अनुलोमविलोमार्द्ध भ्रमाद्य तदनेकधा ॥ सू 119 ॥

आदिपदाच्चक्रखड्गमुशलबाणासनबाणशूलहलचतुरङ्गपीठरथतुरग-गजपदानुलोमविलोमार्द्ध भ्रममुरजसर्वतोभद्रैकाक्षरचतुरक्षराद्यमूहनीयम्। तत्र चक्रबन्धो यथा—

सरसा सुदती सविलासरसा शशिसुन्दरहासमयूखमुखी
समवादि यदा समये हरिणा[1] सकलेन[2] तदा समवादि[3] सखी।

[45अ] हरिणा भवती मदवासिरसा नवचम्पकहारितनु सुमुखी
मदनैकमदाकुलसत्करिणा समवादितदा लपितैव सखी ॥ 153 ॥

खड्गबन्धो यथा रुद्रटस्य—

मारारिशक्रामेभमुखै[4]रासाररहसा[5]।
साराख्धस्तवा[6] नित्य तदार्त्तिहरणक्षमा[7] ॥
माता नताना[8] सङ्घट्ट श्रिया [9]बाधितसम्भ्रमा।
मान्या[10] सीमाय नारीणा श मे दिश्यादुमाद्रिजा[11] ॥ 154 ॥

---

1 कृष्णेन (मू पा टि)
2 समस्तेन (मू पा टि)
3 उक्ता (मू पा टि)
4 गणेश (मू पा टि)
5 वेगन (मू पा टि)
6 सार आरब्धस्तवो यस्या (मू पा टि)
7 तेषा रुद्रादीनामार्तिहरणे क्षमा (मू पा टि)
8 नम्रीभूताना (मू पा टि)
9 वा०
10 माननीया (मू पा टि)
11 अद्रिजा उमा मे मह्य सुख ददातु (मू पा टि)

मुशलबन्धो यथा—

मायाविन महाहावा रमायात[1] लसद्भुजा[2] ।
जातलीला[3] यया ऽऽसारवाव महिषमावधी[4] ॥155॥

इत्थमेव पूर्वोदाहृतैं पद्यैस्तत्तद्घटनानुकूलैस्तत्तदाकारविशेष सम्पादनीय ।

5 चित्र-अलङ्कार—

जब वस्तुरूप वर्णों को अङ्कों से अथवा चक्र, खड्ग आदि रूपों में निहित किया जाता है तो वह चित्र नामक शब्दालङ्कार होता है । अनुलोम (स्वाभाविक क्रमानुसार, ऊपर से नीचे की ओर आने वाला), विलोम (विपरीत क्रम), अर्द्धभ्रम (अर्धवृत्त) आदि रूप में वह चित्र शब्दालङ्कार अनेक प्रकार का हो जाता है ॥सू 119॥

आदि पद से चक्र, खड्ग, मुशल, बाणासन (धनुष), बाण, शूल, हल, चतुरङ्ग पीठ, रथ, तुरग, गज, पद, अनुलोम, विलोम, अर्द्धभ्रम, मुरज, सर्वतोभद्र, एकाक्षर, चतुरक्षर आदि भेद जानने चाहिये ।

चक्रबन्ध का उदाहरण, जैसे—

सरस सुन्दर दन्तपंक्तियुक्त, विलासरस से संयुक्त तथा चन्द्रमा के समान सुन्दर हास्य-किरणों से युक्त मुखवाली सखी जब (रास-क्रीडा आदि में) समग्र कृष्ण द्वारा बोली गयी (अर्थात् कृष्ण ने जब सखी से बात की), तब समस्त (सखियों ने) भी उससे यह कहा—"मदयुक्त रमणारी नवचम्पक के समान सुशोभित शरीरवाली, सुन्दर मुसकानी तुमने जब कामदेव के मद से व्याकुल श्रेष्ठ हाथी के समान कृष्ण से बात की, तब ही सखियों ने (तुमसे) बात की ॥153॥

मल्लबन्ध रुद्रट के उदाहरणानुसार—

मार (कामदेव) के अरि अर्थात् शिव, इन्द्र राम तथा (इभमुख) गणेश के द्वारा निरन्तर वेग से (धाराप्रवाह रूप में) जिसकी स्तुति नित्य प्रारम्भ की

1 रमाया पृथिव्या आयातम् (मू पा टि)
2 लसन्तौ भुजा यस्या सा (मू पा टि)
3 जाता लीला यस्या सा (मू पा टि)
4 ससारी हर महिषमसुर आवधि (मू पा टि)

जाती है, उन रुद्र आदि के दुःखों का हरण करने में समर्थ, नम्रीभूत भक्तों की माता लक्ष्मियों की सम्मिलनरूपा, भक्तों के भय का निवारण करने वाली, माननीया स्त्रियों की मर्यादारूप और पर्वतपुत्री उमा (पार्वती) मुझे सुख प्रदान करें ॥154॥

मुशलबन्ध जैसे—

मायाविन् (धोखेबाज, ऐन्द्रजालिक), पृथ्वी से उत्पन्न शौर्य या बल के अनुसार बोलने वाले महिष नामक असुर तुमको, महाहाव से संयुक्त, चमकती हुई भुजावाली, लीला (क्रीडा या लावण्य) को उत्पन्न करने वाली भवानी ने मार दिया ॥155॥

इसी प्रकार पूर्व उदाहृत पद्यों के द्वारा ही उन-उन घटनाओं की अनुकूलता से, उन-उन आकार-विशेष का सम्पादन करना चाहिये।

अन्ये तु[1]—

जातिर्गतिस्तथा रीतिर्वृत्तिच्छायं तत क्रमात्
मुद्रोक्तियुक्तिभणितिगुम्फशय्याभिधा पुन ।
पठितिर्यमकश्लेषावनुप्रास प्रहेलिका
गूढप्रश्नोत्तराध्येयश्रव्यप्रेक्ष्याभिनीनेय ।
वाकोवाक्य तथा चित्रमिति शब्दविभूषणम् ।

तत्र भारती[2] जाति सस्कृताद्यवयवी धर्म ।
पद्य गद्य मिश्र चेति गति ।

वैदर्भादिमार्गो रीति । सा च वैदर्भी पाञ्चाली[3] गौडी आवन्तिका लाटी मगधभवा चेति षोढा । असमस्तपदा वैदर्भी, समस्तरीतिमिश्रिता पञ्चमी[4] पूर्वरीतेरनिर्वाह षष्ठी[5] ।

---

1 सरस्वतीकण्ठाभरणकारादय (मू पा टि)
2 वाणी (मू पा टि)
3 पाचाली (मू पा टि)
4 आवन्तिका (मू पा टि)
5 मागधी (मू पा टि)। •ष्ठी

विकाशविक्षेपसङ्कोचविस्तारेषु चेतसो वर्त्तनात् कैशिक्याद्या वृत्ति ।
तत्रार्थसन्दर्भयो सौकुमार्ये कैशिकीवृत्ति । यथा—

प्रियवपुषि विधौ विधानदक्षे[1] वलयविभूषणचन्द्रिकासु तासाम् ।
समुचितहृदय नितम्बिनीना समसुपयन्ति दृशोस्तरङ्गितानि ॥156॥

प्रौढार्थसन्दर्भा आरभटी । यथा—

आस्फोट्योद्दण्डबाहुद्वयमित्यत्र ।

[45ब] अतिसुकुमारा ऽर्थेनातिसुकुमारसन्दर्भा भारती । यथा—

कुञ्जे कुञ्जे इत्यत्र ।

अन्य सरस्वतीकण्ठाभरणकार आदि के अनुसार—

(1) जाति, (2) गति, (3) रीति, (4) वृत्ति, (5) छाया, उसके बाद क्रम से, (6) मुद्रा, (7) उक्ति, (8) युक्ति, (9) भणिति, (10) गुम्फ, (11) शय्या । पुन कहते है—(12) पठिति, (13) यमक, (14) श्लेष, (15) अनुप्रास, (16) प्रहेलिका, (17) गूढ, (18) प्रश्नोत्तर, (19) अध्येय, (20) श्रव्य, (21) प्रेक्ष्य, (22) अभिनीति, (23) वाकोवाक्य तथा (24) चित्र, ये शब्दालङ्कार (शब्द विभूषण) है ।[2]

1 जाति—

इन भेदो मे भारती (वाणी) "जाति" है, जो सस्कृतादि अवयवी धर्म से युक्त है ।

2 गति—

पद्य, गद्य और मिश्र (काव्य) "गति" है ।

3 रीति—

वदर्भी आदि मार्ग "रीति" है और वह (रीति) वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडी, आवन्तिका, लाटी तथा मागधी भेद से छह प्रकार की होती है । असमस्तपदा

---

1 शृङ्गारादिविधानदक्ष चन्द्रे च (मू पा टि)

2 पाण्डुलिपि मे सख्या-परिगणन करते हुए "वाको" के ऊपर "23", "वाक्यम्" के ऊपर "24" और चित्र के ऊपर "25" लिखा है, इस प्रकार 25 भेद किये है । परन्तु उक्त सख्या ठीक नही है, क्योकि आगे भी 24 भेद मानकर विवेचन किया गया है ।

वैदर्भी, समस्तरीतिमिश्रिता पञ्चमी (आवन्तिका रीति), पूर्वरीतियों का निर्वाह जिसमें नहीं होता वह षष्ठी अर्थात् मागधी रीति है।

4 वृत्ति—

चित्त के विकास, विक्षेप, सङ्कोच और विस्तार में स्थिर होने से कैशिकी आदि (कैशिकी, आरभटी, भारती, सात्वती, मध्यमकैशिकी तथा मध्यमारभटी ये छ प्रकार की) वृत्ति होती है।

अर्थ और सन्दर्भ में सौकुमार्य होने पर कैशिकीवृत्ति होती है, जैसे—

शृङ्गारादि विधान में कुशल प्रिय आकृति वाले प्रियतम के सखा चन्द्र के आगमन पर, वलय-विभूषण (कङ्कण) की प्रभा रूपी चन्द्रमा के प्रकाशित होने पर नितम्बिनी-सुन्दरियों के प्रेमपूरित हृदय नेत्रों के तरंगितों (चञ्चलता) के साथ गठबन्धन कर लेते हैं ॥156॥

प्रौढार्थसन्दर्भा आरभटी होती है, जैसे—

"आस्फोट्योदण्डबाहुद्वयम" इत्यादि (श्लोक 92 में)।

अतिसुकुमार अर्थ के द्वारा अतिसुकुमारसन्दर्भा भारती होती है, जैसे—

'कुञ्जे कुञ्जे" इत्यादि उदाहरण (136 में)।

प्रौढार्थनातिप्रौढसन्दर्भा सात्वती। यथा—

[1]पीत दुःशासनोरःस्थलरुधिरमयोद्दाममग्रामसीत-
क्षत्रच्छेदोद्गतासृक्[2] पयसि सरसि च स्नात[3]मेतद्वयेन।
इत्यारक्तेक्षणान्तःक्षुभितनृपवधादस्त[4]सज्जौ स भीम
क्षत्रारातिर्मु[5]निश्च क्षणमुपसि [6]कुरुक्षेत्रमन्तःस्मृतौ[7] स्त ॥157॥

1 भीमेन (मू पा टि)
2 ०सृक्
3 परशुरामेण (मू पा टि)
4 मग्न (मू पा टि)
5 भार्गव (मू पा टि)
6 कुरुक्षेत्र०
7 दुःशासनपक्षपातिनोऽद्यापि वनन्त इति भीमस्य मनसि स्मरणम्। अद्यापि क्षत्रिया विद्यमाना इति भार्गवस्य मनसि स्मरणमत अन्तःस्मृतौ उभौ स्यातान् (मू पा टि)

सुकुमारार्थे प्रौढसन्दर्भा मध्यमकैशिकी यथा—

मय बकुलपादप कुसुमकोमल केवल
मनो दहति मामक दलय मूलमस्य द्विप ।
विलोकयतु मन्मथ क्षणमुदञ्चदग्निप्रभा-
[1]पिशङ्गमथ पात्यता पयसि दग्धकाष्ठ[2] पुन ॥158॥

प्रौढेऽर्थे सुकुमारसन्दर्भा मध्यमारभटी यथा—

अतिकोमलता ममाङ्कानामिति सञ्चिन्त्य विषादमत्र मा गा ।
उरगाधिपशाम्भवोपवीतादतितुच्छ गिरिबन्धन तवैतत् ॥159॥

अन्योक्त्यनुकरणच्छाया । तत्र लोकोक्त्यनुकृतिच्छाया यथा—

लोचने मीलयित्वामु पिब निम्ब सुखी भव ।

अत्र लोचने मीलयित्वेति लोकोक्त्यनुकृति ।

मत्तोक्त्यनुकृतिर्यथा—

म म म म म मुगे निधेहि सीधु ह ह [ह] हसन्ति किमत्र वृष्णिवीरा[3] ।
इति हलिनि वदत्यमदलज्जाभरनतलोचनमीक्षते मुकुन्द ॥160॥

प्रौढार्थ के द्वारा अतिप्रौढसन्दर्भा गारवती वृत्ति होती है । जैसे—

भीम न दुशासन के वक्ष स्थल के रुधिररूपी जल का पान किया । इसी भाँति परशुराम ने भीषण संग्राम से डरे हुए क्षत्रियो के नाश से निकलकर बहते हुए रक्त रूपी जल से परिपूर्ण सरोवर मे स्नान किया । इस प्रकार रक्तिम नेत्र, क्रोध क्षोभ से युक्त राजाओं को मारकर सत्ता-रहित कर दिया (अर्थात् उनका नामोनिशान भी मिटा दिया) । ऐसे भीम और भार्गव प्रात काल में क्षणभर कुरुक्षेत्र का मन स्मरण करने लगते है । (दुशासन के पक्षपाती आज भी विद्यमान है, यह भीम के मन मे स्मरण होता है । आज भी क्षत्रिय विद्यमान है, यह भार्गव के मन म स्मरण होता है, अत दोनो को मन मे स्मरण होता है) ॥157॥

सुकुमारार्थ म प्रौढसन्दर्भा मध्यमकैशिकी होती है । जैसे—

1 पिशिङ्ग ०
2 ० ष्ट
3 यादवा (मू पा टि,)

यह वकुल (मौलसिरी) का वृक्ष केवल पुष्पो के कारण कोमल है। मेरे मन को जलाता है। इस शत्रु को मूल से काट दो। क्षणभर को ऊपर की ओर जाने वाली अग्नि की प्रभा से रक्तिम वर्णयुक्त (इसके) दग्धकाष्ठ (जली हुई लकडी) को जल मे फेंक दो, ताकि मन्मथ (स्वय) अपने सामने इसे देखे ॥158॥

प्रौढ अर्थ मे सुकुमारमन्दर्मा मध्यमारमटी होती है, जैसे—

मेरे अग अति कोमल हैं, इस बात को सोचकर इस विषय मे विषाद मत करो। सर्पराज रूपी शिव के यज्ञोपवीत की तुलना मे तुम्हारा यह गिरिबघन अतितुच्छ है ॥ 159 ॥

5 छाया—

अन्य उक्ति का अनुकरण "छाया" है। इस प्रसङ्ग मे लोकोक्ति की अनुकृति करने वाली छाया जैसे—

नेत्र मूदकर इस नीम को पी जाओ और सुखी रहो।

यहा "नेत्र मूदकर" यह लोकोक्ति (आँखें मीचकर) की अनुकृति है।

मत्तोक्त्यनुकृति (मत्त की उक्ति की छाया) जैसे—

म म म म म मुख मे मदिरा रखो। यहाँ वे वृष्णिवीर (यदुवशी) क्यो ह ह ह हँसते हैं। ऐसा बलराम के बोलने पर कृष्ण अतिलज्जायुक्त झुकी हुई दृष्टि से देखते हैं ॥ 160 ॥

साभिप्रायकपदसन्निवेशो मुद्रा—

अपि यान्तु कटाक्षसरव्यता स्मरवाणा प्रणय धनुर्भ्रुवो ।
त्वयि लोचनगोचर गते, न कथञ्चित्सुकुमारता तयो[1] ॥ 161 ॥

इय साभिप्रायपदनिवेशात् मदमुद्रा ।

वाक्यमुद्रा यथा—

एतस्यैव[2] हिमाशुमण्डलगत ज्योतिस्तुषारास्पद
भूयोऽस्यैव घनेषु धामनिपतज्जैगीयते जीवनम् ।
यच्चास्यैव वपु प्रकाशकमिद तेजस्त्रयी निर्मल
तद्ध्यायन्ति रवेर्मवाम्बुधिपरेपारे विहारेप्सव ॥ 162 ॥

---

1 स्मरबाणधनुषो (मू पा टि)
2 रवे (मू पा टि)

विधिना निषेधेन वा विशिष्टार्थप्रतीतिरुक्ति ।
प्रयुज्यमानशब्दार्थयोगोयुक्ति यथा—

> आश्वाङ्गनास्य[1] हुतभुग्दयिता प्रभात-
> प्रोत्फुल्लपङ्कजपरागपिश[2]ङ्गिताशा
> [3]जम्भारिवारणशिरोनवगैरिकाभा
> भानोर्नभः कुहरमङ्कुरयन्ति[4] भास ॥ 163 ॥

अत्र जम्भारिवारण इति योगरूढपरम्परा[5] अश्वाङ्गनास्य हुतभुगिति [46अ] पर्यायपरम्परा प्रभातप्रोत्फुल्लपङ्कजपरागेति हेतुपरम्परा नभ कुहरमित्यङ्गपरम्परा ।

6 मुद्रा—

साभिप्रायक पदो का सन्निवेश मुद्रा है—

कामदेव के बाण कटाक्षो की मित्रता को प्राप्त हो जायें और धनुष भौंहो से प्रणय सम्बन्ध कर लें (क्योकि) तुम्हारे दृष्टिगोचर होने पर उनकी (कामदेव के धनुष और बाणो की) सुकुमारता किसी प्रकार से भी नही रही ॥ 161 ॥

यह साभिप्रायपदनिवेश से पदमुद्रा है ।

वाक्यमुद्रा जैसे—

शीतलता के निधान चन्द्रमण्डल मे रहने वाली ज्योति इसकी (सूर्य की) ही है। इसके अतिरिक्त बादलो मे इसी का तेज (बिजली के रूप मे) है और इसका ही यह जो तीनो तेजो मे निर्मल प्रकाशकमण्डल शरीर है, ससाररूपी समुद्र से दूसरे पार उतरने की इच्छा रखने वाले उसी का (सूर्यमण्डल का) ध्यान करते है ॥ 162 ॥

7 उक्ति—

विधि अथवा निषेध से विशिष्टार्थ की प्रतीति उक्ति है ।

---

1. वडवामुख । अश्वाङ्गनावडवानलस्या आस्यहुतभुग् वडवानलस्तस्य दयिता प्रिया तत्तुल्यास्वेभास (मू पा टि)
2. ० पिशिगि ०
3. इन्द्र (मू पा टि)
4. ० ङ्कुयन्ति
5. जम्भस्य अरिरिन्द्र इति यौगिक । वारण इति रूढ । (मू पा टि)

8 युक्ति—

अयुज्यमान (विषम) शब्दार्थ का योग युक्ति है, जैसे—

वडवा के मुख की अग्नि अर्थात् वडवानल की प्रिया (वनिता) अर्थात् ज्वाला के समान प्रभा वाली, प्रात कालीन प्रफुल्लित पङ्कज के पराग से दिशाओं को पिशङ्ग (रक्तिम) बनाने वाली, जम्भ नामक राक्षस को मारने वाले (जम्भारि) अर्थात् इन्द्र के हाथी के सिर की नवीन गैरिक (पहाड पर उत्पन्न होने वाली धातुविशेष जो रक्तिम वर्ण की होती है) की आभा से युक्त सूर्य की किरणें आकाशरूपी गुफा मे अङ्कुरित होती है ।। 163 ।।

यहाँ "जम्भारिवारण" यह योगरूढपरम्परा (जम्भनामक राक्षस का शत्रु इन्द्र—यह यौगिक, 'वारण" यह रूढ), "अश्वाङ्गनास्य हुतभुग्", यह पर्याय-परम्परा, "प्रभातप्रोत्फुल्लपङ्कजपराग" यह हेतुपरम्परा, "नभ कुहरम्" यह अङ्ग-परम्परा है ।

सम्भवाऽसम्भवादियुक्तिप्रकारो भणिति ।

तत्र सम्भवभणितिर्यथा—

सरस्वतीस्रोतमेव या प्राची क्षणमञ्चिता ।
सैव शक्रेमसिन्दूरपूराभा भाति भानुना ।। 164 ।।

यथा वा—

निविडदलोदरनिपतितशशिकरपरिपूरितालवालानाम् ।
मिल्ली तले तरुणा दुग्धधिया पातुमञ्जलि तनुते ।। 165 ।।

असम्भवभणितिर्यथा—

क्व खलु मृदुमृणालतन्तुसिचयरचना चतुराणामञ्जलिनिपीतचन्द्रिकामृतानाम् ।
करयुगलममन्दरोशवामिना तत्करणानामाश्चर्याणा　जननमिति ।। 166 ।।

यथा वा—

दष्ट्रोद्धृता क्वय वेन[1] करेण सैंही
वेनाहृतो　मणिरभूदहिपुङ्गवस्य[2] ।

1 पुसा (मू पा टि)
2 शेपस्य (मू पा टि)

नो नाम रामबलमुत्थमिदं[1] हरिणा—
मस्माकमिच्छति बलं सहसा रसेन ॥ 167 ॥

अमृतकरादिवलम्बिज्झाला वाणी तवाननाद्वदिनम् ।
कमलात्प्रोद्भिय ते बाले नयनाज्जलधुनिर्मे कथम् ॥ 168 ॥

इह तु भात्पर्यभणिति ।

वाक्यगत शब्दार्थयो सम्भवभवना विनियो गुम्फ । यथा—
म म म म मुखे इत्यत्र । यथा वा—

समदगजघटाना कण्ठपीठोपरिष्टाद्
ट ण ण ण ण निनादो यावदुज्जृम्भतीति ।
अरिषु तदबलानामश्रुकैः पातलग्नै—
[2]स्त्वदनमनिह तावत्प्रार्थयन्ते वनानि ॥ 169 ॥

अर्थगतो यथा—

विकासवशाना प्रसरति विलास कत्रुषिका
परिवासी यस्या [3] प्रभवति हरेर्लोकनतम् ।
चकोराणा प्रीति स्मरविजयकीर्ति कुमुदिनी
मुदा रोतिर्यस्या [4] पुनरवतु दृष्टिद्वयमद ॥ 170 ॥

9 भणिति—

सम्भव और असम्भव से उक्तिप्रकार भणिति है ।

सम्भवभणिति जैसे—

जो पूर्व दिशा तारामय सरस्वती के प्रवाह से ही मानो शोभायमान थी, वही सूर्य के द्वारा इन्द्र के हाथी ऐरावत के सिन्दूर से परिपूर्ण कान्ति से युक्त होकर सुशोभित हो रही है ॥ 164 ॥

असम्भव जैसे—

---

1 रचित (मु पा टि)
2 त्वत्त महामात्सर्याति चमन प्रार्थयन्ति मम शरण तवाक्रन्ते शो न कारणीया इत्यर्थः (मु पा टि)
3 दृष्टि । सूर्याभिवाया हष्टे (मु पा टि)
4 चन्द्राभिवाया दृष्टे (मु पा टि)

घने पत्तो के भीतर से गिरने वाली चन्द्रकिरण से भरे हुए आलवाल (वृक्ष मे पानी देने के लिए जल मे बना हुआ स्थान) युक्त वृक्षो के नीचे यह दूध है ऐसा समझकर भीलनी उसे पीने के लिए अन्जलि फैलाती है ॥ 165 ॥

असम्भवभणिति जैसे—

कोमल मृणाल के तन्तुओ मे वस्त्र की रचना मे चतुर अन्जलि से चन्द्रिका-रूपी अमृत को पीने वाले कर-युगल रूपी कमलकोश अन्त करण को वासित करने वाले आश्चर्यों का जन्म कहा ? ॥ 166 ॥

अथवा जैसे—

कहो, किस मनुष्य के हाथ से सिंहनी की दाढ निकाली गयी ? किसके द्वारा शेष-नाग की मणि का हरण किया गया ? कौन व्यक्ति राम की शक्ति से रक्षित वानरो की हमारी इस सेना को सहसा रण मे चाहता है ? ॥ 167 ॥

तुम्हारे मुख से जो यह वाणी है वह चन्द्रमा से उत्पन्न अग्नि-ज्वाला है, तो हे बाले ! यह वर्षाऋतु है, तुम्हारे नयन से जलबिन्दु का प्रवाह कमल से उत्पन्न वर्षाऋतु कैसे नही है ? ॥ 168 ॥

यहाँ आश्चर्यभणिति है।

10 गुम्फ—

वाक्य मे शब्दार्थ की सम्यक् रचना-विशेष गुम्फ है। जैसे "म म म म मुमे" इत्यादि उदाहरण (158) मे। अथवा—

मद के कारण मस्त हाथियो की टोलियो के कण्ठ और पीठ के ऊपर से ढ ए ए ए ए निनाद जब तीव्रता को प्राप्त कर लेता है तो शत्रुओ से उनकी स्त्रियो ने शालवृक्ष मे लगे हुए वस्त्रो के द्वारा सारे वन यहाँ तुम्हारे पास अभय की प्रार्थना करते हैं। (अर्थात् मेरी शरण मे आये हुए शत्रु तुम्हारे द्वारा मारने योग्य नहीं हैं, यह अभिप्राय है।) ॥ 169 ॥

अर्थगत जैसे—

जिसकी सूर्यात्मिका (सूर्यरूप) दृष्टि से कमलो का खिलना होता है, यज्ञ-परायण ऋषि मुनियो का विलास फैलता है, ससार के अन्धकार के लिए मद उत्पन्न होता है तथा जिसकी चन्द्रात्मिका (चन्द्ररूप) दृष्टि मे चकोरो मे (चन्द्रमा की किरणें ही चकोर का आहार है) प्रीति होती है, जो कामदेव की विजय के लिए नीति के समान है—और जो कुमुदिनी (जो चन्द्रोदय के समय खिलती है)

के आनन्द की पद्धति है, ऐसे हरि की वह सूर्य व चन्द्र रूपी दृष्टिद्वयी (सबकी) रक्षा करें ।। 170 ।।

अन्योन्यपदार्थानां घटना शय्या । तत्र प्रशान्तेन पदार्थघटना यथा—

> ओमित्युक्तवतस्तस्य[1] भ्रूरोङ्कारसमाभवत् ।
> जगामाथ मुनिः[2] स्वर्गं स्ववेश्याहर्यनिव ।। 171 ।।

अप्रशान्तेन यथा—

> बुद्धिरेवायन पुंसः शरीर न बलं बलम् ।
> जरठा[3]कथयन्तीह शशसिंहकथा तथा ।। 172 ।।

काक्वाभिनयेन वार्थविशेषसिद्धये पाठः पठितिः । तत्र काक्वा यथा—

> यदि ममेयमनङ्गसखी प्रिया प्रियजनस्य तदाहमपि प्रिया ।
> [46ब] यदि गिरः सुखयन्ति तदीरिता श्रवणयोः सुखदा न गिरो मम[4] ।।173।।

अभिनयेन यथा—

> एतत्प्रमाणास्तनयोरिदानीमियत्प्रमाणा नयनद्वयेपि ।
> न जातु जाने कतमो विधातुः क्षणान्तरेऽस्या भविता प्रयत्नः ।। 174 ।।
> नागे नागे भवेन्नागो, नागो नागबलं बलम् ।
> वारणे वारणे[5] दीनः केवलं के बलं तव ।। 175 ।।

"मलयमरुत्महृचरता", "मेनामसा सन्नामे ना आसन्नासे सेनासन्ना[6]" इत्यादि यमकम् ।

---

1. हरे (मू पा टि)
2. नारद (मू पा टि)
3. वृद्धा (मू पा टि)
4. मम
5. वारणे गजे वा रणे संग्रामे दीनः केवलं के जले बलं तव भीमसेनस्य वर्तते दुःशासनो वक्ति [ ] (मू पा टि)
6. मेना आसन्ना निकटवर्तिनी । ना पुमान् सन्नाशे सता नाशे । सेनासन्ना ननारया नाशे आगन् अभवन् (मू पा टि)

11 शय्या—

अन्योन्य पदार्थों का मिलना शय्या है। प्रक्रान्त (प्रस्तुत) के द्वारा पदार्थ-घटना जैसे—

हरि की "ओम्" इस असदृश उक्ति से भी पवित्र उद्गार "ओम्" के समान हो गयी। तब नारदमुनि मानो स्वर्ग की अप्सराओं को प्रसन्न करते हुए स्वर्ग को चले गये ॥ 171 ॥

अप्रक्रान्त के द्वारा (पदार्थघटना) जैसे—

पुरुष की बुद्धि ही एक मार्ग (या स्थान) है। शरीर का बल बल नहीं है। वृद्ध लोग इसी प्रसंग में खरगोश तथा सिंह की कथा कहते हैं ॥ 172 ॥

12 पठिति—

काकु अथवा अभिनय के द्वारा अर्थविशेष की सिद्धि के लिए पाठ पठिति है। काकु का उदाहरण—

यदि यह अनङ्गसखी मेरी प्रिया है तो मैं भी प्रियजन की प्रिया हूँ। यदि उसके कहे हुए शब्द कानों को सुख देते हैं, तो मेरे शब्द (क्या) सुख देने वाले नहीं हैं ॥ 173 ॥

अभिनय के द्वारा जैसे—

(उस नायिका के) इस समय (क्षण) इतने विस्तारयुक्त स्तन और इतने विस्तृत नयन-युगल हो जाने पर भी न जाने किसी दूसरे क्षण में विधाता का नायिका के लिए कौन-सा प्रयत्न होने वाला है? ॥ 174 ॥

13 यमक—

(दुःशासन का कथन है कि—) हे (अगा!) प्रमाहीन (भीम)! सर्प और पर्वत के विषय में तुम्हारा कोई दोष नहीं है। और न ही हाथियों की सेना तुम्हारी शक्ति बन सकती है। अतः गजसेना (या मेरे निवारण) अथवा संग्राम में निर्बल तुम्हारा बल केवल जल में ही है ॥175॥

(उक्त श्लोक तथा) "मलयमरुन्महचरता०" (इत्यादि श्लोक 73 में यमक है)।

सेना (आसन्ना) निकटस्थित है। (ना) पुरुष में (सन्नाम) सज्जनों का नाश होने पर (सेनासन्ना) सेना में स्थित पुरुष (नाशे) विनाश में (प्रासन्) हो गये।

इत्यादि श्लोक यमक के उदाहरण हैं।

14 श्लेष—

(क्रमानुसार यहाँ श्लेष का वर्णन आना चाहिये, पर मूलग्रन्थ मे उदाहरण नही दिया।)

अरविन्दगन्धबन्धो[1] मधुकर[2] किमु धावसि मुधास्मिन्[3]।
शोभाञ्जनमिदमञ्जनरञ्जनमात्र न पश्यसि प्रसभम् ॥176॥

वशीकृतमनोजन्मा[4] मनोजन्मानुशासनम्।
येन[5] नीतो भवानीशो भवानीश स केवलम् ॥177॥

इत्याद्यनुप्रास।

सकृत्प्रश्न प्रहेलिका।

आनीलमुखमापीन भूमिष्ठमपि चोर्द्ध्वगम्।
बालवृद्धातुराणा कि चुम्बनेन रसावहम् ॥178॥

इह फलविशेषे[6] आर्थी प्रहेलिका।

कण्ठे कराभ्या हृदये स्तनाभ्यामालिङ्ग्य नीतो जघनान्तरालम्।
वनान्त एवाम्बुविलासवत्या कल चुकू[7]जे कतमो विट[8] वम् ॥179॥

इय च्युतदत्ताक्षरा।

क्रियाकारकसम्बन्धादिगोपना [द्] गूढम्।

तत्र क्रियागूढ यथा—

स्तनभारमुदितमस्या विलोकयन्तोऽङ्ग कान्तिहेमभवम्।
मदनशरज्वरजर्जरवपुषोऽमी कथमिव युवान ॥180॥

1 हे (मू पा टि)
2 हे (मू पा टि)
3 शामाञ्जने (मू पा टि)
4 वशीकृतकाम (मू पा टि)
5 येन त्वया भवानीशो रुद्र मनोजन्मानुशासनस्वाशा नीत स भवान् ईश स्वामी केवलम् (मू पा टि)
6 आम्र (मू पा टि)
7 चुकू०
8 विच्युते मदत्ते तथा ध इति (मू पा टि)

अत्र न स्त इति क्रियापदस्य स्तनशब्देन न मयागो[1] रसलिप्सा केवलमीदृग्विध तनुते ।

अपि पश्यसि युवतीना पुरुषायितम[2]न्यथा भवति ।

अत्र सम्बन्धाभिप्रायगूढम् ।

15 अनुप्रास—

इस (शोभाञ्जन नामक वृक्ष) पर व्यर्थ क्यो दौडते हो ? केवल अञ्जन का रञ्जन करने वाले इस शोभाञ्जन वृक्ष को नही देखते ।।176।।

जिस तरह तुम्हारे द्वारा काम को वश मे करने वाले भवानीपति (शिव) कामदेव के अनुशासन को प्राप्त करा दिये गये, केवल ऐसे आप ही स्वामी हैं ।। 177 ।।

इत्यादि अनुप्रास है ।

16 प्रहेलिका—

जहाँ एक बार प्रश्न किया जाता है, वह प्रहेलिका है ।

वह क्या है, जो हल्के काले मुख वाला, बहुत अधिक मोटा भूमि पर स्थित होकर भी ऊपर चढने वाला, बालक, वृद्ध अथवा आतुर (रुग्ण) व्यक्तियो को चूसने मे रस उत्पन्न करने वाला है ? ।।178।।

यहाँ (आम्र) फलविशेष मे आर्थी प्रहेलिका है ।

कण्ठ मे हाथो से, हृदय पर स्तनो से आलिङ्गन करके जघाओ के मध्य ले जाया गया । वनप्रदेश मे ही इस प्रकार जल-क्रीडा करने वालो का कौन विट जल मे मधुर अस्पष्ट ध्वनि को कर रहा है ।।179।।

यह च्युतदत्ताक्षरा (प्रहेलिका-भेद) है । ("वि" को च्युत करके "घ" को रखने पर यहाँ उत्तर बनता है—"घट" ।)

17 गूढ—

क्रिया, कारक, सम्बन्ध आदि छुप हुए रहने पर गूढ होता है ।

क्रियागूढ जैसे—

इसके तन मे उठे हुए स्तनभार और स्वर्णिम कान्ति से निर्मित अग को

---

1 मे आगो न केवल रसलिप्सा (मू पा टि)

2 पुरुषवदाचरितम् (मू पा टि)

देखते हुए ये युवक किस प्रकार से कामबाण रूप ज्वर से जर्जर शरीरवाले हो गये हैं ।।180।।

यहाँ "न स्त" इस क्रिया-पद का "स्तन" शब्द के द्वारा "मुझे क्रोध नहीं है (न मे मान) केवल रस-लिप्सा है।"—इस प्रकार की अर्थ-व्यक्ति की जाती है।

क्या देखते हो ? युवतियों का पुरुषों के समान आचरण करना अन्यथा (अन्य प्रकार का) होता है।

यहाँ सम्बन्धाभिप्रायगूढ है।

पर्यनुयोगस्य पदैर्निर्भेद[1] प्रश्नोत्तरम्। यथा—

पत्र कीदृग्विध साधो प्रेषणीय महीभृता[2]।
[3]महीभृतावबधोच्चै पुराक[4] रघुनन्दन ।।181।।

इद बहि प्रश्नम्। एवम्—

काहमस्मि गुहा वक्ति प्रश्नेऽमुष्मिन् किमुत्तरम्।
[5]कथमुक्त न जानामि कदर्थयसि यत्सखे ।।182।।

इद तु अन्त प्रश्नम्।

व्युत्पत्त्यैक कारणमध्येयम्। तच्च काव्यशास्त्राद्यनेकभेदम्। तत्रोक्तिप्रधान काव्यम्। यथा कण्ठाभरणे—

यदि स्मरामि ता तन्वीं जीविताशा कुतो मम।
यदि विस्मृत्य जीवामि जीवितव्यसनेन किम् ।।183।।

यथा वा—

जेण विणा ण जिमज्जइ अणुणिज्जइ सो किआवराहोवि।
पत्तेवि णअरदाहे भण कस्स ण वल्लहो अग्गी ।।[6] 184।।

---

1 ०निर्भेद

2 राजा। महाभृता पत्र कीदृक् प्रेषणीयम्। समुद्र। मुद्रया सहितम् (मू पा टि)

3 पर्वतेन (मू पा टि)

4 क समुद्र (मू पा टि)

5 ककारपकाराभ्या मुक्तदर्पमोति जातम् (मू पा टि)

6 येन विना न जीव्यते अनुनीयते स कृतापराधोऽपि।
प्राप्तेऽपि नगरदाहे भण कस्य न वल्लभोऽग्नि ।। (मू पा टि)

ममेव वा—

[47अ] लडस ʌटइ अणुव्वेल अणुदअ सफरि व्व सुहरच्छिआ ।
अम्मो ममइ मणोरह गअणम्मि गुडिव्व उव्वसिआ ॥[1] 185॥

एवमन्यत् ।

श्रव्य श्रवणसुखदम् ।

आशीर्नान्दीनमस्कारवस्तुनिर्देशरूप [क] म् ।

18 प्रश्नोत्तर—

पदों के द्वारा पर्यनुयोग (किसी उक्ति का खण्डन करने के उद्देश्य से पूछ-ताछ) का निर्भेद (किसी बात का निर्धारण) प्रश्नोत्तर है ।

जैसे—

प्रश्न है—हे साधो ! राजा के द्वारा पत्र किस प्रकार का भेजा जाना चाहिये ? उत्तर—रघुनन्दन ने प्राचीनकाल मे पर्वत के द्वारा अच्छी तरह किसे बांधा था ? (उत्तर = समुद्रम् = (1) मुद्रया सहितम्, (2) सागरम्) । ॥ 181 ॥

यह बहि प्रश्न (नामक प्रश्नोत्तर का भेद है) । इसी प्रकार (सरस्वती-कण्ठाभरण के समान अन्त प्रश्न का उदाहरण है)—

गुहा बोलती है—मैं कौन हूँ ? इस प्रश्न का उत्तर क्या है ? हे सखे ! कहे गये को क्या नहीं जानते, जो कदर्थित (अपमानित) कर रहे हो । (इसका उत्तर दूसरी पंक्ति में निहित है) । गुहा ने पूछा—मैं कौन हूँ तो उत्तर मिला—"कदर्थयसि" को क और थ से मुक्त करके नहीं जानते ? अर्थात् "कदर्थयसि" में क और थ को निकाल दो तो शेष रहेगा—दर्यसि = दरी असि = अर्थात् "दरी हो" । गुहा और दरी पर्यायवाची हैं ।) ॥182॥

यह अन्त प्रश्न है ।

---

1 परिस्फुरत्यनुवेल मनुदवश*फरी इव सुस्वरहिता ।
अहो भ्रमते मनोरथगमने गुडी इव उद्भाविता ॥ (मू पा टि)

* ०स०

19. अध्येय—

व्युत्पत्ति का एक कारण अध्येय है । इसके (अध्येय के) काव्य, शास्त्र आदि अनेक भेद हैं । उक्तिप्रधान काव्य है । जैसे "सरस्वतीकण्ठाभरण" में—

यदि उस तन्वी को भूलता हूँ तो मेरे जीने की आशा कहाँ, यदि भूलकर जीता हूँ तो जीवित विनाश (अथवा दु ख) से क्या लाभ ? ॥183॥

अथवा जैसे—

जिसके बिना नही जिया जाता, उसका अनुनय उसके अपराध करने पर भी किया जाता है । अग्नि द्वारा नगर को जला दिये जाने पर भी कहो, किसे अग्नि प्रिय नही होता ? ॥184॥

अथवा मेरा (स्वय हरिप्रसादरचित उदाहरण) ही—

वह किनारे पर जल-रहित मछली के समान सुख-रहित होकर बार बार तड़पती है । अहो मनोरथरूपी गगन मे उड़ने के बाद वह गुड्डी (पतग) के समान चक्कर काटती है ॥185॥

इसी प्रकार अन्य (उदाहरण) है ।

20 श्रव्य—

सुनने मे सुखद लगने वाला श्रव्य होता है ।

(यह) आशीवचन, नान्दी, नमस्कार तथा वस्तुनिर्देश रूप (श्रव्य) होता है ।

प्रेक्ष्य ताण्डवलास्यादि ।

तत्र शृङ्गारप्रधान लास्य, वीरप्रधान ताण्डव, शृङ्गारवीरप्रधान छलिक, स्त्रीणा मण्डलेनैकनायक नृत्य हल्लीसक, तदेव तालप्रधान रास इत्यादि ।

एतेषामुदाहरणान्तराणि अस्मत्कृतरुक्मिणीहरणादौ स्पष्टमवलोक-नीयानि ।

आङ्गिकमभिनेयम् ।

इयत्प्रमाणास्तनयोरित्यादि यहव नाट्योचितभेदा नाट्यान्तर्ग-तोद्भूता[1] नेह प्रपञ्च्यन्ते ।

एव मिश्रमपि ।

1 ०र्गदुद्भूता

एते शब्दालङ्कारा शब्दविशेषमहिम्ना सयोगवृत्यैव काव्यास्वाद-हेतव इत्याहु । अत्र केचिदुक्तशब्दालङ्कारेषु केचिदर्थचमत्कारप्रधाना-र्थालङ्कारेषु केचित्तु काव्यवैचित्रीमात्रहेतव इति परस्पर मकीर्णा इव लक्ष्यन्ते । प्राचामनुरोधेन तु विविच्य प्रोक्ता इत्यलम् ।

इति श्रीमन्माथुरमिश्रगङ्गेशात्मजहरिप्रसादनिर्मिते काव्यालोके शब्दालङ्कार-विवेचन नाम षष्ठ प्रकाश ॥6॥

21 प्रेक्ष्य—

ताण्डवलास्य आदि प्रेक्ष्य है ।

इनमे से शृङ्गारप्रधान लास्य, वीरप्रधान ताण्डव, शृङ्गारवीरप्रधान छलिक, स्त्रियो के मण्डल के साथ एक नायक का नृत्य हल्लीमक, वहाँ (हल्लीमक) ताल-प्रधान होने पर रास इत्यादि होते है ।

इनके अन्य उदाहरण हमारे द्वारा (हरिप्रसाद के द्वारा) रचित ग्रन्थ "रुक्मिणीहरण" में स्पष्टरूप से देखने चाहिये ।

22 अभिनीति—

मङ्गिक को अभिनेय कहते हैं ।

23 वाकोवाक्य—

'इयत्प्रमाणोस्तनयो" (श्लोक 172) इत्यादि बहुत से काव्य के अन्त-र्गत उद्भूत (कहे हुए) कान्त्योक्तिभेदा को यहाँ पर विस्तार से नही कहा जा रहा है ।

24 चित्र—

इसी प्रकार "चित्र" भी (नहीं कहा गया है) ।

ये शब्दालङ्कार शब्द विशेष की महिमा से, सयोगवृत्ति से ही काव्यास्वाद के हेतु कहे गये हैं । यहाँ कुछ अलङ्कार कहे हुए शब्दालङ्कारो मे, कुछ अर्थ-चमत्कारप्रधान अर्थालङ्कारो में, तो कुछ काव्यवैचित्र्यमात्र के हेतु रूप मे परस्पर "मकीर्ण" के समान लक्षित होते हैं । पूववर्ती विवेचको के अनुरोध से विवेचना करके इनका वर्णन किया गया है, यही पर्याप्त है ।

श्रीमद् गङ्गेश माथुर (मथुरा निवासी) के पुत्र हरिप्रसाद निर्मित 'काव्यालोक" का "शब्दालङ्कारविवेचन" नामक छठा प्रकाश समाप्त हुआ ॥6॥

---

1 ०र्गदुद्भूता

अर्थालङ्कार-निरूपणम्

अर्थालङ्कारा —

> औपम्यातिशयश्लेषवास्तवैरर्थभूषणम् ।
> अलङ्कारा परे तेषामङ्गत्व यान्ति तद्यथा ॥ सू 120 ॥

औपम्य उपमा सादृश्य तत्प्रधानेन उपमोत्प्रेक्षारूपकापह्नुतिसशयसमासोक्तिस्वभावोक्तिरान्योक्तिप्रतीपार्थान्तरन्यासोभयन्यासभ्रान्तिमदाक्षेपप्रत्यनीकदृष्टान्तपूर्वसहोक्तिसमुच्चयसाम्यस्मरणानि ततो नातिरिच्यन्ते ।

तत्र तावदुपमा निरूप्यते—

> वाक्यार्थोपस्कारकमुपमा सादृश्यमतिचमत्कारि ॥ सू 121 ॥
> जलजमनोहरमाननमपयाति हृदो[1] न तन्वङ्ग्या ।

वाक्यार्थोपस्कारकमतिचमत्कारि सादृश्यमुपमा ॥

अनन्वये[2] सदृशान्तरनिवृत्तिमात्रार्थकत्वात्, व्यतिरेके[3] निषेधस्य चमत्कारिण प्रतिपत्यर्थकत्वात् सादृश्यमचमत्कारि । एवमभेदप्रधाने रूपके[4]

---

1 तन्वङ्ग्या आनन हृदयान्न अपसरतीत्यर्थं (मू पा टि)

2 गङ्गा गङ्गेव पावनीति (मू पा टि)

3 न मुखस्य तुला याति प्रफुल्लमपि पङ्कजम् ।
नित्य लक्ष्मीनिवासस्य निशि लक्ष्म्या तिरस्कृतम् । (मू पा टि)

4 भिन्नज्योत्स्नाप्रकाशेन सम्पूर्णेन मुखेन्दुना ।
शर्वरीतिमिरस्य रावाणि भवती परम् ॥ इति रूपकालङ्कार
(मू पा टि)

अपह्नुतौ[1] परिणामे[2] भ्रमे उल्लेखे, भेदप्रधाने दृष्टान्ते [47ब] प्रतिवस्तूपमाया दीपके तुल्ययोगितादौ च स्थितस्यापि सादृश्यस्य नातिचमत्कारित्वेति नोपमा ।

"त्वयि कोप सरोजाक्षि सुधांशाविव पावक" इत्यादौ तु कल्पितमसत् सादृश्य पुरोध्यालपराङ्गनालिङ्गनमिवाह्लादकारि ।

उदाहरणे उपमानस्य जलजमनोहरत्वसाम्येन प्रतीयमाना उपमा वाक्यार्थस्य विप्रलम्भस्योपस्कारकत्वादलङ्कारा ।

अर्थालङ्कार

अब अर्थालङ्कार का निरूपण किया जा रहा है—

औपम्य, अतिशय, श्लेष और वास्तव मे अर्थालङ्कार होते है । अन्य अलङ्कार उन (अर्थालंकारो) के अङ्गत्व को प्राप्त होते है ।। सू 120 ।।

औपम्य उपमा है । वह सादृश्य है । उसके प्रधान होने से उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, स्वमत, उत्तर अन्योक्ति प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमत्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण अलङ्कार होते हैं । इसमे अधिक (अतिरिक्त) नही है ।

I उपमा—

इनमे से यहाँ उपमा का विवेचन करते है—

वाक्यार्थ का सुशोभित करने वाला (उपस्कारक) अतिचमत्कारी सादृश्य उपमा है ।। सू 121 ।।

जैसे—कृशाङ्गी का चन्द्रमा के समान मनोहर मुख हृदय से नहीं हटता है ।

वाक्यार्थ को सुशोभित करने वाला अत्यधिक चमत्कारी सादृश्य उपमा है ।

("गङ्गा गङ्गा के समान ही पवित्र करने वाली है" इत्यादि) अनन्वय अलङ्कार मे अन्य सादृश्य (उपमान) का अभाव मात्र वर्णित करना ही प्रयोजन

---

1 हृन्नयनानन्दस्य विषमेव विषस्वबिन्दुरदम् ।
ज्योत्स्ना पिबति चकोरी न दिवा चैतद्यमेति वन ह्यपह्नुति (मू पा टि)

2 इति हरिणनयनो स मल्लार पश्यति परिणाम (मू पा टि)

रहता है (अर्थात् वर्णनीय गङ्गा आदि के सदृश अन्य कोई पदार्थ नहीं है, अत यहाँ सादृश्य चमत्कारी नहीं है। "खिला हुआ कमल भी मुख की तुलना प्राप्त नहीं कर सकता" तथा "रात्रि में नित्य लक्ष्मी के द्वारा लक्ष्मी के निवास का तिरस्कार किया गया" इत्यादि में विद्यमान) व्यतिरेक अलङ्कार में (सादृश्य का) निषेध चमत्कारजनक होने से, सादृश्य अचमत्कारी है। इसी प्रकार ("स्मित रूपी चाँदनी के प्रकाश से, परिपूर्ण मुखरूपी चन्द्रमा से तथा तारक–मौक्तिक रूपी आकल्प–शृङ्गार से आप पूर्णिमा की सुन्दर निशा है" इत्यादि) रूपक अलकार में, ("शिव के नयनों की अग्नि से जला हुआ विष ही पककर यह चन्द्रमा बन गया है, अत चकोर जब इसकी चाँदनी को पीता है तो उसे दिन में चेतना नहीं रहती" इत्यादि रूप) अपह्नुति अलङ्कार में, ("देखो, हरिरूपी बादल मेरे सताप को दूर करते हैं" इत्यादि रूप) परिणाम अलङ्कार में, भ्रम अलङ्कार में और उल्लेख अलङ्कार में (सादृश्य चमत्कारजनक नहीं है। इसी प्रकार) भेदप्रधान दृष्टान्त अलङ्कार, प्रतिवस्तूपमा, दीपक, तुल्ययोगिता इत्यादि अलङ्कारों में सादृश्य स्थित होने पर भी अत्यधिक चमत्कारजनक नहीं है, अत यहाँ उपमा अलङ्कार नहीं है (सादृश्य के अत्यधिक चमत्कारयुक्त होने पर ही उपमा अलकार होता है)।

"हे कमल के सदृश नेत्रों वाली! तुममें कोप चन्द्रमा में आग के समान प्रतीत होता है"—इत्यादि में कल्पित असत् (मिथ्या) सादृश्य पूर्व में सोची गयी अन्य स्त्री के आलिङ्गन के समान आह्लादकारी है।

(उपमा के "जलज मनोहर" इत्यादि) उदाहरण में उपमान के जलजमनोहरत्व साम्य के द्वारा प्रतीयमान उपमा वाक्यार्थरूप विप्रलम्भ को सुशोभित करती है, अत यहाँ उपमा अलङ्कार है।)

[1]उपमानोपमेयवाचकसाधारणधर्मयोगिनी पूर्णा ।। सू 122 ।।

तडिदिव गौरी सुतनु कस्य न चित्त विमोहयति ।।

उपमान चन्द्रादि उपमेय मुखादि वाचकमिव सदृशतुल्यादि आह्लादकारित्वादि साधारणो धर्म । यथा–तडित् उपमान सुतनुरुपमेय इव शब्दो वाचक गौरत्व साधारणो धर्म, कस्य न चित्त विमोहयतीत्यनेकपुरुषव्यामोहकत्वेन दुर्लभतदुपभोगचिन्तालक्षणस्य वाक्यार्थस्योपस्कारकत्वादलङ्कार ।

1 उपमोप ०

श्रौत्यार्थी च द्वेधा सादृश्योद्बोधकस्य भेदेन ।
वाक्ये समासवाक्ये तद्धितवाक्ये च षोढैषा ॥ सू 123 ॥

एषा पूर्णोपमा साक्षात्सादृश्यवाचकपदश्रवणात् श्रौती वाचकपदार्थपदोपादानादार्थी चेति द्विविधा । वाक्ये असमस्तपदसम्बन्धरूपे समासरूपे तद्धितरूपे च प्रतीयमाना इत्येव षोढारूपा ।

उपमा के भेद—

(उपमा दो प्रकार की है—पूर्णा और लुप्ता ।)

पूर्णोपमा—उपमान, उपमेय, सादृश्यवाचक और साधारण धर्म (ये चारो उपमा के अंग यहाँ शब्द द्वारा स्पष्ट) कथित होते है, वहाँ पूर्णा उपमा होती है । ॥ सू 122 ॥

जैसे—बिजली के समान गौर वर्णा सुतनु सुन्दरि किसके चित्त को मोहित नही करती ?

चन्द्र आदि उपमान, मुख आदि उपमेय, इव, सदृश, तुल्य आदि शब्द वाचक तथा आह्लादकारिता आदि साधारण धर्म हैं । जैसे—तडित् उपमान, सुतनु उपमेय, इव शब्द वाचक और गौरत्व साधारण धर्म हैं । "किसके चित्त को मोहित नही करता" इससे अनेक पुरुषो के लिए व्यामोहकारी होने से, "इसका उपभोग दुर्लभ है", इस चिन्तारूप लक्षण से वाक्यार्थ को सुशोभित करने के कारण यहाँ (उपमा) अलङ्कार है ।

पूर्णोपमा के छह भेद—

सादृश्यवाचक शब्द के भेद से पूर्णोपमा श्रौती और आर्थी दो प्रकार की होती है । पुन दोनो मे से प्रत्येक वाक्य मे, समासवाक्य मे तथा तद्धितवाक्य मे होने से यह (पूर्णोपमा) छह प्रकार की होती है 1 श्रौती वाक्यगता, 2 आर्थी वाक्यगता, 3 श्रौती समासगता, 4 आर्थी समासगता 5 श्रौती तद्धितगता और 6 आर्थी तद्धितगता) ॥ सू 123 ॥

श्रौती और आर्थी उपमा—

यह पूर्णोपमा दो प्रकार की होती है—श्रौती और आर्थी । साक्षात् सादृश्यवाचक पद के श्रवण से श्रौती उपमा होती है और वाचकपदार्थ के अनन्तर पद का ग्रहण होने से आर्थी उपमा होती है, इस प्रकार यह दो प्रकार की होती है । (यथा, इव आदि शब्दो का सम्बन्ध केवल उपमानवाचक पदो के साथ होता है,

पर शब्द श्रवण मात्र मे ही ये शब्द उपमान और उपमेय मे रहने वाले सादृश्य नामक सम्बन्ध का बोधन करते हैं, अत इवादि पदो के होने पर श्रौती उपमा मानी जाती है। परन्तु तुल्य, सदृश, सम इत्यादि शब्द उपमेय उपमान अथवा दोनो के साथ सम्बद्ध देखे जाते हैं अत ये साम्य अर्थात् उक्त सम्बन्ध अर्थानुसधान के अनन्तर ही ये शब्द बोधन करते हैं, अत इन शब्दो के होने पर आर्थी उपमा होती है)। समासरहित पद-सम्बन्ध रूप वाक्य मे, समासरूप मे और तद्धितरूप मे प्रतीयमान होन से पूर्णोपमा छह प्रकार की होती है। (पूर्णोपमा के दोनो भेद श्रौती तथा आर्थी के वाक्यरूप, समासरूप और तद्धितरूप से तीन-तीन भेद हो जान पर पूर्णोपमा के छह भेद हो जाते है।)

वाक्ये श्रौती यथा—

मेघ[1] इवाय कृष्ण[2] कृष्ण[3] किमु रागमावहसि।

मलिने सौहार्द नास्तीति भगवता कृतस्यात्मनो वञ्चनस्य व्यक्ति-र्वाक्यार्थ।

तत्रार्थी यथा—

शशिना तुल्य वदन सन्ध्याराग तनोति मे मनस।

सन्ध्याया रागेण[4] भवितव्य मनसश्च प्रसिद्धशास्त्रसङ्केतेन चन्द्र-सम्बन्धरूपया सन्ध्यया भवितव्य, ततश्च कृष्णस्यापि[5] श्रीगोविन्दस्य मुखेन्दुसम्बन्धेन मामको हृदयानुराग इति वाक्यार्थ। इवार्थकतुल्यप-[48अ] Λदोपादाना [दा] र्थी।

श्रौती आर्थी च समासरूपे यथा—

गङ्गेव कीर्तिरमाला त्वमपि शशाङ्कोपम कलाभिरिति।
मधुधारेव रमाला वागपराकासमोऽसि रुचा॥

अत्र इवेन समास सादृश्यवाचकोपमापदेनोभयत्र दर्शित।

---

1 श्लेषे तु मे मम अघ इव अघस्य श्यामवर्णत्वात् (मू पा टि)
2 श्याम (मू पा टि)
3 हरि (मू पा टि)
4 ० न
5 श्यामस्यापि (मू पा टि)

श्रौती तद्धितगा यथा—

नवजलधरवल्लोका स्पृहयन्ति तवोदय यदमी ।

अत्र वतेस्तत्र तस्य चेति विधानाच्छ्रौती । सहृदयहृदयप्रमाणक जलधरसादृश्यमतिचमत्कारि ।

ततश्च तद्धितगतार्थी उदाहरणे—

अम्बुजवद्विपुलेक्षण[1] वीक्षणमक्षीणता याति ।

"तेन तुल्यमि"ति वते सादृश्यवदर्थतया प्रतीतस्य सादृश्यस्य वीक्षणमक्षीणता यातीति वीक्षणस्याऽक्षीणता निदर्शनसमर्थितत्वादलङ्कारान्तर न शङ्कनीय लक्षण[2]गताऽतिचमत्कारमहिम्ना पदार्थान्तरस्य निगीर्णत्वात् ।

वाक्यगा श्रौती और आर्थी पूर्णोपमा—

वाक्य मे श्रौती जैसे—

यह कृष्ण तो मेघ के समान (अथवा—"म"—मेरे "अघ"—पाप के समान) श्यामवर्ण का है। इसमे राग (प्रेम और रग) क्यो धारण करती हो ?

मलिन पर प्रेम नही होता, अत भगवान की स्तुति के द्वारा आत्मवञ्चना की अभिव्यक्ति ही वाक्यार्थ है ।

(वाक्यगत) आर्थी पूर्णोपमा जैसे—

शशि के समान मुख मेरे मन मे सन्ध्या-राग फैला रहा है ।

सन्ध्या मे राग (रग) होना चाहिये और प्रसिद्ध शास्त्र सकेत के अनुसार मन मे चन्द्रसम्बन्धरूपा सन्ध्या होनी चाहिये । साथ ही इसके बाद रग (श्याम-वर्ण) के श्रीगोविन्द के मुख सम्बन्ध से मेरे हृदय मे अनुराग होना चाहिये—यह वाक्यार्थ है । इव अर्थ वाले "तुल्य" पद से (सादृश्य का) ग्रहण करने के कारण यहाँ आर्थी (वाक्यगत पूर्णोपमा) है । (यहाँ शशिरूप उपमान, वदनरूप उपमेय, सन्ध्याराग का विस्तार साधारणधर्म और "तुल्य" सादृश्यवाचक है, इनका प्रतिपादन होने से उपमा पूर्ण है ।)

---

1 हे (मू पा टि)

2 वाक्यार्थोपस्कारकमित्यत्र लक्षणे(मू पा टि)

समासगा श्रौती और आर्थी पूर्णोपमा—

श्रौती तथा आर्थी समासरूप में जैसे—

गङ्गा के समान निर्मल कीर्ति है, कलाओं को धारण करने से तुम भी चन्द्रमा के समान हो। मधु की धारा के समान मीठी वाणी है, अब तुम अपनी कान्ति से पूर्णिमा की रात्रि के समान हो ॥ 186 ॥

यहाँ 'इव" के साथ ("गङ्गा" तथा "मधुधारा" का समास हुआ है अत श्रौती उपमा समासगत है) और सादृश्यवाचक "उपमा" पद के साथ ("शशाङ्क" पद का) समास होने से आर्थी उपमा समासगत है। इस प्रकार (श्रौती पूर्णोपमा तथा आर्थी पूर्णोपमा) दोनो के ही समासगत भेद का उदाहरण यहाँ बता दिया गया है।

तद्धितगा श्रौती और आर्थी पूर्णोपमा—

श्रौती तद्धितगा जैसे—

तुम्हारे इस उदय को ये प्रजाएँ नवीन जलधर (बादल) के समान चाहती हैं।

यहाँ "तत्र तस्येव" (अष्टा 5, 1, 16) सूत्र से "वति" प्रत्यय "इव" अर्थ में हुआ है अत: श्रौती उपमा है। सहृदय-हृदय का प्रमाणक जलधर का सादृश्य अतिचमत्कारी है।

इसके पश्चात् तद्धितगता आर्थी के उदाहरण में—

हे कमल के समान विशाल नेत्रो वाले ! देखना अकृशता को प्राप्त करता है।

'तेन तुल्य क्रिया चेद्वति " (अष्टा 5, 1, 115) इस पाणिनि सूत्र से "वति" प्रत्यय "तुल्य" के अर्थ में सादृश्ययुक्त में हुआ है अत आर्थी उपमा है। प्रतीत सादृश्य में "वीक्षणमक्षीणता याति" (देखना अक्षीणता को प्राप्त करता है), यहाँ "वीक्षणस्याक्षीणता" (देखने की अक्षीणता) निदर्शन (अलङ्कार) समर्थित होने से अन्य अलंकार की शका नहीं होनी चाहिए। 'वाक्यार्थोपस्का-रकम्" इत्यादि उपमा के लक्षण में अतिचमत्कारक महिमा के पदार्थान्तर के निगीर्ण करने से (अलङ्कारान्तर नहीं मानना चाहिये।)

लुप्तोपमाभेदानुदाहरति ।

वाचकलुप्ता—

तर्‌ङ्गी सरसिजदलदीर्घायनेयम् ।

सरसिजदले इव दीर्घे नयने यस्या इतीवशब्दस्य समासे लोपात् सेय[1] समागमा। उपमानवाचककर्मोपपदाचारार्थे क्यच्प्रत्ययगम्या। उपमानवाचकाऽधिकरणोपपदाचारार्थक्यच्प्रत्ययगम्या। [2]तादृशकर्तृ पपदाचारार्थविहितक्यङ्प्रत्ययगम्या। तादृशकर्मोत्तरविहितणमुल्गम्या। तादृक्कर्तृ पदोत्तरणमुल्गम्येति षोढा।

तत्र समासे दर्शिता। कर्माधारक्यचोर्यथा—

अनलीयति शीतांशु[3] सुगागृह[4] काननीयति प्रसभम्।

अनलमिवाचरतीत्यर्थे "उपमानादाचारे" इति सूत्रेण क्यच्, कानन[5] इवाचरतीत्यर्थे "अधिकरणाच्चे" ति वार्त्तिकेन क्यच्।

क्यङा यथा—

तव विरहेण वनाऽम्या निरुदकमीनायते[6] हृदयम्।

अत्र "कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे" ति क्यङ्।
एषु[7] सादृश्यवाचकाभावाद्वाचकलुप्ता।

[48 ब] उभयत्र णमुला[8] यथा—

अवलोक्य सुधापायं[9] वसन्ति धन्यास्तु निर्जरावासम्।

अत्र सुधामिव निर्जरा इवेति "उपमाने कर्मणि चे"ति चकारात्कर्त्तर्यपि णमुल्।

लुप्तोपमा के उन्नीस भेद—

लुप्तोपमा के भेद कहते हैं—

---

1 वाचकलुप्तोपमा (मू पा टि)
2 उपमानवाचकत्वमनुपपद्यते (मू पा टि)
3 ०शु
4 ० हे
5 वने (मू पा टि)
6 निरुदकमीन उदकरहित मत्स्य स इवाचरति (मू पा टि)
7 उदाहरणेषु (मू पा टि)
8 कर्तृकर्मोत्तरणमुल् (मू पा टि)
9 सुधामिव पीत्वा सुधापाय (मू पा टि)

वाचकलुप्ता के छह भेद—

वाचकलुप्ता—

यह लम्बी कमलपत्र (के समान) विशाल नेत्रा है।

जिसके सरसिजदल (कमलपत्र) के समान दीर्घ नेत्र हैं—यहाँ वाचक 'इव' शब्द का समास में लोप होने पर भी सादृश्य की प्रतीति होती है अतः (1) समासगा वाचकलुप्तोपमा मानी जायेगी। (2) उपमान वाचक कर्म उपपद में आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय जन्या वाचक लुप्तोपमा होती है। (3) उपमान वाचक अधिकरण उपपद इव अर्थ में क्यच् प्रत्यय जन्य वाचक लुप्तोपमा होती है। (4) उसी प्रकार (उपमानवाचक) कर्ता उपपद इव अर्थ में विहित क्यङ्-प्रत्यय जन्या वाचकलुप्ता होती है। (5) उसी प्रकार कर्म में विहित णमुल् जन्या वाचक लुप्तोपमा होती है। (6) इसी प्रकार कर्ता पद के बाद णमुल् जन्या लुप्ता होती है। इस प्रकार यह छः प्रकार की वाचकलुप्ता होती है।

समास में वाचकलुप्ता दिखा दी गयी है। कर्म और आधार में क्यच् प्रत्यय जन्य वाचक लुप्तोपमा का उदाहरण जैसे—

चन्द्रमा हठात् अग्नि के समान और सुधागृह कानन के समान प्रतीत होता है।

"अग्नि के समान आचरण करती है" इस अर्थ में (अनल शब्द से) "उपमानादाचारे" (अष्टा–3 1 10) इस सूत्र से क्यच् प्रत्यय (होकर "अनलीयति' बना है)। "घर में जैसा व्यवहार किया जाता है वैसा व्यवहार करती है" इस अर्थ में (कानन शब्द से) अधिकरणाच्च" इस वार्तिक से क्यच् प्रत्यय (होकर "काननीयति" यह शब्द बना है। इस प्रकार 'अनलीयति" शब्द कर्म में क्यच् प्रत्यय होकर और "काननीयति" अधिकरण में क्यच् प्रत्यय होकर वाचकलुप्तोपमा के उदाहरण हैं)।

क्यङ् प्रत्यय होने पर वाचकलुप्ता जैसे—

खेद है कि तुम्हारे विरह में उसका हृदय जलरहित मछली के समान आचरण करता है।

यहाँ (जल-रहित मछली के समान आचरण करता है, इस अर्थ में) "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" (अष्टा 3, 1, 11) इस सूत्र से क्यङ् प्रत्यय (होकर "मीनायते" शब्द बना है)।

इन उदाहरणों में सादृश्यवाचक पदों का अभाव होने से वाचकलुप्ता हैं।

दोनों स्थलों पर (कर्ता और कर्म में) णमुल् प्रत्यय होने पर वाचकलुप्ता जैसे—

(सुन्दरी को) देखकर, अमृत के समान पीकर सौभाग्यशाली व्यक्ति देवताओं के समान ही वास करते हैं।

यहाँ "सुधामिव" में "उपमाने कर्मणि च" (3, 4, 45) इस सूत्र से (कर्म में) तथा 'निर्जरा इव" में (उपमानादाचारे सूत्र से) "चकार" ग्रहण करने से कर्ता में णमुल् प्रत्यय हुआ है (और तब "सुधापायम्" सुधा की तरह और "निर्जरवासम्" "देवता के वास की तरह" यह अर्थ होता है, अतः यहाँ वाचक-लुप्ता है)।

संबोधमानलुप्ता क्रमेण वाक्ये समासे च ।।सू 124।।

सा लुप्तोपमा आर्थ्येव ।

न त्वयान्यत्सदृशं कमनीयमिहलोके ।

इयं तु वाक्यगता । समासे यथा—

नेन्दीवरसममपरं किञ्चिन्मम नयनसुखकारि ।

धर्मलुप्ता वाक्ये समासे च श्रौत्यार्थी तद्धितगता त्वार्थ्येवेति ।।सू 125।।

पञ्चप्रकारेत्याह—वाक्येऽपि समासेऽपि[1] द्विविधार्थी तद्धिते च धर्मलुप्ता ।

उदाहरति—

"कोकनदेन समानं वदनम्" इहार्थी वाक्यगता ।

"भ्रमरालिरिव कबरी", अत्र श्रौती वाक्यगता ।

"वागपि सुधेव", अत्र समासे श्रौती ।

"मतिरियं पयोधिकल्पा", अत्रार्थी तद्धितगा । ईषदसमाप्ति-रपि भङ्ग्यन्तरेण सादृश्यमेव ।

"इन्दुतुलितेयम्," अत्र समासे आर्थी ।

धर्मोपमानलुप्ता ।—

"सहकार[2] न ते सम जगति", इयं धर्मोपमानलुप्ता वाक्ये ।

---

1 वाक्ये समासे च द्विविधा श्रौती आर्थी च । तद्धिते एका आर्थी धर्मलुप्ता धर्मलुप्तत्वेन (मू पा टि)

2 हे (मू पा टि)

"न भवत्सदृश भङ्ग[1] भ्रमताऽपि विलोकित भुव' इह तु तादृशो[2] समासगता ।

उपमानलुप्ता के दो भेद—

वही (लुप्तोपमा) वाक्य और समास में क्रम से उपमानलुप्ता होती है ।।सू 124।।

यह उपमानलुप्ता केवल वाक्यगत और समासगत आर्थी उपमा रूप ही होती है ।

' इस ससार मे तुम्हारे समान कमनीय (सुन्दर) अन्य कोई नही हैं ।"

(यहाँ त्वया का उपमान प्रतिपादित नही किया गया । अत उपमान लुप्त होने से उपमानलुप्ता है और "सदृश" के साथ समास नहीं होने से) यह वाक्यगता उपमानलुप्ता है । समासगता उपमानलुप्ता जैसे—

नीलकमल के समान अन्य कोई मेरे नयनों को सुखकारी नहीं है ।

(यहाँ नीलकमल का उपमान लुप्त है और ' इन्दीवर" का "सभम" के साथ समास होने से समासगता उपमानलुप्ता है ।)

धर्मलुप्ता के पाँच भेद—

धर्मलुप्ता उपमा श्रौती और आर्थी दोनों मे वाक्य और समास दोनो मे होती है । तद्धितगता केवल आर्थी मे ही होती है ।।सू 125 ।।

धर्मलुप्ता के पाँच भेद कहते है—धर्म (साधारण धर्म) का लोप होने पर वाक्य मे भी और समास मे भी दोनों प्रकार की श्रौती आर्थी उपमा होती है और तद्धित मे केवल आर्थी उपमा होती है । (इस प्रकार धर्मलुप्ता के पाँच भेद हैं—1 वाक्यगता श्रौती धर्मलुप्ता, 2 वाक्यगता आर्थी धर्मलुप्ता, 3 समासगा श्रौती धर्मलुप्ता 4 समासगा आर्थी धर्मलुप्ता और 5 तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ता ।)

उदाहरण देते हैं—

(कोष मे) मुख कमल के समान है ।

(यहाँ उपमेय मुख तथा उपमान रक्तकमल का सादृश्य सिद्ध करने वाले रक्तता कोमलता आदि धर्म उक्त नही हैं । अत उपमा धर्मलुप्ता है ।

---

1 हे (मू पा टि)

2 धर्मोपमानलुप्ता (मू पा टि)

"समान" पद मे सादृश्य का प्रतिपादन करने मे आर्थी और असमस्त होने से वाक्यगत है। इस प्रकार) यहा वाक्यगता आर्थी धर्मलुप्ता है।

"भ्रमर-पंक्ति के समान केशपाश है"—यहाँ वाक्यगता श्रौती धर्मलुप्ता है।

'वाणी भी अमृत के समान है"—यहाँ समासगा श्रौती धर्मलुप्ता है।

"समुद्र के समान बुद्धि है"—यहाँ कल्पप रूप तद्धित प्रत्यय से सादृश्य का बोध होने से तद्धितगता तथा आर्थी और (धर्म की अनुक्ति से) धर्मलुप्ता उपमा है। ("ईषत् असमाप्ति अर्थात् थोडा कम होना" इस अर्थ मे कल्पप् प्रत्यय का विधान होता है।) थोडा कम होना भी दूसरे ढग से सादृश्य ही है।

"यह चन्द्रमा के तुल्य है"—यहाँ (' इन्दु" पद का "तुलिता" पद के साथ समास होने से समासगा, 'तुलित' पद से सादृश्यकथन के कारण आर्थी और (धर्म के अकथन से धर्मलुप्ता) उपमा मानी जायेगी।

धर्मोपमानलुप्ता के दो प्रकार—धर्मोपमानलुप्ता (के उदाहरण) हैं—

हे आम्र! ससार मे तुम्हारे समान कोई नही है।

(यहाँ सहकार का कोई उपमान नही दिया गया है तथा धर्म भी लुप्त है अत) यह वाक्यगत धर्मोपमानलुप्ता का उदाहरण है।

हे भ्रमर! चारो ओर घूमते हुए भी पुन आपके समान कोई नही देखा गया।

यहा (' भवत्सदृश" मे) समासगता है और उसी प्रकार उपमान व धर्म का कथन न होने से (धर्मोपमानलुप्ता) है।

वाचकधर्मविलुप्ता—

भूपाल कुचेषु वनितानां हारन्ति कीर्तयस्ते हरन्ति हृदयेषु च मुनीनाम्।

अत्र हारन्ति[1] हरन्तीति आचारार्थक-क्विपा हारमिवाचरन्ति हरमिवाचरन्तीति[2] पक्षे हारादीनां स्वसादृश्यबोधकतेति लक्षणया वाचकधर्मलोप स्पष्ट।

वदनाम्बुजे युवत्या परागता वहति पटवास'।
कान्त तव दशनकिरणश्रेणिरिव केशराणि पुन ॥187॥

---

1 हे (मू पा टि)
2 °रन्तिति°

अत्र न[1] विशेषणसमास किन्तु उपमितिसमास ।

अपहृतमन्त करण[2] प्रविश्य वपुषा तिलोत्तमीयन्त्या ।

सैवोपमेयवाचकलुप्ता । अत्र तिलोत्तमामिवात्मानमाचरन्त्येत्याचारार्थे क्यचि सादृश्यस्य स्वात्मनोपमेयेन सममेव लोपात् ।

मृगनयनयेति परा ।

धर्मोपमानवाचकलुप्तेत्यर्थ । स्वस्वमात्रबोधकपदाभावात्त्रयाणा लोप ।

धाचकधर्मविलुप्ता के दो भेद—वाचकधर्मविलुप्ता (मे धर्म और वाचक दो के लोप होने पर दो भेद होते हैं—1 क्विपगता वाचकधर्मविलुप्ता और 2 समासगा वाचकधर्मविलुप्ता)—

हे राजन् ! आपकी कीर्त्तियाँ वनिताओं के कुचो पर हार के समान आचरण करती हैं और मुनियो के हृदय पर हर (शिव) के समान आचरण करती हैं ।

यहां 'हारन्ति' और "हरन्ति" इनमे (सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विप्वा वक्तव्य "–इस वार्त्तिक से) आचार अर्थ मे क्विप् प्रत्यय होता है । तब "हार के समान आचरण करती है", "हर के समान आचरण करती है" यह अर्थ द्योतित होता है । इसके अनुसार हार आदि शब्द लक्षणा के द्वारा हार आदि के सादृश्य के बोधक होते हैं(यहाँ धर्म-आचार के बोधक क्विप् प्रत्यय का लोप हो चुका है अत) धर्म (आचार) का लोप स्पष्ट है और (सादृश्य का बोधक पद यहाँ नहीं है अत) वाचक का लोप भी स्पष्ट है ।

हे प्रिय ! तुम्हारी प्रिया नायिका के मुखकमल पर पटवस्त्र परागता को धारण करता है (पराग जैसे प्रतीत होता है) और दाँतो की किरणावलि केसर के समान प्रतीत होती है ॥187॥

यहाँ (वदन च तदम्बुज च) इस विग्रह मे विशेषणसमास (कर्मधारय समास) नही है किन्तु (वदन अम्बुजम् इव वदनाम्बुजम्–इस विग्रह से 'उपमित व्याघ्रादिभि सामान्याप्रयोगे") (अष्टा 2 1.56), इस सूत्र से 'वदनाम्बुजम्' शब्द बना है और) उपमितिसमास है ।

उपमेयवाचकलुप्ता—शरीर से तिलोत्तमा (एक अप्सरा) के समान आचरण करती हुई उस (सुन्दरी) ने प्रवेश करके अन्त करण का अपहरण कर लिया ।

---

1 वदन च तदम्बुज चेति समासो न (मू पा टि)

2 करणं०

यही उपमेयवाचकलुप्ता है। यहा "तिलोत्तमामिवात्मानमाचरन्ती" अर्थात "अपने आप मे तिलोत्तमा के समान आचरण करती हुई" इस अर्थ मे तिलोत्तमा पद से आचारार्थ मे क्यच् प्रत्यय होकर सादृश्य का (लोप हुआ है) तथा स्वात्म रूप उपमेय का साथ ही लोप होने से (उपमेयवाचकलुप्ता) है।

धर्मोपमानवाचकलुप्ता— मृगनयनया"– "मृग के नेत्रो के समान नेत्रो वाली नायिका के द्वारा", यह अन्य (धर्मोपमानवाचकलुप्ता का उदाहरण है)।

यहाँ धर्मोपमानवाचकलुप्ता होती है यह अभिप्राय है। (मृगस्य नयने इव नयने यस्या "इस विग्रह से" 'सप्तम्युपमानपूवस्य" इस 'अनेकमन्यपदार्थे" सूत्र के भाष्य वार्तिक से समास होकर उत्तरपद उपमानवाचक नयनपद का लोप हुआ है। यहाँ उपमान–मृगनयन, धर्म–विशालता, चपलता आदि और वाचक–सादृश्य-बोधक "इव" आदि है) इनके केवल मात्र अपन (एक-एक) का बोध करान वाले पद का अभाव है अत यहाँ साधारणधर्म, उपमान तथा वाचक इन तीनो का लोप माना जायगा।

वाचकलुप्तासु "कर्त्तर्युपमान" इति णिनौ सप्तम्यपि। यथा कोकिल इवालपति कोकिलालापिनी। तथा "इवे प्रतिकृतावि"ति कनि [49अ] "लुम्मनुष्य इति चञ्चेवेत्यर्थे "चञ्चा पुरुष" इत्यष्टमी। "आह्लादि वदन तस्या शरद्राकामृगाङ्कति" इत्यादावाचारक्विपि पदान्तरेण प्रतिपादिते समाने धर्म्मे नवम्यपि।

एवमुपमानलुप्ता द्विविधोपवर्णिता तृतीयापि दृश्यते। यथा

"तदेतत्काकतालीयमिति"। अत्र काकागमनतालपतन गेधकयो काकतालशब्दयोरिवार्थे" समासाच्च तद्विषयादि"ति ज्ञापकात्समासे काक इव ताल इव काकताल काकतालसदृश [1] समागम इति वाक्यार्थ। काकतालमिवेति द्वितीयस्मिन्निवार्थे च्छप्रत्यय पतनदलिततालफलोपभोगरूपस्योपमानस्य लोप प्रत्ययार्थोपमाया[2] समासार्थोपमाया[3] वाचकोपमानलोप अवितर्कितसम्भवमिति। धर्मानुपादाने प्रत्ययार्थोपमाया धर्मोपमानलोप समासार्थोपमाया धर्मोपमानवाचकलोप।

---

1 ०लशदृश
2 काकतालमिव काकतालीयमित्यत्र (मू पा टि)
3 काकमिव तालमित्यत्र (मू पा टि)

यद्यपि ययचि ययङि धर्मलोपस्यापि सम्भवान्न वाचकमात्रलुप्तो-दाहरण सगच्छते तथापि प्राचामनुरोधो न्याय्य[1] इत्युक्तम् ।

इत्युपमालङ्कार ॥1॥

पच्चीस उपमाभेदों के अतिरिक्त अन्य उपमा-भेद—(उपमा के पच्चीस भेद कहे जा चुके हैं। कतिपय विद्वानों ने इन पच्चीस भेदों के अतिरिक्त अन्य भी कुछ उपमा-भेद कहे हैं, उनका भी विवेचन अब किया जा रहा है–)

छह वाचकलुप्ता के अतिरिक्त तीन अन्य भेद—वाचकलुप्तोपमा के छह भेद कहे है—पर) "कर्तयु पमाने" (3 279) इस सूत्र से णिनि प्रत्यय करके वाचकलुप्ता का सातवाँ भेद भी देखा जाता है। जैसे—"कोकिल इवालपति" "कोयल के समान आलाप करती है" इस अर्थ मे णिनि प्रत्ययान्त "कोकिलालापिनी" पद देखा जाता है (यहाँ वाचक "इवे" आदि के न रहने पर भी सादृश्यरूप उपमा होने से वाचकलुप्ता है)। इसी प्रकार "इवे प्रतिकृतौ" (5, 3, 99) इस सूत्र मे "कन्" प्रत्यय होने पर "लुम्मनुष्ये" (५, 3, 98) इस सूत्र से "कन्" प्रत्यय का लोप हो जाता है। "चञ्चा" (घास) शब्द से (बनी हुई प्रतिकृति के समान इस अर्थ मे) "कन्" प्रत्यय करने पर "चञ्चा" शब्द का अर्थ है "घास से बनी हुई प्रतिकृति के समान"। "चञ्चा पुरुष" "वह पुरुष घास से बनी हुई प्रतिकृति के समान है" यहाँ उपमा है और इवादि वाचक का लोप है अत वाचकलुप्तोपमा का आठवाँ भेद है। "उस (नायिका) का आह्लादकारी मुख शरत्कालीन पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान आचरण करता है" इस वाक्य मे आचार अर्थ मे क्विप् प्रत्यय होने पर—"शरदाकामृगाङ्कति' शब्द बना है। यहाँ दूसरे पद (आह्लादि) से समानधर्म प्रतिपादित किया गया है (और उपमा स्पष्ट है, पर सादृश्यवाचक इवादि का प्रयोग नही होने से वाचकलुप्ता का) नवा भेद भी दृष्टिगोचर होता है।

उपमानलुप्ता का तृतीय सङ्घितगत भेद तथा अन्य भेद—इसी प्रकार उपमा-लुप्ता मे (वाक्यगत और समासगत ये) दो भेद पहले वर्णित किये जा चुके है, उसका तीसरा भेद भी देखा जाता है। जैसे–"तदतरकाकतालीयम्" अर्थात् वह यह (घटना) तालपतन से होने वाले काकवध के समान है। यहाँ काक (कौए) के आगमन और ताल (ताड) मे पतन के बोधक काक और ताल शब्द का "इव" अर्थ म "समासाच्च तद्विषयात्" (5, 3, 106) इस शास्त्र से समास होने पर "काक इव ताल इव" (कौए के आने के समान और ताड गिरने के समान "इस

1 न्याय

अर्थ मे) "क इत न इ" रूप वात है। 'काकतालम्" क वाक्यार्थ हुआ "कौए" (के आगमन के साथ) ताड (के पतन के समागम) के समान (व्यक्ति विशेष का) समागम"। "काकतालमिव" इस अर्थ मे (काकताल शब्द से) दूसरे इव के अर्थ मे "छ–ईय" प्रत्यय करने पर ("काकतालीय" पद बनता है)। 'काकतालमिव काकतालीयम्" इव प्रत्ययार्थरूप उपमा म ताल पतन से टूटे हुए तालफल के उपभोग रूप उपमान लुप्त है ("ईय" प्रत्यय सादृश्य का वाचक है अत यहाँ वाचकलुप्ता नहीं। यह भेद तद्धितगत होने से पूर्वोक्त वाक्यगत और समासगत भेदों से भिन्न उपमानलुप्ता का भेद है)।

वाचकोपमानलुप्ता—'काकमिव तालमिव काकतालम्" इस समासरूप उपमा मे वाचक तथा उपमान दोनों का ही लोप हुआ है, जिससे वाचकोपमान-लुप्ता नामक अन्य भेद भी दृष्टिगोचर होता है, जिसका उल्लेख पूव मे नहीं किया गया है।

तद्धितगत धर्मोपमानलुप्ता–प्रत्यय रूप उपमा म धर्म का कथन नही होने पर धर्मोपमानलुप्ता का तीसरा तद्धितगत भेद भी हो सकता है और समासरूप उपमा मे धर्मोपमानवाचकलुप्ता का भेद हो सकता है।

यद्यपि (प्राचीनोक्त उपमा के 25 भेदों मे मे) क्यच् गत तथा क्यङ्गत वाचकलुप्ता के उदाहरण मे धर्म का लोप भी सम्भव होने से केवल वाचकलुप्ता कहना सगत प्रतीत नहीं होता फिर भी प्राचीनों का अनुरोध भी न्याय्य है, इसी-लिए इसका वर्णन किया गया है।

उपमा अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ ॥1॥

[1]अतिरिक्तसदृशनिरसनमियमुपमेयोपमा भवति ॥सू 126॥

निरसनमिति तत्फले लाक्षणिक[2] अतिरिक्तसदृशव्यवच्छेदफलक चम-त्कारि सादृश्यमुपमेयोपमेत्यर्थ इयमिति परस्परमुपमानोपमेयभावापत्ति-रर्थयोर्लक्ष्यते।

उदाहरति—

शशिना तुल्य वदन वदनेन समः शशी सुनते।

---

1 तृतीय सदृशनिषेध इत्यर्थ (मू पा टि)

2 ०क्षिणक

एतेन 'तडिदिव भवनी तन्वी भवनीव तडिल्लता गौरी" त्यत्र परस्परोपमाया धर्मभेदेन सादृश्योक्तिस्तृतीयसादृश्य[1] न व्यवच्छिनत्ति तत्फलत्वाभावात् । एव तृतीयसादृश्यव्यवच्छेदफलकेऽपि—

> अखिलविभ्रमत [2]तत्सदृशी नान्या विधातुरपि सृष्टौ ।
> निपुण विभाविताया शशाङ्कलेखैव किञ्चिदाभाति ॥188॥

[3]इति सादृश्ये परस्परोपमानोपमेयभावाभावान्नेय सम्भवति ।

यथा वा—

> वनिता लतेव फलिता वनितेव लतापि तादृशी भवति ।

[49ब] आलपति कोकिलेव स्फुट वने [?] सैव कोकिलापि तथा ॥189॥

अत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नो धर्म्म ।

सेयमुक्तधर्मा अनुक्तधर्मा तु प्रागुदाहृता[4] यथा वा शूली[5]—

> वारिधिरावाशसमो वारिधिसदृशस्तथावाश ।
> सेतुरिव स्वर्गंगा[6] स्वर्गंगेवाम्बरा सेतु ॥190॥

एपा सर्वापि वाक्ये, अर्थे तु वाक्येभेदेन यथा

> अभिरामतासदनमम्बुजानने[7] नयनद्वय जनमनोहर तव ।
> इयति प्रपञ्चविषयेऽपि वेधसे तुलनामुदञ्चति परस्परात्मना ॥191॥

इत्यु [प] मेयोपमा ॥2

---

1 मृणालादि (मू पा टि) । ० दृश

2 तत्पदृह

3 मूलपाठ म सन्धि करके "किञ्चिदाभातीति" लिखा गया है ।

4 अखिलेत्यादिना (मू पा टि)
"अखिल" इत्यादि श्लोक मे सादृश्य मे परस्पर उपमानोपमेय भाव नही होने से इसे उपमेयोपमा का उदाहरण नही माना गया है । अत यहाँ "अखिलेत्यादिना" के स्थान "शशिनेत्यादिना" लिखना उचित प्रतीत होता है ।

5 जात्यायनिशूली रसगाधरकर्ता (मू पा टि)

6 स्वर्ग ०

7 सन्तारूपे प्रबन्धे (मू पा टि)

8 हे (मू पा टि)

2 उपमेयोपमा—

अतिरिक्त (तृतीय) सदृश पदार्थ का निरसन (निषेध) यह उपमेयोपमा होती है ॥सू 126॥

निरसन (इन दोनो पदार्थों की समता इन्ही दोनो पदार्थों मे है, अन्य मे नही, यह तृतीय सदृश पदार्थ की निवृत्ति का ज्ञान है इस निषेध) के फल रूप होने पर, लाक्षणिक, अन्य सदृश वस्तु के निषेध रूप फल वाला तथा चमत्कारयुक्त सादृश्य ही उपमेयोपमा अलङ्कार है—यह अर्थ है। दोनो अर्थों मे परस्पर उपमान और उपमेय भाव की प्रतीति ही उपमेयोपमा अलङ्कार है। (उपमेयोपमा अलङ्कार का) उदाहरण है—

सुतनु का मुख चन्द्रमा के समान और चन्द्रमा मुख के समान है।

"आप बिजली के सदृश दुबली-पतली हैं और यह बिजली की रेखा आपके समान गोरी है।" इस वाक्य मे परस्पर की (उपमा है उपमेयोपमा नही। इस परस्पर की) उपमा मे ('तनुत्व" और "गौरत्व" दो साधारण धर्म हैं ये) भिन्न-भिन्न साधारण धर्म से कथित उपमाएँ तृतीय (मृणाल आदि) सादृश्य पदार्थ की निवृत्ति नही कर सकती क्योंकि इसमे उस तृतीय सदृश पदार्थ के निषेधरूप ज्ञान का अभाव है (अत यहाँ उपमेयोपमा अलङ्कार नही, उपमा-अलङ्कार है)।

इसी प्रकार उपमेयोपमा अलङ्कार मे तृतीय सादृश्य की निवृत्ति को फल माना गया है, ऐसा होने पर—

यह समस्त कवि-सम्मत बात है कि विधाता की सृष्टि मे उस (सुन्दरी) के समान अन्य कोई (नायिका) नहीं है। सूक्ष्मरूप से देखभाल करने पर वह कुछ कुछ चन्द्रलेखा के समान ही सुशोभित होती हो ॥188॥

इस (नायिका और चन्द्रलेखा के) सादृश्य-वर्णन मे (तीसरे सदृश पदार्थ की निवृत्ति फल है, ऐसा कहा जा सकता है पर यहाँ सादृश्य मे) परस्पर उपमान—उपमेय भाव का अभाव होने से यहाँ उपमेयोपमा अलङ्कार नहीं है। (उपमेयोपमा अलङ्कार मे तृतीय सादृश्य जिसका फल है वह वर्णन परस्पर उपमान-उपमेय बने पदार्थों का सुन्दर सादृश्य होता है।)

अथवा जैसे उपमेयोपमा का उदाहरण—

वनिता (नायिका) लता के समान फलवती होती है और लता भी वनिता के समान उसी प्रकार फलित हो जाती है। वह मे कोयल के समान स्फुट स्वर मे बोलती है और कोयल भी उसके (नायिका के) समान ही बोलती है ॥189॥

यहाँ (फलिना" और "तादशी मयनि") बिम्बप्रतिबिम्बभाव होकर साधारण धर्म हो जाते हैं ।

उपमेयोपमा के भेद— (उपमेयोपमा के दो भेद किये गये हैं— (1) उक्त-धर्म जिसमे साधारण धर्म स्पष्ट शब्दो मे वर्णित होता है और (2) अनुक्तधर्मा-जिसमे साधारणधर्म स्पष्ट शब्दो मे कथित नही होता, व्यञ्जना से ज्ञात होता है ।)

(प्रस्तुत "वनिता" इत्यादि श्लोक उपमेयोपमा के प्रथम भेद) उक्तधर्मा का है । अनुक्तधर्मा का उदाहरण पूर्वोक्त ('शशिना" इत्यादि) है ।

अथवा जैसे रसगगाधरकर्ता जगन्नाथ त्रिशूली ने(अनुक्तधर्मा उपमेयोपमा का) उदाहरण दिया है—

समुद्र आकाश के समान है और आकाश समुद्र के समान है, क्योकि आकाश मे सेतु की तरह स्वर्गगा है और समुद्र म स्वर्गगा की तरह सेतु है ।।190।।

उपमेयोपमा के ये सभी उदाहरण वाक्य मे (जहाँ दो वाक्यो मे दो सादृश्य पृथक्-पृथक कथित हैं वहाँ) वर्णित किये गये हैं । अब अयत प्रतीत होने वाले वाक्यभेद से उपमेयोपमा अलकार का उदाहरण है—

हे कमलसदृश मुखवाली ! सुन्दरता के मन्दिर और लोगो के मन का हरण करने वाले तुम्हारे नेत्रद्वय ही विधाता के लिये इतन विशाल ससार रूपी प्रपञ्च म केवल परस्पर रूप मे समता प्रकट करत हैं ।। 191 ।।

उपमेयोपमा अलकार का विवेचन समाप्त हुआ ।। 2 ।।

[1]सदृशान्तरनिरसनफलवर्णनविषय यदेकसादृश्यम् ।। सू 127 ।।
कमलैव जगति कमला कलयति शोभामनन्वय सोऽयम् ।।

अत्र कश्चित्—"तेन तदेकदेशेनावसितभेदेन वा उपमानतया कल्पितेन सादृश्यमनन्वय" । तत्रोपमेयस्यैवोपमानताकल्पने अमुख्यावभासमानसाधर्म्यापादनमेक , उपमेयैकदेशस्य तथैवोपमानताकल्पमपर । प्रतिबिम्बित्वादिना भेदेनावसितस्य तत्कल्पनमन्य ।

आद्यो यथा —युद्धेऽर्जुन इव[2] प्रथितप्रताप ।

द्वितीयो यथा—

---

1 द्वितीय सदृशनिषेधरूपकम् (मू पा टि)
2 अर्जुन इवार्जुन (मू पा टि)

एतावति प्रपञ्चे सुन्दरमहिलासहस्रभरितेऽपि ।
अनुहरति सुभग[1] तस्या वामार्द्धं दक्षिणार्द्धस्य ।। 192 ।।

तृतीयो यथा—

गन्धेन सिन्धुरधुरन्धरवक्त्र[2] मैत्री—
मैरावणप्रभृतयोऽपि न शिक्षितास्ते ।
तत्त्व कथ त्रिनयनाचलरत्नभित्ति—
ष्वीयप्रतिच्छविषु यूथपतित्वमेषि ।। 193 ।।

अत्रोपमानान्तरविरहस्य त्रिष्वपि उपलम्भादनन्वयस्त्रिविध इति तन्न ।

स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात् कुटिलोऽलक ।
शशाङ्कबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरग [ ] ।। 194 ।।

इति कल्पितोपमायामपि उपमानान्तरविरहात्तथात्वापत्ते[3] वामदक्षिणयो सादृश्ये तद्भेदोपन्यासस्य व्यर्थत्वाच्च ।

3 अनन्वय—

वह सादृश्य जिसके वर्णन में अन्य (द्वितीय) सादृश्य का निषेध फलित होता है और जिसका उपमान तथा उपमेय एक ही होता है वह अनन्वय अलङ्कार है ।। सू 127 ।।

उदाहरण जैसे—जगत् में लक्ष्मी के समान लक्ष्मी ही शोभा धारण करती है।

इस विषय में किसी ("अलङ्काररत्नाकर") में कहा गया है कि—उस उपमेय, उसके एकदेश अथवा निश्चित रूप से अभिन्न (अवासित भेद) उपमेय को उपमानरूप में कल्पित करके (उसका सादृश्य उसी में वर्णित हो तब उस) सादृश्य को अनन्वय कहते हैं। इस प्रकार अनन्वय तीन प्रकार का हो जाता है–(1) उपमेय की ही उपमान रूप में कल्पना करके अमुख्य (अवास्तविक) रूप में प्रतीत

1 हे (मू पा टि)
2 हे (मू पा टि)
3 अनन्वयत्वापत्ते (मू पा टि)

होते सादृश्य का ग्रहण । (2) उपमेय के एकदेश की उसी प्रकार उपमानरूप में कल्पना कर लेना और (3) प्रतिबिम्बित्व आदि भेद में अवसित उपमेय की उपमानरूप में कल्पना कर लेना ।

अनन्वय के प्रथम भेद का उदाहरण—

युद्ध में अर्जुन के समान प्रसिद्ध पराक्रमयुक्त अर्जुन ही है ।

द्वितीय भेद का उदाहरण जैसे—

(नायक का मित्र के प्रति वचन—) हे सुभग ! यह विस्तृत संसार यद्यपि हजारों सुन्दर स्त्रियों से परिपूर्ण है, फिर भी उस (नायिका) के अंगों का बायां भाग ही अंगों के दाहिने भाग का अनुकरण करता है। (अर्थात् अन्य किसी नायिका के अंगों से उसकी तुलना नहीं की जा सकती) ॥ 192 ॥

तृतीय भेद का उदाहरण जैसे—

हे गजेन्द्रमुख गणेश ! ऐरावत आदि हाथी आपकी मित्रता (समानता) का थोड़ा अंश (गंध मात्र) भी नहीं सीख सके (अतः वे आपकी समानता नहीं कर सकते) । फिर आप कैलाश पर्वत की रत्नमय भित्तियों में दिखने वाले अपने प्रतिबिम्बों के यूथपति कैसे हो गये ? ॥ 193 ॥

इन तीनों उदाहरणों में ही अन्य उपमान का अभाव स्पष्ट व्यक्त होता है, अतः अनन्वय तीन प्रकार का है । "रत्नाकार" का यह मत उचित नहीं है ।

ऊँचे स्तनों पर कपोलतट से गिरता हुआ कुटिल अलक चन्द्रबिम्ब से सुमेरु पर्वत पर लटकते हुए काले सर्प-सा प्रतीत होता है ॥ 194 ॥

इस उदाहरण में जो उपमा कल्पित की गई है उसमें भी अन्य उपमान (या उपमानान्तर) न होने के कारण अनन्वय अलंकार मानना उचित नहीं है। इस प्रकार (द्वितीय भेद के उदाहरण "एतावति" इत्यादि में) वाम और दक्षिण के सादृश्य में भी अनन्वय का भेद स्वीकार करना व्यर्थ है ।

[50 अ] यच्चानन्वयस्य व्यङ्ग्यत्वमुक्तं चित्रमीमांसायाम्—

> अद्य या[1] मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।
> कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः ॥ 195 ॥

---

1 प्रीतिः (मू. पा. टि.)

इत्यत्र त्वदागमनप्रीते सैव सादृशी नान्येति व्यज्यत, इति तन्नातिचारु । वारान्तरागमनप्रीते सादृश्यस्यातिप्रसिद्धतयागमनजन्यप्रीतिसामान्यावयवयो प्रीतिव्यक्त्यो सादृश्यस्य बा[1]धितत्वाद्योगार्थाभावेन[2] मुख्यस्यैवाभाव कुतो व्यङ्ग्यत्वम् ।

तस्मात् ध्वनिपक्ष एवमुदाहरणीयम्—

वधूसृष्टौ धातु कथयतु[3] कया शाम्भवशिर
शशाङ्कज्योत्स्नाभिर्धवलितमघ पङ्क[4]जयुगम् ।
कया लोकक्रीडानटन[5]मुदपादि प्रथमतो
यया चित्ते प्रज्ञा जननि कविरेव तव तुलाम् ।। 196 ।।

अत्र वधूसृष्टौ कया चरणतल हरशिर शशाङ्कज्योत्स्नया धवलित कया वा लोकक्रीडानटन पूर्वमुदपादि यया त्वत्सा[6]दृश्य कविश्चित्ते धारयतीत्यर्थो वर्णनीयभगवतीमहिमानिरुपमत्वपर्यवसायीति व्यज्यते इति परमतोपन्यासेन स्वमतमपि व्याख्यातम् ।

इत्यनन्वय 113

"चित्रमीमासा" मे कहा गया है कि यह अनन्वय अलकार व्यग्य भी होता है, जैसे—

(घर पर आये हुए श्रीकृष्ण के प्रति विदुर का कथन है कि-) हे गोविन्द ! आज मेरे घर मे तुम्हारे आने से मुझे जो प्रसन्नता हुई है, वह प्रसनता कालान्तर मे पुन तुम्हारे आगमन से ही हो सकती है ।। 195 ।।

उक्त उदाहरण मे "तुम्हारे आगमन की प्रीति के सदृश प्रीति वही है, अन्य नहीं" यह व्यञ्जित होता है, यह कहना अत्यधिक सुन्दर नही है । पुन आगमन की प्रीति की समानता के अतिप्रसिद्ध होने के कारण (अर्थात् पुन आपके आगमन पर वैसी ही प्रीति होगी जैसी कि इस समय आगमन पर हुई है, यह सादृश्य सर्व-

1 वा०
2 न विद्यतेऽन्वयो यस्यत्यनन्वय इति योगार्थ (मू पा टि)
2 वध्य०
4 पत्क०
5 मसार (मू पा टि)
6 त्वात्सा०

जनप्रसिद्ध ही है अत) आगमन से उत्पन्न प्रीतिरूप सामान्य के अवयवस्वरूप जो दो प्रीतियाँ यहाँ व्यक्त होती है उनमे सादृश्य का बाध होता है (अर्थात् आगे होने वाली प्रीति का अनुभव इस काल मे नही हो रहा अत दोनो प्रीतियो मे सादृश्य नही माना जा सकता) और योगार्थ (जिसमे सादृश्य का अन्वय विद्यमान नही है उसे अनन्वय कहते हैं, इस योगार्थ) का अभाव है। अत यहाँ मुख्यार्थ (वाच्यार्थ या अनन्वय) का ही अभाव होने से व्यङ्ग्यत्व वहाँ से हो सकता है ?

इस प्रकार अनन्वय ध्वनि का यह उदाहरण समझना चाहिये—

हे जननि ! आप बतायें कि विधाता की वधू-सृष्टि मे, किस (अन्य वधू) ने शम्भु के मस्तक पर विराजमान चन्द्रमा की चाँदनी से अपने चरणरूपी पङ्कज-युगल को धवल बनाया है, तथा किसने लोक-क्रीडा रूपी नटन अर्थात् ससार को सर्वप्रथम उत्पन्न किया है, जिसके साथ आपकी तुलना को कवि चित्त मे धारण कर सके ॥ 196 ॥

यहाँ वधू-सृष्टि मे शिव के मस्तक के चन्द्र की ज्योत्सना से किसने चरण-तल को धवलित किया, अथवा किस देवी ने लोक क्रीडा नटन को पूर्व मे उत्पन्न किया जिसके साथ आपका सादृश्य कवि चित्त मे धारण करे—ऐसा अर्थ कवि द्वारा वर्णित की गई (वर्णन करने योग्य) भगवती की महिमा के निरुपमत्व मे पर्यवसित होकर व्यञ्जित होता है। इस प्रकार अन्य मतो को प्रस्तुत करते हुए अपना मत भी कह दिया गया है।

अनन्वय अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ॥3॥

यत्रोपमानिषेधो मुख्यतयैवासमस्तत्र ॥सू 128॥

सर्वथैवोपमानिषेध इत्यर्थ ।

न चानन्वयेऽन्तर्भाव शक्य , रूपकदीपकादावुपमेव व्यज्यमानोऽपि तच्चमत्कारानुगुणत्वादपृथक् वाच्यतया तु पृथगेव चमत्कारी ।

उदाहरति—

न भवत्तुल्यो लोके बभूव भूतो भविष्यति वा ।

यथा वा—

अप्यवलोकितभुवन चक्षुर्न कथञ्चिदन्यतो याति ।
यदि तावतैव दृष्ट्वा सवन्नमसमञ्जनु मकरन्दम् ॥197॥

पूर्वत्र वाच्यायमसम इह तु व्यङ्ग्य इति भेद ।

यन्नु त्रिशूली—

मयि त्वदुपमाविधौ वसुमतीश[1] वाचयमे
[50ब] न वर्णयति मामय कविरिति क्रुध मा कृ ʌ था ।
चराचरमिद जगज्जनयतो विधेर्मानसे ।
पद नहि दधेतरा तव खनु द्वितीयो नर ॥198॥

इति स्वकृतपद्ये एव च व्यज्यमानोऽप्यसमोऽत्र प्रधानीभूतराजस्तु-त्युत्कर्षकतयालङ्कार एवेत्युदाजहार तन्नातिक्षोदक्षमम् । द्वितीय [2]मद्दर्शनिरसनफलकानन्वयस्यैव वाच्यायमानत्वादुपमानिषेधस्य तदनुगुण-चमत्कारात् इत्यसम ॥4

केचिदुदाहरणमल[3]ङ्कारान्तरमाहु ।

सामान्येन निरूपितस्यार्थस्य सुख[4]प्रतिपत्तये तदेकदेश निरूप्य तयोरवय-वावयविभाव[5] उच्यमान[6] उदाहरणम् ॥सू 129॥

उदाहरन्ति च—

ग्रमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेम निन्दितो भवति ।
निखिलरसायनराजो गन्धेनोग्रेण लशुन इव ॥199॥

[7]"ग्रनन्तरत्नप्रभवस्य यस्ये" त्यादि ।

तन्नातिनिर्दोष उपमाकुक्षिनिक्षिप्तत्वात् इवादिना प्रतीयमानस्य मामान्यविशेषभावस्य परिणामे सादृश्य एव विश्रान्ते ।

इत्युदाहरणम् ॥5

---

1 ह (मू पा टि)
2 ०श०
3 उदाहरणालङ्कारमित्यर्थ (मू पा टि)
4 मस०
5 ग्रर्थान्तरन्यासे अतिव्याप्तिवारणाय (मू पा टि)
6 लक्षणया निर्वाह (मू पा टि)
7 ग्रनन्तररत्नप्रभवस्य यस्य हिम न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवाङ्क ॥

—कुमारसम्भव

4 असम—

मुख्यरूप से जहाँ उपमा का निषेध हो, वहाँ असम अलङ्कार होता है। ॥सू 128॥

सर्वथा (पूर्णरूप से) ही उपमा का निषेध किया जाये, यह अभिप्राय है।

अनन्वय अलङ्कार में इसका अन्तर्भाव हो जाता है, इस प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये। रूपक, दीपक आदि अलङ्कारों में उपमा व्यंग्य होने पर भी वहाँ (उपमा) इन अलङ्कारों के विलक्षण चमत्कार का पोषक होकर रहने से (स्वतन्त्र नहीं रहती अतः वहाँ उपमा) पृथक् अलङ्कार नहीं कहा जा सकता। (इसी प्रकार "अनन्वय" में "असम" व्यंग्य होने पर अनन्वय प्रयुक्त विलक्षण चमत्कार का पोषक होने पर स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं रहता परन्तु जहाँ असम में सादृश्य का निषेध) वाच्य रहता है, वहाँ स्वतन्त्र चमत्कार को उत्पन्न करता है, अतः उसमें पृथक् अलङ्कार का व्यवहार किया जाता है।

उदाहरण जैसे—

संसार में आपके समान न तो कोई हुआ था न हुआ है, न कोई होगा।

अथवा जैसे—

जब समस्त पृथ्वी को देख लेने पर भी यदि नेत्र अन्य कहीं भी नहीं जाते हैं तो आपको देख लेने से हमारा जन्म सफल हो गया है ॥197॥

पूर्व उदाहरण में असम वाच्य है और इस उदाहरण में व्यङ्ग्य है, यही भेद है।

और जो त्रिशूली (पण्डितराज जगन्नाथ) ने उदाहरण दिया है—

हे पृथ्वीपति! मैं आपको किसी के साथ उपमा देने के विषय में मौन हूँ। इसलिये आप यह सोचकर कि यह कवि मेरा वर्णन नहीं करता, क्रोध मत करना। वस्तुतः इस स्थावरजङ्गमात्मक संसार को उत्पन्न करने वाले विधाता के मन में आपके जैसा कोई दूसरा मनुष्य स्थान प्राप्त नहीं कर सका ॥198॥

"अव्यवलाकितभुवन" इत्यादि स्वरचित (हरिप्रसादकृत) पद्य तथा रसगंगाधरकार द्वारा उद्धृत इस पद्य में राजा की स्तुति होने से राजा के विषय में कवि का प्रेमभाव प्रधानरूप से अभिव्यक्त होता है। यहाँ असम व्यङ्ग्य होकर भी उसकी अपेक्षा अप्रधान ही रहता है और अप्रधान प्रधान का पोषक होता है, यहाँ व्यङ्ग्य होने पर भी असम अलङ्कार रूप ही है, अतः ये उदाहरण दिये

गये हैं, यह अधिक विचार करने के योग्य नहीं है । द्वितीय सादृश्य के निषेधरूप फल वाले अनन्वय अलङ्कार में उपमा का निषेध वाच्यरूप होने पर विलक्षण चमत्कार को उत्पन्न करता है तो असम अलङ्कार होता है ।

असम अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ ।। 4

5 उदाहरण अलङ्कार—

कुछ लोग उदाहरण अलङ्कार को अन्य अलङ्कार के अन्तर्गत कहते हैं । (उदाहरण अलङ्कार का लक्षण है—)

सामान्यरूप से वर्णित अर्थ के शीघ्र बोध के लिये, उसके एकदेश का वर्णन करके, उन दोनों (सामान्य पदार्थ और उसके एकदेश) का शब्द से उक्त अङ्गाङ्गिभाव "उदाहरण" कहलाता है ।।सू 129।।

(अर्थान्तरन्यास के उदाहरणों में अतिव्याप्ति के वारण के लिये 'उदाहरण" के लक्षण में अवयवावयविभाव का विशेषण "उच्यमान"—"शब्द में उक्त" दिया गया है । अर्थान्तरन्यास में सामान्य-विशेष भाव का बोधक कोई पद नहीं रहता, पर उदाहरणालङ्कार में उक्त भाव का शब्द द्वारा कथन होना आवश्यक होता है । सादृश्य के वाचक "इव, यथा" आदि पद सामान्य-विशेष रूप अवयवावयविभाव के बोधक अभिधा-वृत्ति के द्वारा नहीं होने पर लक्षणावृत्ति के द्वारा हो सकते हैं ।)

उदाहरण देते हैं—

अपरिमित गुणसम्पन्न पदार्थ भी एक दोष के कारण निन्दित हो जाता है । जैसे, समस्त औषधियों में श्रेष्ठ लहसुन उग्र गन्ध के कारण निन्दित हो जाता है ।।199।।

(यहाँ अमितगुणयुक्त सामान्य पदार्थ अवयवी अंग है और लहसुन विशेष पदार्थ अवयव अंग । इन दोनों का अंगांगिभाव "इव" शब्द के द्वारा उक्त होने से उदाहरणालंकार है ।)

कालिदासविरचित "कुमारसम्भव" का पद्य "अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य" इत्यादि उदाहरणालंकार का उदाहरण है।

"अतिनिर्दोषत्व" उपमा की सीमा (कुक्षि) में निक्षिप्त है तथा "इव" आदि शब्दों से प्रतीयमान सामान्यविशेषभाव की अन्त में सादृश्य में ही विश्रान्ति होती है, अतः यह उदाहरण अलंकार उपमा में गतार्थ है, यह प्राचीन आलङ्कारिकों का कथन उचित नहीं है ।

उदाहरण अलकार का प्रसग समाप्त हुआ ।।[5]

सादृश्यज्ञानसंस्कारप्रयोज्य स्मरण स्मृति ।।सू 130।।

उदाहरति—

अवलोक्य घन बाला सस्मार मनसा हरिम् ।

घनावलोकनोद्दीप्तिर्भगवत्स्मृतौ कारण तत्र च वाक्यार्थोपस्कारकत्वादलङ्कार ।

यत्तूदाहृतम्—

भुजभ्रमितपट्टिशोद्दलितदृप्तदन्तावल
भवन्तमरिमण्डलप्रघन[1] पश्यत सङ्गरे ।
अमन्दकुलिशाहतिस्फुटविभिन्नविन्ध्याचलो
न कस्य हृदय झटित्यधिरोह देवेश्वर ।।200।। इति

तदरमणीय भुजभ्रमितपट्टिशोद्दलितदृप्तदन्तावलत्वसामान्येन कुलिशभिन्नविन्ध्याचलत्वविशेषोपस्थितौ स्थितेऽपि तत्तादात्म्यात्मना देवेश्वरत्वे सङ्गरे पश्यतो न कस्यापि तु सर्वस्य देवेश्वर शक्रो झटिति [51अ] धूमावलो [?] कनसंस्कारोद्बुद्धज्ञानेन वह्न्यध्यवसायवत्[2] अधिरोहेत्यस्मिन्नर्थे [3]हृदयैकदेशावस्थाविशेषारोहण विना सामान्येनाभिधान तादात्म्यमात्रपर्यवसन्नम् । [4]तादात्म्याक्षिप्तायाः स्मृतेस्तु न कथञ्चित्प्राधान्येन चमत्कारकारिता ।

तस्मात् साधूक्त जयदेवेन—"पङ्कज पश्यत कान्तामुख मे गाहते मन" इति न चात्र कवेरितरन्यस्मरणसामान्यविशेषपर्यवसायिनो येन स्मृतिरन्यागता स्यात् ।

---

1 हे (मु पा टि)

2 ०सायवत्

3 मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्त करणमान्तरम् । सशया निश्चया गर्व स्मरण विषया इमे ।। इति चित्ते स्मरणम् (मु पा टि)

4 तादाम्या०

यदपि चित्रमीमांसायाम्—

> अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
> न स[1] रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार[2]।
> सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
> रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः [ ] ॥ 201 ॥

इत्युदाहृतं तन्नातिहृदयंगमं प्रियाकेशपाशसंस्कारोद्बुद्धहृदयावस्थाविशेषस्य दयात्मनो[3] हननिवृत्त्यनुभावितस्य रुचिरत्वोद्दीपितस्य स्थगनसञ्चारितस्यैव चमत्कारकत्वात्।

इदं तु युक्तम्—

> सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते
> चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति।
> वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता धत्ते कुरङ्गं यतः
> क्वासि प्रेयसि हा कुरङ्गनयने चन्द्रानने जानकि ॥ 202 ॥

अत्र विप्रलम्भोत्कर्षाधायकत्वात् स्मृतेरलङ्कारता। एतेन स्मृतेर्व्यङ्ग्याया व्यावृत्तये अव्यङ्ग्यत्वेति लक्षणे वक्तुमुचितमिति परास्तम्।

इति स्मृत्यलङ्कारः ॥ 6

6 स्मरण—

सादृश्य (सदृश्य वस्तु) ज्ञान के संस्कार से होने वाली स्मृति स्मरण अलंकार है ॥ सू 130 ॥

उदाहरण है—बादल देखकर बालिका ने मन से हरि का स्मरण किया।

यहाँ बादल देखने का उद्दीपन भगवान की स्मृति में कारण है और वहाँ वाक्यार्थ का उपस्कारक (शोभा बढ़ाने वाला) होने से यहाँ स्मरण अलंकार है।

जो ("रसगङ्गाधर" में) उदाहरण दिया गया है—

हे शत्रु समूह को नष्ट करने वाले! भुजाओं से घुमाये गये पट्टिश (अस्त्र-

---

1 राजा (मू पा टि)
2 ० लक्षीचकार
3 रमम्य (मू पा टि)

विशेष) से उन्मत्त हाथियों का दलन करने वाले आपको युद्ध मे देखते हुए किसके हृदय मे, वज्र के प्रबल प्रहार से स्पष्टरूप मे विन्ध्याचल को तोडने वाले देवराज इन्द्र शीघ्र ही आरूढ नही हुए ।। 200 ।।

यहाँ 'भुजाओं से घुमाये गये पट्टिश से उन्मत्त हाथियों का दलन करने वाले" इस सामान्य के द्वारा "वज्र के प्रहार से विन्ध्याचल को तोडने वाले" इस विशेष के उपस्थित होने पर उस तादात्म्य (समानता) के द्वारा देवराज के समान (राजा को) युद्ध मे देखते हुए किसी को नही अपितु सबको देवराज इन्द्र शीघ्र ही इसी प्रकार (स्मृति पर) आरूढ होते है जैसे धुए को देखने के संस्कार से उत्पन्न ज्ञान से वह्नि का निश्चय होता है, यह कहना अरमणीय है। (मन, बुद्धि और अहङ्कार चित्त के आतरिक करण है। संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण इनके विषय है। अत चित्त मे स्मरण होता है।) यहाँ इस अर्थ मे, स्मरण का हृदय की एकदेश अवस्थाविशेष के आरोहण के बिना ही सामान्य के कथन से तादात्म्य-मात्र मे पर्यवसान होने पर चमत्कार नही रहता।

अत जयदेव ने उचित ही कहा है कि 'कमल को देखते हुए मेरा मन कान्तामुख मे डूब जाता है"। यहाँ कवि की उक्ति अन्य के स्मरण से सामान्य-विशेष-पर्यवसान वाली नही है जिससे स्मृति अन्यगत (अन्य पर आश्रित) होती है।

"चित्रमीमासा" म भी (उदाहरण है)—

राजा दशरथ ने अश्व के समीप म उडते हुए भी सुन्दर पूछो वाले मोर का अपने बाण का लक्ष्य नही बनाया। (क्योकि चमकीली पूछ वाले मयूर को देखकर) उसका मन तुरन्त ही विचित्र मालाओ से व्याप्त और रतिकाल मे खुले हुए बन्धन वाले प्रिया के केशपाश मे चला गया ।। 201 ।।

यह उदाहरण (हृदयगम नही हो पाता) है। क्योकि प्रिया के केशपाश के सस्कार से उद्बुद्ध अपने हृदय की अवस्था विशेष अर्थात् रस यहाँ हननिवृत्ति से अनुमापित, रुचिरत्व से उद्दीपित (विभावित) तथा स्मरण सचारी भाव से युक्त होने से चमत्कारजनक हुआ है।

यह युक्त ही है—

("हनुमन्नाटक" मे राम लक्ष्मण के मध्य उक्ति-प्रत्युक्ति—) हे लक्ष्मण! प्रचण्ड किरणो वाले सूर्य का उदय हो रहा है, अत वृक्ष के नीचे चलो। हे रघुपते! रात्रि मे सूर्य की क्या बात, यह तो चन्द्रमा उदित हो रहा है। वत्स!

तुमने यह कैसे जाना कि यह चन्द्र है ? क्योंकि यह मृग धारण कर रहा है (अतः चन्द्र है।) इस पर राम कह उठे—हो मृगनयने ! चन्द्रमुखी ! प्रियतमे ! जानकी ! तुम कहाँ हो ? ॥ 202 ॥

यहाँ विप्रलम्भ की प्रधानता होने से स्मृति अलंकार है। इस प्रकार (अप्पय दीक्षित का) यह कहना कि यहाँ स्मरण व्यङ्ग्य है (और अलंकार्य अर्थात् प्रधान है) अतः उक्त स्मरण में स्मरणालंकार का लक्षण अतिव्याप्त न हो इसलिये लक्षण में "अव्यंग्य" यह विशेषण लगाया गया है, (उनका यह कथन) परास्त हो जाता है।

स्मरण अलंकार का विवेचन समाप्त हुआ ॥ 6

अथ रूपकम्—

"तत्रोपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणोपमेयशब्दान्निश्चीयमान-मुपमानतादात्म्यं रूपकं तदेवोपस्कारकत्वविशिष्टमलङ्कार" इति जगन्नाथ।

अपह्नुतिभ्रान्तिमदतिशयोक्तिनिदर्शनादाऽवतिव्याप्तिवारणाय [51ब] पुरस्कारान्त, निश्चीयमानत्वेनोत्प्रेक्षाव्यावृत्ति।

"तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः। उपमैव तिरोभूतभेदा रूपक-मुच्यते" इति मम्मटभट्टा।

"अत्र निश्चीयमानत्वेनाभेदो विशेषणीय" इत्यन्ये।

बिम्बाऽविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपकं तदा ॥

[1]इति चित्रमीमांसायाम्। तत्र विषयविशेषणात्—

त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम्।
इदं श्रीखण्ड[2]पङ्केन पाण्डुरीकरणं विधो ॥ 203 ॥

[3]इति निदर्शनानिरासः मार्जनस्याऽलक्तकादिरूपबिम्बविशिष्टत्वात्।

---

1 पाण्डुलिपि में संधि करके "तदेति" लिखा है।

2 श्रीपण्ड ०

3 पाण्डुलिपि में संधि करके 'विधोरिति" लिखा है।

निगीर्णविषयातिशयोक्तौ [1]"कमलमनम्भसि कमले" इत्यादावतिव्याप्ति-वारणाय निर्दिष्ट इति । अपह्नुतिनिरसनायाऽ[2]निह्नुत इति । [3]आहार्यतादूप्यनिश्चयगोचरतामेतीत्युक्ते सदेहोत्प्रेक्षायोनिश्चियाऽभावात्, समासोक्तिपरिणामयोविषयातादूप्यस्यागोचरत्वात्, समासोक्तौ व्यवहार-मात्रसमारोपात्, परिणामे आरोप्यमाणस्यैव विषयतादूप्यगोचरत्वात्, भ्रमे तस्यानाहार्यत्वान्नातिव्याप्तिरिति ।

7 रूपक—

अब रूपक अलङ्कार का निरूपण किया जा रहा है—

पण्डितराज जगन्नाथ ने रूपक का लक्षण दिया है—उपमेयतावच्छेदक (उपमेय में रहने वाला असाधारण धर्म मुखत्व आदि) को आगे रखकर उपमेय (मुख आदि) में शब्द-प्रमाण के द्वारा निश्चित किये जाने वाला उपमान (चन्द्र आदि) का तादात्म्य (एकरूपता, अभेद) रूपक कहा जाता है। इसी (रूपक) में उपस्कारक (प्रधानवाक्यार्थ उत्कर्ष) यह विशेषण लगाये जाने पर रूपक अल-ङ्कार का लक्षण माना जाता है।

अपह्नुति, भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति और निदर्शना अलङ्कारों में (भी उपमान तथा उपमेय का तादात्म्य रहता है पर उपमेयतावच्छेदक को आगे रखकर उस तादात्म्य का ज्ञान नहीं होता, अतः इन अलङ्कारों में) अतिव्याप्ति को रोकने के लिये लक्षण में "उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेण" यह विशेषण दिया गया है। (उत्प्रेक्षा सम्भावनारूप है, निश्चयरूप नहीं, अतः) उत्प्रेक्षा के वारण के लिये "निश्चीयमान" विशेषण कहा गया है।

मम्मट ने रूपक का लक्षण दिया है—उपमान और उपमेय का जो अभेद है, वह रूपक अलङ्कार है।

आचार्य दण्डी के अनुसार रूपक-लक्षण है—भेद के तिरोहित होने पर उपमा ही रूपक कहलाता है।

---

1 कमलमनम्भसि कमले कुवलयमेतानि कनकलतिकायाम् ।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ।।
—चित्रमीमांसा—पृ 410

2 ० ण्णया ०

3 उपरञ्जकतामित्यस्यार्थं आहार्येति (भू० पा० टि०)

अन्य विद्वानो का कथन है कि (उपमेय मे उपमान का) निश्चय किये जाने मे जो अभेद होता है, वह रूपक है।

"चित्रमीमासा" मे कहा गया है कि जब बिम्बाविशिष्ट अर्थात् बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव से रहित होकर, शब्द के द्वारा निर्दिष्ट एव जिसका निषेध नही किया गया हो, ऐसे विषय (उपमेय) को यदि विषयी (उपमान) उपरञ्जकता प्राप्त कराये (अर्थात् अपने रग मे रग दे) तो रूपक होता है।

उक्त लक्षण मे "विषय" का विशेषण "बिम्बाविशिष्टे" है उसमे—

रत्नरूप आपके चरणनख को जो अलक्तक (महावर) से साफ करना अर्थात् रगना है, वह चन्दनलेप से चन्द्रमा का श्वेत बनाना है ॥ 203 ॥

इस निदशना के उदाहरण मे (*'बिम्बाविशिष्टे' विशेषण रूपक-लक्षण* की अतिव्याप्ति के) निरास के लिए है। क्योकि यहाँ "साफ करना" रूप उपमेय "अलक्तक" आदि बिम्ब से युक्त है (अर्थात् उक्त श्लोक मे सादृश्य के कारण नख और चन्द्र मे तथा अलक्तक और चन्दन मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव है, अत निदर्शना अलङ्कार है। इस निदर्शना से निरास के लिए ही "बिम्बाविशिष्ट" विशेषण दिया गया है)। "कमलमनम्भसि कमले" इत्यादि निगीर्णविषया अति-शयोक्ति अलङ्कार मे अतिव्याप्ति नही हो अत 'निर्दिष्ट" यह विशेषण दिया गया है। अपह्नुति अलङ्कार मे (उपमेय का निषेध किया जाता है। अत इसमे) अतिव्याप्ति नही हो इसलिये "अनिह्नुते" विशेषण दिया गया है। "उपरञ्जकता को प्राप्त करे" इसका अर्थ है कि आहाय, तादूप्य, निश्चय का विषय होना। इस विशेषण के कहने से सन्देह, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, परिणाम तथा भ्रम अलङ्कार म अतिव्याप्ति नही होती। सदेह (सशयरूप होता है और) उत्प्रेक्षा (सम्भावना रूप अत) दोनो मे निश्चय का अभाव होता है। समासोक्ति और परिणाम अलकारो मे उपमान के तादूप्य का निश्चय उपमेय मे नही होता। समासोक्ति मे केवल उपमान के व्यवहार का आरोप होता है, उपमान का नही। परिणाम मे उपमेय के तादूप्य का ही निश्चय उपमान मे होता है। भ्रान्तिमान् अलङ्कार म वह अनाहार्य ही निश्चय रहता है। अत इन सभी अलकारो मे अतिव्याप्ति के वारणार्थ "उपरञ्जक" विशेषण रखा गया है।

तत्र त्वत्पादनखरत्नानामिति श्रौतारोपे[1]ऽपि निदर्शनाङ्गीकारे मुख

---

1 मुख चन्द्र इतिवत् (मू पा टि)

चन्द्र इत्यादौ निदर्शनयैव निर्वाहाद् रूपकनिरूपणं व्यर्थं, एवं तु निदर्शनोदाहरणं स्यात्—

त्वत्पादनखरत्नानि यो रञ्जयति यावकैः ।
इन्दुं चन्दनलेपेन पाण्डुरीकुरुते हि सः ॥ 204 ॥

अवशिष्टः[1] तु आहार्यताद्रूप्यनिश्चयगोचरतामेतीति विषयविषयिणोर्लक्षणकुक्षिनिक्षिप्तं यदपि तद्रूपकमित्युक्तम् । तन्नातिचार [52 अ] मपह्नुत्यावतिप्रसङ्गात् ।

निश्चीयमानत्वेनाभेदोविशेष्यते चेत्किमपराद्धं शूलिना यदप्युक्तमुपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणेति अपह्नुतिभ्रान्तिमदतिशयोक्तिनिदर्शनानां निरासः । तथापह्नुतौ स्वेच्छया निषिध्यमानत्वान्नोपमेयतावच्छेदकस्य पुरस्कारः नन्नातिक्षोदक्षमं प्रजल्पन् । 'मलदे नग वात कि न हि नूपुर' इत्यत्रोपमेयतावच्छेदपुरस्काररयारोपविषयतया निषेधचमत्काराधायकत्वेनाऽव्याप्ते स्वेच्छया निषिध्यमानत्व तदवच्छेदकतापुरस्कारेणेति । दृश्यमवधेहि नापि निश्चीयमानत्वेनोत्प्रेक्षाव्यावृत्ति प्रतीयमानोत्प्रेक्षामव्याप्तेः । शब्दानिश्चीयमानोपमानतादात्म्येनैव तच्छरीरनिष्पत्तेः । ततश्च—

निश्चीयमानमुपमातादात्म्यं नेदृशानितो यत्र ॥ सू 131 ॥

एतावद्रूपकोत्पत्तिक्षेत्रम् । उपरञ्जितविषयि पुनस्तदेव लोकेषु रूपकं भवति ।

(अप्पयदीक्षित के उपर्युक्त मत का खण्डन-) 'त्वत्पादनखरत्नानि' इत्यादि पद्य में ("मुख चन्द्र" के समान) धर्मारोप होने पर भी निदर्शना मानी जा सकेगी, पर रूपक का निरूपण व्यर्थ हो जायेगा । उक्त पद्य में निदर्शना का उदाहरण इस प्रकार हो सकता है—

जो आपके चरण-नख-रत्नों को अलक्तक से रंगता है, वह चन्दन के लेप से चन्द्र को धवल बनाता है ॥ 204 ॥

(चित्रमीमांसाकार ने) लक्षण में कहा गया है कि आहार्य, ताद्रूप्य और निश्चयगोचरता ही उपरञ्जकता है और विषय को विषयी जब उपरञ्जकता प्राप्त

---

1 ०शिष्ट

कराता है, तब रूपक होता है। यह उचित नही, क्योकि अपह्नुति आदि मे अति-व्याप्ति हो जायेगी।

यदि निश्चित किया जाने वाला अभेद ही रूपक है तो शूली (पण्डितराज जगन्नाथ) के लक्षणो मे क्या दोष है ? जो उन्होने लक्षण मे "उपमेयतावच्छेदक-पुरस्कारेण" विशेषण दिया है, उसी से अपह्नुति, भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति और निदर्शना अलकारो मे अतिव्याप्ति का निरास हो जाता है। अपह्नुति ("मुख नही, चन्द्र है" इत्यादि) मे वक्ता अपनी इच्छा से उपमेय (मुख) के साथ साथ उपमेयतावच्छेदक मुखत्व का निषेध ही कर देता है, अत यहाँ "उप-मेयतावच्छेदकपुरस्कारेण" घटित नही होता। "मेरे पैर मे लगा हुआ क्या यह प्रियतम है, नूपुर नही है ?" इत्यादि (अपह्नुति के) उदाहरण मे निषेध का चमत्कार होता है, जबकि (रूपक मे) "उपमेयतावच्छेदकपुरस्कार" आरोप का विषय होता है अत स्वेच्छा से निषेध किया जाना (अपह्नुति) उपमेयता-वच्छेदकपुरस्कार (रूपक) म अव्याप्त (घटित नही होता) है। उत्प्रेक्षा मे क्षणभर प्रतीत होता है, निश्चित नही होता, अत उत्प्रेक्षा भिन्न है और प्रतीयमानस्वरूप उत्प्रेक्षा (रूपक मे) अव्याप्त है। इस प्रकार शब्द प्रमाण से निश्चित किये जाने वाले उपमान के तादात्म्य से ही रूपक की निष्पत्ति होती है।

इस प्रकार—जहाँ भेद-रहित निश्चीयमान उपमा का तादात्म्य होता है (वही रूपक है।) ॥ सू 131 ॥

यही रूपक की उत्पत्ति का क्षेत्र है। लोक म यही उपरञ्जितविषयी ज्ञान पर रूपक होता है।

अर्थतस्य भेदा —

तत्र समस्तवस्तुविषयिकमेकदेशविवर्ति च द्विविध सावयवम् ॥ सू 132 ॥

आरोप्यमाणाना[1] समस्तवस्तूना शब्दोपात्तत्वे समस्तवस्तुविषयम्। अवयवविशेषे शब्दोपात्तमारोप्यमाण क्वचिच्चार्थसामर्थ्याक्षिप्त- तदव-यवरूपके विवर्तमानादेकदेशविवर्त्ति।

तत्र समस्तवस्तुविषय सावयव यथा—

---

1 •ना

2 आरोप्यमाण (मू पा टि)

स्मितज्योत्स्नाप्रकाशेन[1] सम्पूर्णेन मुखेन्दुना ।
तारकामौक्तिकाकल्प[2] राकासि भवती परम् ॥ 205 ॥

[52 व] अत्र राकारूपस्यैव समर्थकत्वेन तत्समर्थकतयोपादानमितरया आरोप्यारोप्यकतया शब्दोपात्तत्व स्पष्टम् ।

यथा वा शूली—

व्योमाङ्गणे सरसि नीलिमदिव्यतोये
तारावलीमुकुलमण्डलमण्डितेऽस्मिन् ।
भासाति षोडशकलादलमङ्कभृङ्ग[3]
[4]शूराभिमुख्यविकच शशिपुण्डरीकम् ॥ 206 ॥

एकदेशविवर्त्ति सावयव यथा—

गजेन्द्रनगनिर्गता समरसीम्नि सञ्चारिणी
भुजङ्गभुजगाहिनी[5] क्षतजवारिपूरोज्ज्वलाम् ।
निमज्जदरिभूद्ध ज[6]म्भितपादसञ्चारिणे
क्षितीश[7] भवतो भटा क्व न तरन्ति वेगान्नदीम् ॥ 207 ॥

अत्र समर्थकत्वेनाभिमतस्य मूर्द्धजाना [8]शैवालरूपकस्याक्षेप ।
यथा वा—

लावण्यसलिलपूर्णा चलनयना नाभिनिर्गतावर्त्ता ।
मम तरङ्गिणी मे वधूमनो नागमाक्षिपति[9] ॥ 208 ॥

---

1 स्मितमेव ज्योत्स्ना तस्या प्रकाशेन (मू पा टि)
2 दे (मू पा टि)
3 भृङ्ग एव भृङ्गो यस्मिन्नीदृश शशि पुण्डरीकमस्मिन् सरसि भासाति (मू पा टि)
4 शूराभिमुख्य०
5 भुजा एव भुजगास्तान् वहतीत्येव शीला (मू पा टि)
6 केश (मू पा टि)
7 हे (मू पा टि)
8 शैवा०
9 नाम वधूस्तरङ्गिणी मम मना हस्तिन आक्षिपति (मू पा टि)

अत्र नयनयोर्मीनरूपकस्य[1] ।

रूपक के भेद—

अब इस (रूपक) के भेद कहते हैं—

(प्रथमत रूपक के तीन भेद हैं—सावयव, निरवयव और परम्परित ।)

सावयव रूपक—सावयव रूपक दो प्रकार का होता है—समस्तवस्तु-विषय और एकदेशविवर्ति ।। सू 132 ।।

आरोप्यमाण (उपमानभूत) समस्त वस्तुओ का शब्दत ग्रहण किय जाने पर समस्तवस्तुविषय नामक रूपक होता है । जब अवयव-विशेष मे उपमान शब्दत कथित हो और किसी अवयव मे उपमान अर्थत आक्षिप्त हो (वह एकदेश-विवर्ति रूपक होता है) यहाँ सावयव रूपक मे अवयवविशेष द्वारा अपने स्वरूप को छिपाए रहने के कारण इसे एकदेशविवर्त्ति कहा जाता है ।

समस्तवस्तुविषय सावयव रूपक का उदाहरण जैसे—

तारक रूपी मोतियो का आकल्प (शृङ्गार) करने वाली सुन्दरी ! मुस्कुराहटरूपी ज्योत्स्ना के प्रकाश से युक्त पूर्ण मुखचन्द्र से आप निश्चय ही पूर्णिमा की रजनी हैं ।। 205 ।।

(सावयव रूपक अनेक रूपकों का समूह होता है और इसके अवयवभूत रूपको मे परस्पर समर्थ्य-समर्थकभाव होता है) यहाँ नायिका और पूर्णिमा का रूपक समर्थ्य है और इसका समर्थन करने के लिए ही अन्य रूपको का सृजन किया गया है । उपमेय और उपमान का शब्दत कथन स्पष्ट है ।

अथवा मूली (रसाङ्गाधरकार) द्वारा प्रस्तुत उदाहरण है—

(पूर्णचन्द्र को कमल के समान बताते हुए कवि ने चन्द्रमा का वर्णन किया है-) आकाश सरोवर है, नीलिमा दिव्य जल है, इस सरोवर मे तारावलीरूप प्रफुल्लित कमलदल सुशोभित हैं, उनके बीच कलङ्करूप भ्रमर से षोडशकलारूप षोडश पत्तो वाला यह चन्द्ररूप कमल सूर्य की आभिमुख्यावस्था मे विकसित हुआ सुशोभित हो रहा है ।। 206 ।।

एकदेशविवर्ति सावयव रूपक का उदाहरण जैसे—

हे राजन् ! हाथी रूपी पहाड से निकली हुई, युद्धरूपी सीमा मे सचरण करने वाली, भुजारूपी भुजगो को धारण करती हुई, रुधिररूपी उज्ज्वल जल से

---

1 आक्षेप (मु पा टि)

परिपूर्ण नदी में स्नान करते हुए (डूबे हुए), शत्रुओं के केशों पर क्रोध से आकर्षण करने वाले आपके योद्धा वेग से नदी को कहाँ नहीं पार करते ? ॥ 207 ॥

यहाँ मूर्द्धज (केशों) के शैवाल रूपक का अर्थतः आक्षेप होता है, जिसे कवि समर्थन रूप में वर्णित करना चाहता है। अथवा अन्य उदाहरण—

लावण्य-जल से परिपूर्ण, (मीन रूप) चञ्चल नयन, नाभि से निर्गत आवर्त-वाली यही यह नदीरूप वधू मेरे मनरूप हाथी को आकर्षित करती है ॥ 208 ॥

यहाँ नयनों के मीन रूपक का अर्थतः आरोप होता है।

निरवयव पुनर्द्विधा केवल मालारूपक च ॥ सू 133 ॥

तत्राद्य यथा—

वन्दनीया जनस्यैका बुद्धिचन्द्रकला तव।[1]

सङ्घातात्मकविरहान्मालात्वाभावाच्च केवलनिरवयवम्। समासान्तर-पक्षे[2] निगीर्णविषयत्वेन तृतीय श्लिष्टमपि दृश्यते।

निरवयव मालारूपक यथा—

गुणानामुत्पत्ति कुलवसतिराचारवपुष[2]
क्षमावल्लीमूल परिणतिरथो दिव्यतपस।
श्रियो दृष्टे पात्र प्रभवति मतिर्यस्य विमला
वचोनामप्रणो गुरुरिह गणेशस्य स भवात् ॥ 209 ॥

केचित्तु एकविषयकनानापदार्थारोपरूपकत्वादमु भेदमुल्लेखात्मक-मामनन्ति।

आरोपस्यैवारोपान्तरनिमित्तत्वे परम्परितम् ॥ सू 134 ॥

[53ग] पिबन्ति समराङ्गणेषु त्वदसिभुजङ्गो नरेन्द्र[5] भूपालान्।

---

1 हे बुद्धि चन्द्र तव कला कापदर्शिका जनस्य वन्दनीया (मू पा टि)
2 ० वपुष
3 परन्तु ०
4 महोशम्य गुणगणपति (मू पा टि)
5 हे (मू पा टि)

अत्र भुजङ्गारोपोदुग्धारोपसामर्थ्यं[1]।
इदमेव श्लिष्टपरम्परितमपि यथा—

अहितापकरणमपर तवाद्भुत जृम्भते भुवने।

अत्र अहितानामपकरणमहीना तापकरणमिति राजनि नरेन्द्रत्वा[2]दा रम्यारोपस्य समर्थनीयतया कवेरभिप्राय। वस्तुतस्तु शब्दालङ्कारोऽय कवि[3]सरम्भादत्रोदाहृतमित्यवधेयम्।

यत्तु कुवलयानन्दे[4] "रूपक तत्त्रिधाधिक्यन्यूनत्वानुभयोक्तिरि"त्य-भिधायोदाहृतम्—

वेधा द्वेधा भ्रम चक्रे कान्तासु कनकेषु च।
तासु तेष्वप्यनासक्त साक्षाद्भर्गो नराकृति ॥ 210 ॥

अत्र साक्षादिति विशेषणेन विरक्तस्य प्रसिद्धशिवतादात्म्यमुपदिश्य नराकृतिरिति दिव्यमूर्त्तिवैकल्यप्रतिपादनान्न्यूनाभेदरूपक तथा।

निरवयव रूपक—

निरवयव रूपक के दो उपभेद होते हैं—(1) केवल और (2) माला रूपक ॥ सू 133 ॥

प्रथम केवल रूपक का उदाहरण जैसे—

एक तुम्हारी बुद्धिरूपी चन्द्रकला ही लोगो मे वन्दनीय है।

(परस्पर अपेक्षा न रखने वाले रूपको का समूह निरवयवरूपक होता है।) यहाँ परस्पर सापेक्ष रूपक-समूह का अभाव है (अत निरवयव रूपक है) और माला रूपक का अभाव होने से यह केवल निरवयव रूपक का उदाहरण है।

उक्त उदाहरण की पक्ति मे मिश्ररूप मे समास मानकर यह अर्थ लगाया जाये कि 'हे बुद्धिरूपी चन्द्रमा तुम्हारी कपट आदि कला लोगो मे वन्दनीय है"। इस अर्थ मे निगीर्ण विषय होने पर रूपक के परम्परित नामक तृतीय भेद मे श्लिष्ट परम्परित का उदाहरण दिखायी देता है।

---

1 ० समर्थ्य
2 नरेन्द्रो राजा गारुडिश्च (मू पा टि)
3 सर ०
4 अप्प [य] दीक्षिते (मू पा टि)

निरवयव के तृतीय भेद मालारूपक का उदाहरण जैसे—

आप गुणों की उत्पत्ति हैं, आचार रूपी वपु की कुलवसति हैं, क्षमा रूपी वल्लरी के मूल हैं, दिव्य तपस्या के पूर्णता हैं, लक्ष्मी की दृष्टि के पात्र हैं, जिनकी विमल बुद्धि का प्रभाव (चतुर्दिक्) फैलता है, ऐसे कवियों में अग्रणी आप इस जग में गणेश के गुरु (पिता)—महादेव हैं ॥ 209 ॥

कतिपय लोग इस रूपक में एक विषय में अनेक पदार्थों का आरोप होने से इस रूपक-भेद को उल्लेख रूप मानते हैं।

परम्परित रूपक—

जब एक आरोप का ही कारण दूसरा आरोप हो, तो परम्परित रूपक होता है ॥ सू 134 ॥

हे राजन्! युद्धभूमि में आपकी सर्परूपी तलवार राजाओं का पान करती है।

यहाँ तलवार में भुजङ्ग का आरोप होने से राजाओं में दुग्ध का आरोप समय होता है।

(यह शुद्ध परम्परित का उदाहरण है।) श्लिष्टपरम्परित का उदाहरण जैसे—

"अहितापकरण"—शत्रुओं का अपकार करना ही सर्पों को ताप पैदा करना है, यह आपका दूसरा अद्भुत (कार्य) संसार में प्रकट हो रहा है।

यहाँ "शत्रुओं का अपकार करना (अहित+अपकरण) सर्पों को ताप पैदा करना है" (अहि+तापकरण), इस आरोप से राजा में औषध (गारुडि) के तादात्म्य के आरोप का समर्थन करना ही कवि का अभिप्राय है। वस्तुतः तो यह श्लेष नामक शब्दालङ्कार ही है। कवि के सरम्भ के कारण यहाँ उदाहृत किया गया है, यह जानना चाहिये।

अप्पयदीक्षित ने "कुवलयानन्द" में कहा है कि यह रूपक तीन प्रकार का होता है—उपमान का आधिक्यरूप, न्यूनत्वरूप और अनुभयरूप, तथा यह कहकर उदाहरण दिये हैं। (न्यूनत्व उक्तिवाले अभेद रूपक का उदाहरण है—)

ब्रह्मा ने दो प्रकार का भ्रम उत्पन्न किया है—स्त्रियों के रूप में तथा स्वर्ण के रूप में। उन स्त्रियों तथा स्वर्ण में जो आसक्त नहीं है वह तो मनुष्य रूप में साक्षात् शिव ही है ॥ 210 ॥

यहाँ "साक्षात्" इस विशेषण से विरक्त मुनि का शिव से तादात्म्य बताया गया है। पर "नराकृति" इस पद से शिव की दिव्यमूर्ति की रहितता बताकर न्यूनता द्योतित की गई है। अतः यह न्यूनत्व-उक्ति वाला अभेदरूपक है।

> अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः ।
> अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् बादरायणः ।। 211 ।। इति

न्यूनताद्रूप्यरूपकमिति । तथा—

> त्वय्यागते[1] किमिति वेपत एष सिन्धु-
> स्त्वं सेतुमन्थ[2]कृदतः किमसौ बिभेति ।
> द्वीपान्तरेऽपि न हि तेऽस्त्यवश[3]वदोऽद्य
> त्वा राजपुङ्गव ! निषेवत एव लक्ष्मीः ।। 212 ।।

अत्र पुरुषोत्तमेन वर्णनीयस्य तादात्म्यम् । ततश्च द्वीपान्तरे जेतव्याभावादित्य लक्ष्मीनिषेवितत्वाच्चाधिकाभेदरूपकम् । एवम्—

> [4]किमसुभिर्ग्लपितैर्जड[5] ! मन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामनः ।
> मम किल श्रुतिमाह तदर्थिका नलमुखेन्दुपरां विबुध [ ] स्मर[ ] ।।213।।

इत्यधिकताद्रूप्यरूपकम् ।

[53अ] तत्र न्यूनोक्ते प्रतीपेन्तर्भावात् अधिकोक्तेश्च व्यतिरेककुक्षिनिक्षेपात् अभेदस्य चाभावात् उपेक्ष्य एवमनुभयोक्त्युदाहरणे[6] विशेषोक्त्यत्युक्तिसम्भवो वेदितव्यः ।

वस्तुतस्तु सर्वमपि रूपकमश्रौतवाचकप्रयुक्तधर्मप्रतियोगिसादृश्यमेवेत्युपमैव न पृथगिति कश्चित् ।

इति रूपकम् ।। 7

---

1 ० य्यगते

2 रामरूपेण शत्रुहननार्थं सेतुः कृतः । कृष्णरूपेण लक्ष्म्यर्थं मथितः समुद्रः (मू पा टि)

3 शत्रु (मू पा टि)

4 नैषधे पञ्चमसर्गे (मू पा टि)

5 रे चन्द्र (मू पा टि)

6 कुवलयानन्देऽनुभयोक्त्युदाहरणद्वये (मू पा टि)

न्यूनताद्रूप्य रूपक जैसे—भगवान् व्यास बिना चार मुख वाले ब्रह्मा हैं, दो हाथ वाले विष्णु हैं, बिना ललाट–नेत्र वाले शिव हैं ॥ 211 ॥

यह न्यूनताद्रूप्यरूपक का उदाहरण है। (अधिकाभेद रूपक का उदाहरण) जैसे—

(किसी राजा की स्तुति करते हुए कवि का वचन—) हे नृपश्रेष्ठ ! तुम्हारे समुद्रतट पर आने पर यह समुद्र क्यों काँपता है ? तुम इस समुद्र पर सेतु बाँधने वाले और इसका मन्थन करने वाले विष्णु हो, ऐसा समझकर क्या यह डर रहा है ? अन्य द्वीपों में भी कोई ऐसा शत्रु राजा नहीं है जो तुम्हारे वश में न हो (अतः सेतु बाँधकर किसी अन्य द्वीप को जीतने की तुम्हें आवश्यकता नहीं है।) और लक्ष्मी भी तुम्हारी सेवा करती ही है (अतः समुद्र मन्थन की भी आवश्यकता नहीं है)। विष्णु ने रामावतार में शत्रुहनन के लिये सेतुबन्धन किया था और (कृष्णरूप में) लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये समुद्र मन्थन किया। पर तुम्हारी ये दोनों इच्छायें पूर्ण हैं अतः पुरुषोत्तम विष्णुरूप में स्थित तुमसे समुद्र का डरना व्यर्थ है ॥ 212 ॥

यहाँ पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु के साथ वर्णनीय राजा का तादात्म्य वर्णित किया गया है। और इस तादात्म्य से विष्णु रूप राजा के लिये किसी अन्य द्वीप में किसी शत्रु को जीतना शेष न होने और नित्य लक्ष्मी द्वारा सेवित होने के वर्णन से विष्णुरूप पूर्वावस्था से राजरूप विष्णु की अवस्था में उत्कर्ष बताया गया है अतः यह अधिकाभेद रूपक का उदाहरण है।

इसी प्रकार (अधिकताद्रूप्यरूपक का उदाहरण) "नैषधीयचरित" के पञ्चम सर्ग का निम्नांकित श्लोक में—

दमयन्ती की चन्द्रोपालम्भमय उक्ति है—हे चन्द्र ! क्या तू समझता है कि प्राणों के नष्ट होने से दमयन्ती का मन मुझ में (चन्द्रमा में) लीन हो जायेगा। (एक वैदिक उक्ति के अनुसार मरने के पश्चात् मन चन्द्रमा में लीन हो जाता है।) परन्तु मुझे तो कामदेव ने उस श्रुति का वास्तविक अर्थ नल के मुखरूपी चन्द्रमा से सम्बद्ध बतलाया है ॥ 213 ॥

(यहाँ नलमुखचन्द्र प्रसिद्ध चन्द्र से उत्कृष्ट बताया गया है अतः) अधिकताद्रूप्यरूपक का उदाहरण है।

अप्पयदीक्षित के द्वारा बताये गये इन रूपक भेदों में से न्यूनोक्ति का प्रतीप अलंकार में अन्तर्भाव हो सकता है और अधिकोक्ति व्यतिरेक अलंकार के अन्तर्गत आ सकता है तथा अभेद का अभाव होने से ये भेद उपेक्ष्य हैं। "कुवलयानन्द"

मे दिये गये ग्रनुभयोक्ति के दोनो उदाहरण विशेषोक्ति की उक्ति मे उत्पन्न मान जा मकते हैं ।

किसी विद्वान् का मत है कि सभी रूपक उपमा ही है जिसमे वाचक शब्द का प्रयोग तथा धर्मप्रतियोगी सादृश्य ग्रश्रौत (ग्रश्रुतिगोचर) होना है ग्रत यह रूपक उपमा से पृथक् नही है ।

रूपक ग्रलकार का विवेचन समाप्त हुग्रा ॥ 7

विषयात्मनैव विषयी न स्वयमुपयुज्यते स परिणाम ॥ सू 135 ॥

यत्र विषयात्मतयैव विषयी प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण तत्र परिणाम । रूपके तु नैवमिति भेद । उदाहरति—

ग्रपहरतु सकलताप कालिन्दीकूलजो हरितमाल[1] ।

ग्रत्र सकलतापापहारकत्व तमालस्य भगवदात्मनैव ।

इति परिणाम ॥ 8

ग्रथ संदेह —

शुद्धा निश्चयगर्भा सशयधीर्निश्चयान्ता चेत् ।
सा रमणीयालङ्कृतिरुदिता कविभि समासेन ॥ सू 136 ॥

तत्राद्या[2] यथा—

उदयति वारिधरो वा नयने तरुणस्तमालो वा ।
इति सशयिनो गोपा पश्यन्ति वनेषु हरिमारात्[3] ॥ 214 ॥

द्वितीया[4] यथा—

सप्तद्वीपधरा[5] पुरन्दर ग्रन कीर्तिस्तवात्युज्ज्वला
[54ग्र] सोरात् चन्दनपङ्कलिप्तवपुष कान्त्या तनोति स्फुटम् ॥

---

1 हरिरेव तमालो वृक्ष (मू पा टि)
2 शुद्धा (मू पा टि)
3 दूरात् (मू पा टि)
4 निश्चयगर्भा (मू पा टि)
5 हे (मू पा टि)

या गङ्गा किमिय न सा जलमयी ज्योत्स्नाथवेन्दोर्न सा
दोषाया[1] नियतेति सशयधिय के के न जातास्तत ॥ 215 ॥

तृतीया[2] यथा—

कला किमिन्दो पतिता नमस्त
कि वा लतोन्मूलितमूलदशा ।
इति स्फुट सशयमग्नचित्तो
जानाति निश्चित्य वियोगिनीति ॥ 216 ॥

इय त्रिविधापि धी सादृश्यमूलैव युक्ता । अयमारोपमूल सशय । क्वचिदध्यवसानमूलोऽपि दृश्यते । यथा गङ्गाधरे—

सिन्दूरै परिपूरित किमथवा लाक्षारसै क्षालित
लिप्त वा किमु कुङ्कुमद्रवभरैरेतन्महीमण्डलम् ।
सदेह जनयन्नृणामिति परिव्रात[3]त्रिलोक त्विषा
व्रात प्रातरुपातनोतु भवता मव्यानिमासा निधे[4] ॥ 217 ॥

अत्र सिदूरत्वादिना सशयधर्मी किरणव्रातोऽध्यवसीयते ।
इति सदेह ॥ 9

8 परिणाम—

जब विषयी (उपमान) विषय (उपमेय) के साथ सर्वात्मना एक रूप मे ही उपयुक्त (परिणमित) हो, स्वतन्त्र रूप से नही, तब (उपमान मे उपमेय का अभेद) परिणाम होता है ॥ सू 135 ॥

जहाँ उपमान उपमेयरूप से ही प्रकृतोपयोगी हो, स्वतन्त्ररूप से नही, वहाँ परिणाम होता है । रूपक म ऐसा नहीं होता, यही इन दोनो मे भेद है । (परिणाम अलकार मे उपमान को उपमेय स अभिन्न समझ लेने पर ही प्रस्तुत वाक्यार्थ

---

1 या ज्योत्स्ना प्रति दापा नियता (मू पा टि)
2 निश्चयात्मा (मू पा टि)
3 ० नवला ०
4 सूर्यस्य (मू पा टि)

सगत होता है । रूपक मे उपमेय को उपमान से अभिन्न समझने पर प्रस्तुत वाक्यार्थ सगत होता है । यही इन दोनो मे परस्पर भेद है ।)

परिणाम का उदाहरण है—कालिन्दी-तटवासी हरिरूपी तमालवृक्ष समस्त दु खो को दूर करें ।

यहाँ तमाल (उपमान), सकलताप को, भगवद्रूप (उपमेयरूप) होने पर ही निवृत्त कर सकता है, अत परिणाम अलङ्कार है ।

परिणाम अलङ्कार का प्रसग समाप्त हुआ ।। 8

9 सन्देह—

शुद्धा अर्थात् जिसमे आदि से अन्त तक सन्देह ही बना रहता है, निश्चय-गर्भ अर्थात् जिसमे बीच-बीच मे निश्चय भी होता रहता है और निश्चयान्त अर्थात् जिसमे आदि मे लगातार सन्देह बना रहता है पर अन्त मे निश्चय हो जाता है, उक्त प्रकार का (त्रिविध) सशयात्मक ज्ञान रमणीय अलकृति के रूप मे व्यक्त होता है अत कवियो द्वारा सक्षेप मे सन्देह अलकार कहा जाता है ।

।। सू 136 ।।

सन्देह अलकार के प्रथम शुद्ध सन्देह का भेद जैसे—

यह नयनो मे बादल उत्पन्न हो रहा है अथवा तरुण तमाल है, इस सशय से युक्त गोपवृन्द वनो मे हरि को दूर से आते हुए देखते हैं ।। 214 ।।

सन्देह अलकार का द्वितीय भेद निश्चयगर्भ का उदाहरण जैसे—

हे पुरन्दर (इन्द्र) ! चू कि सातो द्वीपो को धारण करने वाली तुम्हारी अत्यन्त उज्ज्वल कीर्ति चन्दन से लिप्त शरीर की कान्ति से लोको मे पूर्णत फैल रही है । अत "अरे, क्या यह गङ्गा है ?", "नही, गगा नही, क्योकि वह तो जलमयी है" । "अथवा चन्द्रमा की ज्योत्स्ना है"? "नही, वह तो रात्रि मे नियत है" । इस प्रकार कौन-कौन लोग सशय बुद्धि से युक्त नही हो गये ?" ।। 215 ।।

तृतीय निश्चयान्त सन्देहालकार जैसे—

यह या तो आकाश से गिरी हुई चन्द्रमा की कला है । या जड से उखाडी गई कोई लता है । इस प्रकार स्पष्ट रूप मे सशय मे युक्त चित्तवाला निश्चय करके जानता है कि यह वियोगिनी है ।। 216 ।।

यह तीनो प्रकार का ज्ञान सादृश्यमूल ही है । सन्देह अलकार के ये तीनो उदाहरण आरोपमूलक हैं (क्योकि यहाँ उपमान-उपमेय दोनो का ग्रहण किया गया है) । कही पर यह सदेहालकार अध्यवसान-मूलक भी देखा जाता है (यहाँ

आरोप्यमाण ही उक्त रहता है, आरोपविषय उसमें निगीर्ण रहता है)। जैसे "रसगङ्गाधर" में—

यह पृथ्वीमण्डल क्या सिंदूर से परिपूर्ण है, अथवा लाक्षारस से धोया हुआ है, अथवा केसर के लेप से आलिप्त है, इस प्रकार के सन्देह मनुष्यों में उत्पन्न करती हुई त्रिलोकरक्षक सूर्य की प्रातःकालीन किरणों का समूह आप लोगों में कल्याण का प्रसार करे ॥ 217 ॥

यहाँ सिंदूरत्व आदि रूप से संशय का धर्मी किरणसमूह अध्यवसित हुआ है (अर्थात् सिंदूर आदि पद ही किरण का भी बोधक है)।

सन्देह अलंकार का निरूपण समाप्त हुआ ॥ 9

तत्तुल्यदर्शने स्याद्भ्रान्तिस्तद्वानलङ्कारः ॥सू 137॥

[1]प्राकरणिकेऽप्राकरणिकतया संवेदनमित्यर्थः। यथा—

जलदभ्रमेण भगवति[2] नृत्यन्ति वनेषु पश्यत मयूराः। यथा वा—

[54a] कपाले मार्जारः पय इति करा[3] ल्लेढि शशिन-
स्तरुच्छिद्रप्रोतान् [4]बिसमिति करी सङ्कलयति।
रतान्ते तल्पस्थान्[5] हरति वनिताप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति ॥218॥

इति भ्रान्तिमान् ॥10

एकस्यानेकैरप्यनेकधाग्रहणमुल्लेखः ॥सू 138॥

एकस्य वस्तुनोऽनेकैः पदैर्ग्रहीतृभिश्च अनेकप्रकारकग्रहणमुल्लेखालङ्कारः। उदाहरति—

काल रिपव धाम प्रियोऽयिनः स्वद्रुम मजन्ति त्वाम्।

यत्तूदाहृतम्[6]—

---

1 प्रस्तुते (मू पा टि)
2 कृष्णे (मू पा टि)
3 करान्ले॰
4 बिस॰
5 करान् (मू पा टि)
6 गङ्गाधरे (मू पा टि)

आलोक्य सुन्दरि[1] ! मुखं तव मन्दहासं
नन्दयन्त्यमन्दमरविन्दधियो मिलिन्दाः[2] ।
किं चालि[1] पूर्णमृगलाञ्छनसम्भ्रमेण
चञ्चूपुटं चटुलयन्ति चिरं चकोराः ॥219॥

तदेतन्नानाकोट्यवगाहिसम्भ्रमकुक्षिनिक्षिप्तमित्युपेक्ष्यम् । यथा वा—

यमाग्रष्टाङ्गज्ञा पुरुषमथ कर्त्तारमपरे
प्रकृत्याधीनत्वात् प्रकृतिमितरे यज्ञपुरुषम् ।
चतुर्व्यूहैरन्ये हरिमपि तदन्ये पशुपतिं
न मन्ये त्वत्तोऽन्यं [3]परमशिवनिर्वाणवपुषः[4] ॥220॥

इत्युल्लेख[5] ॥ 11

10 भ्रान्तिमान्—

उस (अन्य अप्राकरणिक वस्तु) के समान (प्राकरणिक वस्तु) के देखने पर जो अप्राकरणिक अर्थ का भान होता है वह भ्रान्ति है, उससे युक्त अलङ्कार भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ॥मू 137॥

प्राकरणिक (प्रस्तुत) में अप्राकरणिक (अप्रस्तुत) रूप से जो संवेदन (प्रतीति) है वह भ्रान्तिमान् अलङ्कार कहलाता है, यही अभिप्राय है। जैसे—

दखो भगवान् (कृष्ण) को देखकर बादल के भ्रम मे मयूर वनो मे नृत्य कर रहे हैं। अथवा—

कपाल मे स्थित चन्द्र-किरणो को दूध समझकर बिल्ली चाट रही है। वृक्ष के छिद्रो मे (पत्तो के बीच) पिरोई हुई किरणो को हाथी मृणालदण्ड समझकर उठा रहा है। कोई रमणी शय्या पर फैली हुई उन किरणो को साडी समझकर सुरत-सम्भोग के बाद समेटने लगती है। इस प्रकार प्रभा से मत्त हुआ यह चन्द्रमा इस जगत् म भ्रान्ति-जन्य विप्लव उत्पन्न कर रहा है, यह आश्चर्य की बात है ॥218॥

भ्रान्तिमान् अलङ्कार का प्रसग समाप्त हुआ ॥ 10

---

1 हे (मू पा टि)
2 भ्रमरा (मू पा टि)
3 हे (मू पा टि)
4 शरीरात् (मू पा टि)
5 ०ल्लेख

11 उल्लेख—

एक ही वस्तु का अनेक ज्ञाताओं द्वारा भी अनेक प्रकार का ग्रहण उल्लेख अलङ्कार है ॥सू 138॥

एक ही वस्तु का अनेक पदों द्वारा ग्रहण करने वाले (ज्ञाताओं) द्वारा अनेक प्रकार से ग्रहण उल्लेख अलङ्कार है। उदाहरण है—

तुमको शत्रु काल के रूप में, स्त्रियाँ कामदेव के रूप में और याचक कल्प-वृक्ष के रूप में ग्रहण करते हैं।

"रसगङ्गाधर" में जो निम्नलिखित उदाहरण दिया गया है—

हे सुन्दरि ! तुम्हारे मन्दहास्ययुक्त मुख को देखकर भ्रमर कमल के भ्रम से अत्यधिक आनन्दित होते हैं। और हे सखि ! चकोर पूर्णचन्द्रमा के भ्रम से चिरकाल तक चोंच को चंचल बनाते हैं ॥210॥

इस उदाहरण में दो भ्रमात्मक ज्ञान भिन्न-भिन्न (अन्य में अन्य विषयक होने से) भ्रमरूप हैं। (एक ज्ञान में भ्रमर द्वारा मुख को कमल समझा गया है और दूसरे ज्ञान में चकोर द्वारा मुख को चन्द्रमा समझा गया है।) अतः "रस-गङ्गाधर" में दिया गया यह उदाहरण भ्रान्तिमान् अलङ्कार रूप होने से उपेक्ष्य है। अथवा अन्य उदाहरण—

यम नियम आदि अष्टाङ्ग के ज्ञाता आपको पुरुष मानते हैं, अन्य लोग आपको कर्ता कहते हैं, प्रकृति की आधीनता के कारण कुछ लोग आपको प्रकृति कहते हैं तो दूसरे लोग मन्त्र-पुरुष मानते हैं। अन्य (दार्शनिक) चतुर्मुख हो के द्वारा हरि कहते हैं तो अन्य लोग पशुपति मानते हैं। किन्तु हे परमशिव ! मैं निर्वाणपुरुष आपसे अन्य किसी को नहीं मानता ॥220॥

उल्लेख अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ॥ 11

निह्नुतिरिह धर्माणामुपमेयनिषेधसाहचर्येण चारोप्यमाणमुपमा [न] [55ब] तादात्म्य A मपह्नुति सेयम् ॥सू 139॥

उदाहरण यथा—

> स्मित नैतज्ज्योत्स्ना न मुखमिन्दुर्न कुटिले
> भ्रूवाकङ्क पङ्केरुहयुगमनङ्के[1] कुवलयम्।

---

1 अके पङ्केरुहयुग न किन्तु कुवलय पाठविकाशि (मू पा टि)

कटाक्षप्रस्यन्दो न भवति सुधा नाधरतल-
द्युति सन्ध्याराग तरलयनि मे पङ्कजदृश ॥221॥

अत्रानुग्राह्यानुग्राहकत्वेनावयवसंघातात्मकतया सावयवा । निरवयवा तु यथा गङ्गाधरे—

श्याम स्मित च सुदृशो[1] न दृशो स्वरूप
किं तु स्फुट गरलमेतदथामृत च ।
नो चेत्कथ निपतनादनयो[2]स्तदैव
मोह मुद च नितरा दधते युवान ॥222॥

अत्र प्रतिज्ञातार्थवैपरीत्ये बाधकोपन्यासाद्धेत्वपह्नुति ।

उपमेयमसत्य कृत्वोपमान सत्यतया स्थाप्यते सापह्नुतिरिति प्राञ्च[3] ।

यत्तु कुवलयानन्दे[4]—

अन्यत्र तस्यारोपाय पर्यस्तापह्नुतिस्तु सा ।
नाय सुधाशु, किं तर्हि सुधाशु प्रेयसीमुखम् ॥

[5]इत्युक्त तत्सामान्यलक्षणानाक्रान्तत्वात्[6] प्राचा लक्षणविरोधाच्चोपेक्ष्यम् । सुधाशु प्रेयसीमुखमिति तु दृढारोप रूपकमेव नापह्नुति ।

इत्यपह्नुति ॥ 12

12 अपह्नुति—

जहाँ उपमेय का निषेध के साथ (उपमेय के) असाधारणधर्म (मुखत्व आदि) का निषेध होता है और (मुख आदि मे) आरोपित किया हुआ उपमान (चन्द्र आदि) के साथ अभेद अपह्नुति अलङ्कार कहलाता है ।।मू 139।।

उदाहरण जैसे—

यह मदहास नही, अपितु ज्योत्स्ना है । मुख नही चन्द्रमा है । ये कुटिल भौंहें नहीं, (चन्द्रमा का) कलङ्क है, अङ्क मे पङ्कज-युगल नही

---

1 स्मित्य (मू पा टि)
2 दृशो (मू पा टि)
3 काव्यप्रकाशकारा (मू पा टि)
4 अप्प [य] दीक्षितै (मू पा टि)
5 मूलपाठ मे सन्धि के कारण "प्रेयसीमुखमित्युक्त" लिखा है ।
6 निह्नुतिरिह धर्माणामित्याद्युक्तलक्षणाभावात् (मू पा टि)

अपितु (चाँद बिखानी) कुवलय है, कटाक्षों का प्रस्यन्द (चञ्चल निपात) नहीं प्रत्युत अमृत है यह अधरतल की लालिमा नहीं अपितु कमलनयनी मेरे लिये राग के रङ्ग तरलित (प्रवाहित) कर रही है ॥221॥

उक्त पद्य अनेक अपह्नुतियों का समूहरूप है जो परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव (समस्य-समर्थकभाव) से युक्त है अत यह सावयवा अपह्नुति है। निरवयवा अपह्नुति जैसे 'रुद्रालङ्कार' में—

सुनयना स्त्रियों के नेत्रों का स्वरूप श्याम और श्वेत नहीं है अपितु स्पष्ट रूप से यह विष और अमृत है। यदि ऐसा न होता तो इन नेत्रों के पतन से (दृष्टिपात से) तत्काल ही अवश्यरण ? सम्पादित मोह और आनन्द कैसे प्राप्त करते है ? ॥222॥

यहाँ विष और अमृत होने की प्रतिज्ञा की गई है और उसके विपरीत पक्ष (श्याम और श्वेत नयनों का स्वरूप ही है इस पक्ष में) बाधक हेतु का वर्णन ('नो चेत्' इत्यादि द्वारा) किया गया है अत इसे हेतु अपह्नुति कहा गया है।

काव्यप्रकाशकार का कथन है कि उपमेय को असत्य सिद्ध करके उपमान को ही सत्य रूप से जो स्थापित किया जाता है, वह अपह्नुति है।

कुवलयानन्द" में अप्पयदीक्षित ने भी कहा है—

जहाँ वस्तु के धर्म के निषेध के साथ ही उस धर्म का आरोप अन्य पर किया जाये, वहाँ पर्यस्तापह्नुति होती है। जैसे—यह चन्द्रमा नहीं है फिर चन्द्रमा कौन है ? चन्द्रमा तो प्रियतमा का मुख है।

इस कथन में ('नाय सुधांशु " में) अपह्नुति का सामान्य लक्षण घटित नहीं होता और इसका प्राचीन रूपकारों के लक्षण से विरोध होता है अत इसे अपह्नुति का भेद कहना समुचित नहीं है। चन्द्रमा प्रिया का मुख है—इस प्रकार यहाँ दृढारोप रूपक ही है अपह्नुति नहीं।

अपह्नुति का विवेचन समाप्त हुआ ॥ 12

सम्भावनमुत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यदिविशेषम्।
[55क] वस्तुसमहेतुनैवाऽऽरोप्या[1] च ? तु समान्ये ॥सू 140॥

---

1 जातिगुणक्रियाद्रव्य वस्तु। तत् वस्तूनि पञ्चादेशाहद्भेदेः भवन्ति।
(मु पा टि)

"तद्भिन्नत्वेन[1] तदभाववत्त्वेन[2] वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्वृत्तिनत्समानाधिकरणान्यतरतद्धर्मसम्बन्धनिमित्तक तत्त्वेन तद्वत्त्वेन वा सम्भावनमि"[3] ति त्रिशूली ।

तत्र 'लोकोत्तरप्रभाव त्वा मन्ये नारायण परम् ।"

नारायणेनाऽनेन प्रायशो भवितव्यमिति सम्भावनायामतिप्रसङ्गवारणाय प्रमितस्येत्यन्तम् ।

वदनकमलेन बाले स्मितसुपमालेशमावहसि [यदा] ।
जगदिह तदैव[4] जाने दशार्द्धबाणेन[5] विजितमिति ॥223॥

अत्र जगज्जयसम्भावनायामतिप्रसङ्गवारणाय रमणीयतद्धर्मनिमित्तकमिति ।

दूरस्थोऽय देवदत्त इवाभातीति, चञ्चलत्वादिसाधारणधर्मनिमित्ताया सम्भावनायामतिप्रसङ्गवारणाय धर्मगत रमणीयत्वम् । रूपकेऽतिप्रसङ्गवारणाय सम्भावनमिति[6] । तदेतत् समप्रकृताभ्या[7] निगीर्णमिति गौरवादुपेक्ष्यम् ।

समेनेत्युपमानेन वस्तुफलहेतुभेदात् सम्भावनस्य त्रैविध्यात् वस्तूत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षा हेतूत्प्रेक्षा चेति त्रिविधोत्प्रेक्षा ।

[56अ] तत्र जातिगुणक्रियाद्रव्याद्य वस्तु । तत्र स्वरूप एव अन्ये फलहेतूत्प्रेक्षे । सर्वाप्युत्प्रेक्षा द्विधा वाच्या प्रतीयमाना च । नून मन्ये जाने शके ध्रुव प्रायस्तर्कयामि उत्प्रेक्षते तदिव भातीत्यादि प्रतिपादकसहिता वाच्या । प्रतिपादकशब्दरहितत्वेन सामग्रीमात्रप्रतीत्या प्रतीयमाना।

---

1 उपमेयभिन्नत्वेन (मू पा टि)
2 उपमेयाभाववत्त्वेन वा (मू पा टि)
3 उत्प्रेक्षा (मू पा टि)
4 ०देव
5 कामेन (मू पा टि)
6 ०नमति
7 प्रकृतस्य समेनेत्यत्रोक्ताभ्यामित्यर्थः (मू पा टि)

यत्र तु प्रतिपादकमात्र सामग्रीविरहस्तत्र सम्भावनमेव नोत्प्रेक्षा। तत्र जातिगुणक्रियाद्रव्यात्मकेषु विषयेषूत्प्रेक्षण वस्तूत्प्रेक्षा।

साम्युक्तास्पदानुक्तास्पदा चेति द्विधा ॥सू 141॥

13 उत्प्रेक्षा—

प्रकृत (उपमेय) की सम (उपमान) के साथ सम्भावना उत्प्रेक्षा कहलाती है। वस्तु फल और हेतु भेद से यह उत्प्रेक्षा तीन प्रकार की होती हैं (वस्तूत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा)। जाति आदि (जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप) वस्तु है और वस्तु मे फलोत्प्रेक्षा तथा हेतूत्प्रेक्षा होती है ॥सू 140॥

त्रिशूली (रसगङ्गाधरकार) ने कहा है कि उपमेय की भिन्नता से ज्ञात पदार्थ की, उस पदार्थ मे रहने वाले किसी सुन्दर धर्म को मूल मानकर की जाने वाली सम्भावना अथवा उपमेय की प्रभावकता से ज्ञात पदार्थ की, उस धर्म के साथ रहने वाले किसी सुन्दर धर्म को निमित्त मानकर की गयी, उस धर्म की अथवा उस धर्म को युक्त होने की सम्भावना उत्प्रेक्षा है।

जैसे लोकोत्तर प्रभाववाले तुमको मैं श्रेष्ठ नारायण मानता हूँ।

यहाँ "यह प्राय नारायण होगा" ऐसी सम्भावना उत्पन्न होगी, इस सम्भावना मे अतिव्याप्ति के वारण के लिये 'प्रमित" (जिस पदार्थ का भेद जिस पदार्थ मे यथार्थतया ज्ञात हो) शब्द विद्यमान है।

हे बालिके ! जब मुखकमल द्वारा मुस्कुराहट की शोभा का एक लेश धारण करती हो तो मैं उसी समय जान लेता हूँ कि इस जगत् को पचबाण (को धारण करने वाले कामदेव) ने जीत लिया है ॥223॥

यहाँ जगत् को जय करने की सम्भावना वर्णित की गयी है, उसमे अतिव्याप्ति के वारण के लिये लक्षण मे "रमणीयतद्धर्मनिमित्तकम्" (दोनो पदार्थों मे रहने वाले किसी रमणीय धर्म को निमित्त मानकर) यह अश रखा गया है।

'दूर खड़ा यह देवदत्त-सा प्रतीत होता है," इत्यादि मे चचलता आदि साधारणधर्म को निमित्त मानकर की जाने वाली सम्भावनाओ मे अतिव्याप्ति के वारण के लिये निमित्तभूत धर्म मे स्थित "रमणीयत्व" विशेषण दिया गया है। रूपक मे अतिव्याप्ति के वारण के लिये "सम्भावना" शब्द कहा गया है। (रूपक का ज्ञान निश्चयरूप होता है, सम्भावना रूप नही।) अत यह "प्रकृत समेन"

इस प्रकार कहे गये शब्दों द्वारा निगीर्ण हो जाता है—इसलिए अतिविस्तार से बचने के लिये उपेक्षणीय है।

उत्प्रेक्षा-भेद—सम अर्थात् उपमान के साथ वस्तु, फल और हेतु भेद से सम्भावना तीन प्रकार की होती है। अत उत्प्रेक्षा तीन प्रकार की होती है—वस्तूत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा (अर्थात् जहाँ किसी एक वस्तु-उपमेय की किसी दूसरी वस्तु—उपमान के साथ तादात्म्य सम्भावना हो, वह स्वरूपोत्प्रेक्षा या वस्तूत्प्रेक्षा होती है। जहाँ किसी वस्तु के किसी कार्य के हेतु न होने पर उसकी हेतुत्व-सम्भावना की जाये, वह हेतूत्प्रेक्षा होती है। और जहा किसी वस्तु के फल न होने पर उसमें प्रकृत के फलत्व की सम्भवाना की जाये, वहाँ फलोत्प्रेक्षा होती है)।

जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप प्रकृत विषयो मे उत्प्रेक्षा करना ही वस्तूत्प्रेक्षा है। इस वस्तुरूप मे ही फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा है। सभी (तीनो) प्रकार की उत्प्रेक्षा ही दो-दो प्रकार की होती है-वाच्या और प्रतीयमाना। जहाँ उत्प्रेक्षा वाचक "नूनम्", "मन्ये" "जाने", "शङ्के", "ध्रुवम्", "प्राय", "तर्कयामि" (तर्क करता हूँ), "उत्प्रेक्षते" (उत्प्रेक्षा करता हूँ), "इव", "भाति" इत्यादि शब्द वाच्य रहते हैं, वहाँ वाच्योत्प्रेक्षा होती है। जहाँ उत्प्रेक्षावाचक शब्द नही होने पर सामग्री मात्र से उत्प्रेक्षा प्रतीत हो, वह प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा होती है। जहाँ उत्प्रेक्षावाचक शब्द नही होने पर, सामग्री मात्र से उत्प्रेक्षा प्रतीत हो, वह प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा होती है। जहाँ उत्प्रेक्षाबोधक शब्द हो पर सामग्री न हो, वहाँ केवल सम्भावना मानी जाती है, उत्प्रेक्षा नही। जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप प्रस्तुत विषयो मे उत्प्रेक्षण करना ही वस्तूत्प्रेक्षा है।

वह वस्तूत्प्रेक्षा भी दो प्रकार की है—उक्तास्पदा (उक्त विषया) और अनुक्तास्पदा (अनुक्त विषया) ॥सू 141॥

क्रमेणोदाहरणम्—

> स्मितप्रकाश वदन सुदत्या वचावलिव्याकुलित रतान्ते।
> वैरेण मन्ये तमसा निरुद्ध बिम्ब सुधाशो परिकूजतीति ॥224॥

अत्र रतकूजितविशिष्टमुखविषये तम कर्तृकवैरहेतुककर्माभिन्नोत्प्रेक्षितशशितादात्म्योत्प्रेक्षणपूर्वक कूजनकर्तृत्वधर्म उत्प्रेक्ष्यते सेयमुक्तास्पदा[1]। यथा वा—

---

1 ०क्तास्पदा

कलिन्दजातीरभरेऽर्द्धमग्ना बका प्रकाम कृतभूरिशब्दा ।
ध्वान्तेन वैरादिनिगीर्यमाणा क्रोशन्ति मन्ये मिहिर किशोरा ॥225॥

अत्र क्रियारूपा वस्तूत्प्रेक्षा । काव्यप्रकाशे —

[56ब] उन्मेषं य यो[1] मम[2] न सहते जातिवैरी[3] निशाया-
मिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पं ।
नीत शान्ति प्रसभमनया वक्त्रकान्त्येति हर्षा-
ल्लग्ना मन्ये ललिततनु[4] ते[5] पादयो पद्मलक्ष्मी ॥226॥

अनुक्तास्पदा तु उदाहृता[6] यथा—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जन नभ ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलता गता ॥227॥

अत्र प्रथमान्तार्थे कर्त्तरि लेपनकर्तृत्वादेरुत्प्रेक्षणम् । विषयस्य नभ -कर्तृकव्यापनस्य निगीर्णत्वादनुक्तास्पदा । काव्यप्रकाशगतोदाहरणे तु हेतूत्प्रेक्षा हर्षरूपहेतुमात्रस्योत्प्रेक्षात्वात् ।

फलोत्प्रेक्षा सिद्धास्पदा यथा—

अतिभरशालिग्तनयुगमनायासेनैव[7] धारयत्वे[8][षा] ।
वलिगुणनिबद्धमस्यामितीव मन्ये धृत मध्यम् ॥228॥

वलिगुणनिबन्धनाभावेपि मध्यस्य कुचधृते तरात्तृंकत्वेन तस्यास्तत्फलत्वेनोत्प्रेक्षा [9]सिद्धविषया ।

---

1 चन्द्र (मू पा टि)
2 कमलस्य (मू पा टि)
3 जातवैरी (मू पा टि)
4 हे (मू पा टि)
5 तव (मू पा टि)
6 पूर्वसूरिभि (मू पा टि)
7 °मनयासेनैव
8 °यतु°
9 सिद्धावि°

सैवासिद्धास्पदा यथा—

[1]अनशनमातपसहनं वने निवासं च तपो रम्भा[2] ।
प्रायस्त्वदूरुसमतामधिगन्तु तरुणि[3] सतनुते ॥229॥

[57अ] अत्रोरुसमताधिगमो न तपःफलमिति [4]तत्त्वेनोत्प्रेक्षासिद्ध-विषया ।

क्रम से इनके उदाहरण हैं—

रति-क्रीडा के अन्त में सुन्दर दांतों वाली सुन्दरी का केशराशि से घिरा हुआ उज्ज्वल मुस्कराहट से युक्त मुख ऐसा ज्ञात होता है मानो विरोध के कारण अन्धकार में अवरुद्ध चन्द्रमा का बिम्ब अस्पष्ट ध्वनि (परिकूजन) कर रहा है॥224॥

यहाँ रति-कूजित से विशिष्ट मुखरूप विषय में अन्धकारकर्तृक वैरहेतुक कर्म से अभिन्न रूप में उत्प्रेक्षित चन्द्रमा के साथ तादात्म्य की उत्प्रेक्षणा के साथ उनमें कूजन कर्तृत्व धर्म की उत्प्रेक्षा की गई है—अतः यह उक्तास्पदा उत्प्रेक्षा है ।

अथवा अन्य उदाहरण—

यमुना नदी के तीर स्थित जल में आधे डूबे हुए और अत्यधिक कोलाहल करते हुए बगुले ऐसे प्रतीत होते हैं मानो वैर के कारण अन्धकार के द्वारा निगले जाते हुए बाल-चन्द्रमा चिल्ला रहे हैं ॥225॥

यहाँ क्रियारूप वस्तूत्प्रेक्षा है । "काव्यप्रकाश" में उदाहरण दिया गया है—

जो जन्म का वैरी चन्द्र रात्रि में भी मेरे (कमल के) विकास को सहन नहीं करता, उस चन्द्रमा के सौन्दर्य-गर्व को इस नीलकमल के समान नयनों वाली (सुन्दरी) ने अपने मुख की कान्ति से हठात् ही नष्ट कर दिया है, अतः हे सुन्दर शरीरवाली प्रिये ! हर्ष के कारण कमलश्री मानो तुम्हारे चरणों में सलग्न हो गई है ॥226॥

पूर्ववर्ती विद्वानों के अनुसार अनुक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा का उदाहरण दिया गया है, जैसे—

---

1 आप एवाशनं यस्मिन् तत् तपः (मू पा टि)
2 कदली (मू पा टि)
3 इ (मू पा टि)
4 तत्त्वे०

अन्धकार मानो अंगों को लीप रहा है, आकाश मानो काजल की वर्षा कर रहा है। दुष्ट पुरुष की सेवा के समान दृष्टि निष्फल हो गई है ॥227॥

यहाँ प्रथमान्त पदार्थ कर्त्ता (अन्धकार और आकाश) में लेपन आदि (लीपना और वर्षा करना रूप) कर्तृत्व अर्थात् क्रियाओं की उत्प्रेक्षा है। नभ की क्रिया "अञ्जन की वर्षा करना" के द्वारा अन्धकार की क्रिया व्यापन (व्याप्त होना) रूप विषय को यहाँ निगीर्ण कर लिया है अतः यह अनुक्त विषया उत्प्रेक्षा है। "उन्मेष यो मम" इत्यादि काव्यप्रकाशगत उदाहरण में (शोभारूप विषय में) हृषरूप हेतु की उत्प्रेक्षा की गयी है अतः यह हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण है।

सिद्धविषया (सिद्धास्पदा) फलोत्प्रेक्षा जैसे—

अति भारयुक्त स्तनयुगल को यह सरलता से ही धारण करे, इसीलिए (विधाता द्वारा) इसके मध्य भाग (कटि) को त्रिवली रूपी गुण (तिहरी डोरी) से निबद्ध किया गया है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥228॥

यहाँ वलिगुण के निबन्धन का अभाव होने पर भी कटि द्वारा कुचों को धारण करने में कर्तृत्व के कारण "उस क्रिया का यह फल है" इस उत्प्रेक्षा के कारण यह फलोत्प्रेक्षा सिद्धविषया है।

असिद्धविषया (असिद्धास्पदा) फलोत्प्रेक्षा जैसे—

हे सुन्दरी ! तुम्हारी जघाओं से लगभग समानता प्राप्त करने के लिये ही मानो कदली (केले के पौधे) ने केवल जल ही आहाररूप में लेने, धूप सहने और वन में निवास करने का तप प्रारम्भ किया है ॥229॥

यहाँ जघाओं से समानता प्राप्त करना तपस्या का फल नहीं है, इस रूप में उत्प्रेक्षा असिद्धविषया है।

अथ हेतूत्प्रेक्षा साऽपि तथा[1] ॥ सू 142॥

तत्राद्या यथा कुवलयानन्दे—

> रात्रौ रवेर्दिवा चन्द्रस्याभावादिव स प्रभु ।
> भूमौ प्रतापयशसी सृष्टवान् सततोदिते ॥ 230 ॥

अत्र प्रतापयशसो सर्गे अहेतोरपि हेतुत्वेन कल्पनम्।

---

1 तथेति सिद्धास्पदासिद्धास्पदा चेत्यर्थ (सू पा टि)

द्वितीया यथा तत्रैव—

विवस्वताऽनायिषतेव[1] मिथः स्वगोवहस्तेन[2] सम जनानाम् ।
गावोऽपि[3] नेत्राऽपरनामधेयास्तेनेदमाऽऽन्ध्य खलु नान्धकारं ॥ 231 ॥

अत्रासदेव रात्रावान्ध्यहेतुत्वेनोत्प्रेक्ष्यते इत्यसिद्धविषया ।

क्रमेणोदाहरणान्तराणि तत्रान्यधर्मसम्बन्धनिमित्ते नान्यस्यान्यतादात्म्यसम्भावनरूपा तमो व्यापनस्यानुपादानान्नभः कर्तृ कान्जनवर्षणतादात्म्योत्प्रेक्षा । तादृशयुक्तास्पदा लेपनरूपविषयोपादानात्[4] ।

निम्पतीव तमो गात्र गृहीतमिव मुष्टिना ।
तवारि दुर्यशो राजन् दिनेप्यन्धयति प्रजा ॥ 232 ॥

अथ वस्तुस्यैव ।

[57 ब]   कीर्ति स्तवैरावनदन्ति दन्तान् विनम्रकल्पद्रुमपुष्पराजीन् ॥
समुल्लसन्ती वदनाम्बुजेभ्य सुपर्वणामुज्ज्वलमत्वजस्रम् ॥ 233 ॥

अत्रोज्ज्वलीकरणाद्हेतोर्हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणे इवाद्यनुपादानात्प्रतीयमानोत्प्रेक्षा वदनाम्बुजनिर्गमनरूपविषयसद्भावात् सिद्धास्पदा ।

हेतूत्प्रेक्षा भी फलोत्प्रेक्षा के समान दो प्रकार की होती है–सिद्धविषया और असिद्धविषया ॥ सू 142 ॥

प्रथम सिद्धविषया का उदाहरण "कुवलयानन्द" के समान—

उस राजा ने रात्रि मे सूर्य का और दिन मे चन्द्रमा का अभाव होने के कारण ही मानो पृथ्वी पर निरन्तर प्रकाशित रहने वाले प्रताप और यश की सृष्टि की ॥ 230 ॥

यहाँ रात्रि में सूर्य का अभाव और दिन मे चन्द्रमा का अभाव, राजा के प्रताप और यश की रचना का कारण नहीं है, परन्तु फिर भी कवि ने सूर्यचन्द्राभाव को राजा के प्रतापयश की सृष्टि का हेतु कल्पित किया है (अतः यह सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है) ।

---

1 निन्दे इत्यर्थं (मू पा टि)
2 किरणसमूहेन (मू पा टि)
3. नेत्राणि (मू पा- टि-)
4 पाण्डुलिपि में भूल करके ' विषयोपादानान्लिम्पतीव" दिया गया है ।

हेतूत्प्रेक्षा के द्वितीय भेद असिद्धविषया का उदाहरण भी 'कुवलयानन्द' के समान ही—

सूय अपनी सहस्र गायों (किरणों) के साथ मिली हुई लोगों की नेत्र इस दूसरे नाम वाली गायों (नेत्रों) को भी मानो घेरकर ले गया है, उसी से यह अन्धता हो गयी है, अन्धकार के कारण यह अन्धता नहीं है ॥ 231 ॥

यहाँ (सूर्य अपनी किरणों के साथ लोगों के नेत्रों को ले गया है, यह सम्भावना की गयी है जो) असत्य है, पर कवि ने उसी को रात्रिगत अन्धता का हेतु उत्प्रेक्षित किया है, इस प्रकार यह असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है।

क्रम से दिये गये अन्य उदाहरणों के अन्तर्गत यहाँ ('लिम्पतीव तमोऽङ्गानि इत्यादि उदाहरण में) अन्य धर्म का सम्बन्ध निमित्त होने के कारण अन्य वस्तु का अन्य वस्तु से तादात्म्य सम्भावना रूप है। अंधकार की क्रिया-व्यापन (व्याप्त होना) रूप विषय को यहाँ निर्गीर्ण कर लिया गया है। "नभ' की क्रिया 'अञ्जन की वर्षा करना" इस तादात्म्य की सम्भावना रूप होने से उत्प्रेक्षा है। उसी प्रकार लेपनरूप विषय का ग्रहण करने से यहाँ उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा होगी—

मुट्ठी के द्वारा ग्रहण किये हुए के समान मानो अन्धकार शरीर को लीप रहा है। हे राजन्! तुम्हारे शत्रुओं की अपकीर्ति अबाधों की दिन मे भी अधा बना रही है ॥ 232 ॥

यहाँ वस्तुरूप उत्प्रेक्षा ही है।

तुम्हारी कीर्ति देवताओं के मुखकमलों से प्रकाशित होती हुई ऐरावत हाथी के दातों, तथा सूखे हुए कल्पवृक्ष के पुष्पसमूह को निरन्तर उज्ज्वल बनाती है ॥ 233 ॥

यहाँ उज्ज्वलीकरण के अहेतु की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा की गई है अतः हेतूत्प्रेक्षा है। "इव" आदि शब्दों का कथन नहीं होने से प्रतीयमान उत्प्रेक्षा है। वदनाम्बुज (मुखकमल) से निर्गमनरूप विषय का ग्रहण होने से यह सिद्धास्पदा (सिद्धविषया) हेतूत्प्रेक्षा है।

> यशोऽम्भसा स्वमुखकान्तिमब्जैर्विरोधितं शीतकरेण प्रश्नन्।
> राजन्नये साम्यगुणारविन्या बभूव दोषाय तथापि तस्य ॥ 234 ॥

अत्र मुखकान्तिकामनावैरहेतुर्न भवति वस्तुतस्तादृशकामनाऽभावा-दसिद्धास्पदा।

यशोविनानस्य गुणा गुणास्ते[1] दिशेभदन्त इड्कीलबद्धा ।
त्रिवर्णशुद्धा मतिरस्य[2] गुप्त्यै कृतोज्ज्वला दण्डचतुष्टयी किम् ॥
॥ 235 ॥

अत्र दण्डचतुष्टयीकर्तृ कवितानगुप्तेस्तत्फलत्वेन ।

उत्पत्य गगन भानौ पतत्यनलचिन्तया ।
प्राप्तु तवानर्नेक्य किमिन्दु प्रनिपर्वणि ॥ 236 ॥

अत्रानलनिपतनधियाऽध्यवसितस्येन्दुनिपातस्य नाननैक्यप्राप्ति फल तत्र फलत्वेनोत्प्रेक्षणमसिद्धास्पदम् ।

अत्र केचिद्वाच्यप्रतीयमानयोरुत्प्रेक्ष्य जात्याद्यम् । तत्र वस्तुहेतुफलात्मकत्व विना द्रव्य भवतीति ।

तत्र जाति —

[58 अ] पीताम्बरेण पवनप्रणतिर्नैनाद्य गोपाल ।
प्रचलत्पताक इव किं विजयस्तम्भ स्मरस्य भाति ॥ 237 ॥

गुण —

अलके[3] तिलके[4] निरीक्षिते[5] वचने चेतसि भाविता मुहु ।
त्वयि वक्रिम[6]चातुरी पर सहजातेव सुख निमीलति ॥ 238 ॥

क्रिया—

त्वत्प्रतापानल शत्रूनिघनीकृत्य नित्यश ।
नद्यश पारद भस्मरोनीवात्मतृप्तये ॥ 239 ॥

फुल्ल पद्ममिवाभाति वदन तन्वि तावकम् ।
चञ्चरीक इवाम ते किं पतयालि कामुक ॥ 240 ॥

---

1 हे राजन् ते गुणा *औदार्यधैर्यादयो यशश्चन्द्रोदयस्य गुणा रज्जुरूपा,
* अदा ० (मू पा टि)
2 अस्य यशोविनानस्य गुप्त्यै रक्षणाय (मू पा टि)
3 कुटिलकचे (मू पा टि)
4. तिलके ललाटे (मू पा टि)
5 विलोकने (मू पा टि)
6 वक्रिमेव गुण (मू पा टि)

अनेक व्यक्तित्वात् द्रव्यशब्द ।

इत्युत्प्रेक्षालङ्कार ॥ 13

तुम्हारे मुख की कान्ति प्राप्त करने की इच्छा करते हुए चन्द्रमा निरन्तर कमलो से विरोध रखता है। फिर भी उसके नेत्रो के अञ्जन (कज्जल) से समानता के लिये कलङ्करूपी गुण की इच्छा उसके दोष के लिये ही हुई ॥ 234 ॥

मुखकान्ति की इच्छा वैर का कारण नहीं होती, वस्तुत इस प्रकार की कामना का अभाव होने के कारण यह असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण है।

हे राजन् ! तुम्हारी उदारता, धैर्य आदि गुण यशरूपी चदोवे के रज्जुरूप है जो दिशारूपी हाथी के दातो की दृढ कील मे बद्ध हैं (अर्थात् गुणो के कारण यश समस्त दिशाओ मे व्याप्त है)। इस यश रूपी वितान की रक्षा के लिये त्रिवर्ग (प्रणव) से शुद्ध उज्ज्वल बुद्धि नियुक्त है, तब दण्डचतुष्टयी (चदोवे के लिये प्रयुक्त चार डण्डे) का क्या प्रयोजन है ? ॥235 ॥

यहाँ दण्डचतुष्टयी के कर्त्ता वितान की रक्षा का उसके फलरूप मे उत्प्रेक्षा किये जाने के कारण फलोत्प्रेक्षा है।

प्रतिपर्व मे चन्द्रमा क्या आममात्र मे उठकर सूर्य मे, अपने आपको अग्नि मे जलाने का ख्याल करता हुआ, जाकर गिरता है ? तो क्या उसका यह कार्य मुख से एकता प्राप्त करने के लिये है ? ॥236॥

यहाँ अग्नि मे गिरने की बुद्धि से अध्यवसित चन्द्रमा के गिरने का एकत्व फल है और फलरूप मे उत्प्रेक्षा किये जाने से असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा है।

यहाँ कुछ लोगो ने वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा के दो भेद वाच्या और प्रतीयमाना उत्प्रेक्षाओ के जाति आदि बहुत से भेद किये है जिनमे से वस्तु, हेतु एव फलात्मक उत्प्रेक्षा द्रव्य-रहित होती है।

जाति को निमित्त बनाकर उत्प्रेक्षा का उदाहरण है—

हे सखि ! आज वायु से हिलाये जाते हुये पीताम्बर के कारण गोपाल क्या हिलती हुयी पताका वाले कामदेव के विजयस्तम्भ के समान है ॥ 237 ॥

गुण का उदाहरण जैसे—

कुटिल केश, ललाट, दृष्टि, वचन और चित्त मे बार-बार भावित होने वाली तुम्हारी अत्यन्त वक्रता की मानो जन्मजात चातुरी मुख को छीन लेती है।
॥ 238 ॥

क्रिया का उदाहरण—

तुम्हारे प्रताप की अग्नि नित्य ही शत्रुओं को ईंधन बनाकर मानो अपनी तृप्ति के लिए उनके यशरूपी पारे को जलाकर राख कर देती है ॥ 239 ॥

हे कृशाङ्गि ! तुम्हारा मुख प्रफुल्लित कमल की भाँति सुशोभित होता है। हे सखि ! यह कामुक क्या भौंरे के समान तुम पर गिर रहा है ॥ 240 ॥

यहाँ एक व्यक्तिरूप होने के कारण द्रव्यशब्द है।

उत्प्रेक्षा अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ है ॥ 13

विषयस्य विषयिणा यन्निगरणमस्योक्तिरतिशयोक्तिः सा ॥ सू 143 ॥

शक्यतावच्छेदरूपेणाऽन्यस्य बोधनमुक्तिः। उदाहरति—

कनकलता[1] मिलितो मे हरति तमालद्रुमस्तापम्।

अत्र तमालेन विषयिणा विषयस्य भगवतो निगरणम्।

इय रूपकातिशयोक्तिरिति कुवलयानन्दे। यथा वा ममैव—

> [2]बधूकविंशुकसरोरुहपुष्पिताग्रा
> सा केलिकाननमही कुसुमायुधस्य।
> यस्या सरस्तटमवाप्य नवालताऽन्या-
> धत्ते फलोद्गममदः सुकृतेन यूनाम् ॥ 241 ॥

कुवलयानन्दे—

> [58ब] समावद्धप्रासैः A पवनचकोरैरनुसृत
> किरन् ज्योत्स्नामच्छा लवलिफलपाकप्रणयिनीम्।
> उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना-
> गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ॥ 242 ॥

अत्र प्रसिद्धचन्द्रात्कोयमिति भेदस्तत उत्कर्षश्च।

---

1 कनकलतात्वेन राधिकायास्तमालद्रुमत्वेन हरेरिति विषयस्य निगरणम् (मू पा टि)

2 अत्र बधूकादिविषयिणा अधरनासानेत्ररूपविषयस्य मध्यानाभिकाया सरस्तटमिति नाभे फलोद्गमेन कुचस्य च निगरणम् (मू पा टि)

काव्यप्रकाशे[1]—

प्रस्तुतस्य यदन्यत्व यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ।
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

[2]अण्णं[3] लडहत्तणअं[4] अण्णं[5] चिअ[6] कावि[7] वत्तणच्छाया ।
सामा सामण्णपआवइणो[8] रेहिच्चिअ ण होइ ॥ 243 ॥

14 अतिशयोक्ति—

विषयी (उपमान) के द्वारा विषय (उपमेय) का जो निगरण होता है उसकी उक्ति ही अतिशयोक्ति है ॥ सू 143 ॥

शक्यतावच्छेदकरूप से अर्थात् अभिहित शब्दार्थ के असाधारण धर्मरूप से अन्य (अर्थ) का बोधन ही उक्ति है। उदाहरण—

कनकलता से मिला हुआ तमालवृक्ष मेरे ताप (दुःख) को दूर करता है।

यहाँ (कनकलता रूप विषयी के द्वारा राधिका रूप विषय का तथा) तमाल वृक्षरूप विषयी के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण रूप विषय का निगरण किया गया है।

"कुवलयानन्द" में (इस प्रकार विषयी के द्वारा विषय का अध्यवसाय होने पर) उसे रूपकातिशयोक्ति कहा गया है।

अथवा मेरा (हरिप्रसादरचित) ही उदाहरण जैसे—

कल्पवृक्ष, विद्रुम (दाव का) वृक्ष और कमल के पुष्पों से युक्त अंगों वाली वह (युवती) कामदेव की क्रीडाकानन रूपी भूमि है, जिसमें सरोवर-तट को प्राप्त करके अन्य नवीन लता युवकों के अनुग्रह से इस फलोद्गम को धारण करती है।

---

1 अतिशयोक्तेर्लक्षणमिति शेष (मू पा टि)
2 अन्यत् मनोज्ञत्व अन्यदेव कापि वर्तनच्छाया ।
श्यामा सामान्यप्रजापते रेखैव च न भवति ॥ इति संस्कृतम् ।
3 अन्यत् (मू पा टि)
4 मनोज्ञत्व (मू पा टि)
5 अन्य (मू पा टि)
6 देव (मू पा टि)
7 कापि (मू पा टि)
8 सामान्य प्रजापते समागमाना रेखैव न भवति (मू पा टि)

(यहाँ बन्धूकादि विषयी के द्वारा मध्यानायिका के अधर, नासिका और नेत्ररूप विषय का, सरोवर के तट द्वारा नाभि का तथा फलोद्गम द्वारा कुचों का निगरण *किया गया है।*) ॥ 241 ॥

"कुवलयानन्द" में (उदाहरण दिया गया है)—

("विद्धशालभञ्जिका" नाटिका में राजा विदूषक से नायिका के मुख की प्रशंसा करता हुआ कह रहा है—) लवलीलता के पके फल के समान श्वेत चाँदनी को अमृत का ग्रास समझकर उपवन के चकोरों द्वारा जिसका पान किया जा रहा है, इस प्रकार की श्वेत चाँदनी बिखेरता हुआ परकोटे के अग्रभाग पर देखो और *तनिक अनुमान लगाओ कि आकाश के बिना ही, हरिण-रहित (जिसमें हरिण का* कलंक नहीं है ऐसा) यह कौन चन्द्रमा है। (उक्त पद्य में नायिकामुख रूप विषय का निगरण कर चन्द्रमा रूप विषयी के साथ उसका अध्यवसाय स्थापित किया गया है।) ॥ 242 ॥

यहाँ ("कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः" इस पद से इस चन्द्रमुख का) प्रसिद्ध चन्द्र से भेद एवं उत्कर्ष व्यञ्जित किया गया है।

"काव्यप्रकाश" में (अतिशयोक्ति का लक्षण दिया गया है)—

प्रस्तुत अर्थ का अन्य रूप से वर्णन, 'यदि' के समानार्थक शब्द लगाकर कल्पना करना तथा कार्य-कारण के पौर्वापर्य का विपर्यय (भी अतिशयोक्ति कह-लाता है)।

क्रमशः अतिशयोक्ति के उदाहरण हैं—

हे देव। (नायिका की) सुन्दरता कुछ और ही (लोकोत्तर) है, शरीर की कान्ति भी कुछ और ही है। वह श्यामा साधारण (सृष्टि-निर्माता) प्रजापति की तो रेखा (रचना) ही नहीं हो सकती ॥ 243 ॥

(यहाँ प्रस्तुत नायिका का वर्णन अन्य रूप में किया गया है।)

"यद्यर्थस्य" यदिशब्देन चेच्छब्देन वा उक्तौ यत्कल्पनमर्थादसम्भावि-नोऽर्थस्य यथा—

> राकायामकलङ्कं चेदमृतांशोर्भवेद्वपुः ।
> तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ॥ 244 ॥

कारणस्य शीघ्रकारिता वक्तुं कार्यस्य पूर्वोक्तौ—

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्या कुसुमचापबाणेन ।
चरम[1] रमणीवल्लभ[2] लोचनविषय त्वया भजता ॥[3] 245 ॥

अयोगे योगकल्पनायां तु सम्बन्धातिशयोक्ति । यथा —

[59अ] कतिपयदिवसैं क्षय प्रयायात् कनकगिरि कृतवासरावसान ।
इति मुदमुपयाति चक्रवाकी वितरणशालिनि वीररुद्रदेवे[4] ॥ 246 ॥

कार्यस्य हेतुमात्रप्रसक्तौ चपलातिशयोक्ति । यथा—

यामि न यामीति धवे वदति पुरस्तात्क्षणेन तन्वङ्ग्या ।
गलितानि पुरो वलयान्यपराणि तथैव दलितानि ॥ 247 ॥

कार्यकारणयो सहत्वे अक्रमातिशयोक्ति —

मुञ्चति मुञ्चति कोशं[6] भजति च भजति प्रकम्पमरिवर्गं ।
हम्मीरवीरखड्गे त्यजति त्यजति क्षमामाशु[7] ॥ 248 ॥

वेदे अतिशयोक्तिर्यथा—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया"विति । स्मृतौ च "या निशा सर्वभूतानाम्"ति ।

इत्यतिशयोक्ति ॥ 14

"यद्यर्थ" में अर्थात् यदि शब्द के द्वारा अथवा (उसके समानार्थक) चेत् शब्द के द्वारा कथन करने में जो कल्पना अर्थात् असम्भव अर्थ की कल्पना (की जाये उस अतिशयोक्ति का उदाहरण) जैसे—

पूर्णिमा की रात्रि में चन्द्रमा का बिम्ब कलङ्करहित हो तब उस (नायिका) का मुख (चन्द्रमा के सादृश्यरूप) पराभव को प्राप्त कर सकता है ॥ 244 ॥

---

1 पश्चात् (मू पा टि)
2 हे (मू पा टि)
3 मालतीमाधवे (मू पा टि)
4 कुवलयानन्दे (मू पा टि)
5 त्वयि (मू पा टि)
6 कोश खड्गपिधान भाण्डागार च प्रकम्प खड्गचालन शरीरकम्पन च (मू पा टि)
7 खड्गे क्षमा शान्तिस्त्यजति अन्यरिपव क्षमा पृथ्वी त्यजन्तीत्यर्थ (मू पा टि)

कारण की शीघ्रकारिता को कहने के लिये कार्य को पूर्व में कहा जाये (उस अतिशयोक्ति का उदाहरण "मालती-माधव" नाटक का है)—

हे रमणीवल्लभ (स्त्रियों के प्रिय नायक)! पुष्परूपी धनुष और बाण वाले कामदेव ने मालती के हृदय पर पहिले ही अधिकार कर लिया और तुम दृष्टिगोचर होकर बाद में (उसके हृदय पर अधिकार कर पाये) ॥ 245 ॥

असम्बन्ध (अयोग) में सम्बन्ध (योग) की कल्पना सम्बन्धातिशयोक्ति कहलाती है। जैसे "कुवलयानन्द" में—

वीररुद्रदेव के दानशील होने पर चक्रवाकी इसलिए प्रसन्न हो रही है कि अब दिन का अन्त करने वाला स्वर्णपर्वत (मेरुपर्वत) कुछ ही दिनों में क्षीण हो जायेगा ॥ 246 ॥

(यहाँ "सूर्यास्त करने वाला मेरुपर्वत शीघ्र समाप्त हो जायेगा" इस सम्भावना के द्वारा प्रयुक्त चक्रवाकी के सन्तोष के असम्बन्ध में भी उसके सम्बन्ध का वर्णन किया गया है।)

कार्य का हेतुमात्र प्रसक्त (प्राप्त) होने पर चपलातिशयोक्ति होती है, जैसे—

जाता हूँ, नहीं जाता हूँ, इस प्रकार पति के बोलने पर तन्वंगी के कंगन उसके सामने ही कलाई से गिर पड़ते हैं तथा दूसरे इसी प्रकार चटख जाते हैं ॥247॥

कार्य व कारण का सहत्व होने पर अक्रमातिशयोक्ति कहलाती है—

हम्मीरवीर की तलवार के म्यान छोड़ने पर शत्रुवर्ग काम को छोड़ देते हैं, कम्पन उत्पन्न करने पर शरीर में कम्पन का अनुभव करते हैं और क्षमाभाव छोड़ने पर शीघ्र ही पृथ्वी छोड़ देते हैं ॥248॥

वेद में भी अतिशयोक्ति देखी जाती है जैसे—"[1]द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इत्यादि श्लोक में। स्मृति में भी अतिशयोक्ति पायी जाती है जैसे—"[2]या निशा सर्वभूतानाम्" इत्यादि श्लोक में।

अतिशयोक्ति अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ॥14

---

1. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
   तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
2. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
   यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

नियतानां धर्मैक्य कथितैषा तुल्ययोगिता कविभिः ॥सू 144॥

प्रकृतानामेव अप्रकृतानामेव वा गुणक्रियादि रूपैकधर्मान्वय इत्यर्थः । औपम्य चात्र गम्य, तत्प्रयोजकसमानधर्मोपादानात् । एतेन सादृश्य पादार्थान्तर न साधारणोधर्म । उदाहरति—

सङ्कुचन्ति मानिनीना मानो दिवसश्च हेमन्ते ।

अत्र प्रकृतायां हेमन्तशीतभीतदिवसमानिनीमानयो सङ्कुचनैक-
[59ब] क्रियान्वयि । यथा वा—

जह रोसमकारण प्रिय गदितैव दयितेन कामिनी ।
अपि लोचनयोरपाकरोदुदक सा मनसश्च कश्मलम् ॥249॥

अत्रापि अपाकरोदिति क्रिया ।

गुणरूपो यथा गङ्गाधरे—

न्यञ्चति वयसि प्रथम समुदञ्चति किं च तरुणिमनि[1] सुदृश ।
उल्लसति कापि शोभा वचसा च दृशा च विभ्रमाणा च ॥250॥

अप्रकृतानामेव यथा—

न्यञ्चति बाल्ये सुदृश समुदञ्चति गण्डसीम्नि पाण्डिमनि ।
मालिन्यमाविरासीद्राकाधिपशवलितनवकानाम् ॥251॥

क्रियाया साक्षाद्धर्मिण्यनन्वयाद्गुण ।
'धवलीभवत्यनुदिन लवलीकनक कलानिधिश्चाय'मिति चेद्गुणविशिष्टा क्रिया ।

इति तुल्ययोगिता ॥15

15 तुल्ययोगिता—

कवियों के द्वारा नियत (अर्थात् केवल प्रस्तुत अथवा केवल अप्रस्तुत पदार्थों) का एक धर्म के साथ सम्बन्ध वर्णित होने पर वह तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है ॥सू 144॥

केवल प्रकृत का ही अथवा केवल अप्रकृत का ही गुणक्रिया आदि रूप एक धर्म के साथ सम्बन्ध (ही तुल्ययोगिता है), यह अभिप्राय है । यहाँ (तुल्ययोगिता में) औपम्य (सादृश्य) गम्य होता है, क्योंकि उसका प्रयोजक (औपम्यनियामक)

1 तरुणत्वे (मू पा टि)

साधारणधर्म यहाँ उपात्त रहना है । इसमें स्पष्ट होता है कि सादृश्य एक पृथक् पदार्थ है, साधारणधर्म नहीं । उदाहरण दिया जाता है—

हेमन्तऋतु मे मानिनियो का मान और दिन सकुचित होता है ।

यहाँ हेमन्त मे शीतलता से सत्रस्त दिन और मानिनियो का मान, ये दोनो प्रकृत विषय ही "सकुचन" रूप एक क्रिया (साधारणधर्म) से अन्वित हैं । अथवा (दूसरा उदाहरण)—

प्रिये ! अकारण रोष छोडो, ऐसा पति के कहते ही उस पत्नी ने भी नत्रो से अश्रुजल और मन से खिन्नता को दूर कर दिया ।।249।।

यहाँ भी 'अपाकरोति" इस क्रिया (रूप एक धर्म मे ही नेत्रो के अश्रु और मन की खिन्नता दोनो का कथन किया गया है) ।

गुणरूप का उदाहरण जसे "रसगङ्गाधर" मे—

प्रथम वयस् (शैशवावस्था) के बीत जाने पर और तरुणावस्था के उदित होने पर सुदर नेत्रो वाली नायिका के वचन, नेत्र और विलासो की कोई और ही (अलौकिक) शोमा प्रस्फुटित होती है ।।150।।

केवल अप्रकृत पदार्थों का वर्णन होने पर (तुल्ययोगिता का उदाहरण) जैसे—

बाल्यावस्था व्यतीत होन पर सुन्दर नयनो वाली नायिका के कोमल कपालो पर स्वच्छतातिशय समुदित हुआ । तत्र उसके सम्मुख पूर्णिमा के चन्द्र, लवली-नामक लता और स्वर्ण मे मालिन्य आविर्भूत हो गया । (अर्थात् युवती के कपाल-तल की स्वच्छता की तुलना में ये सभी पदार्थ मलिन दिखने लगे ।।251।।

यहाँ आविर्भाव क्रिया का पूर्णिमाचन्द्र आदि धर्मो के साथ अन्वय नहीं होने से, केवल मालिन्यरूप गुण (समानधर्म) के साथ ही अन्वय होता है ।

उक्त पद्य का उत्तरार्ध इस प्रकार कर दिया जाये कि "धवलो भवत्यनुदिन लवलीकनक कलानिधिश्च"—अर्थात् लवलीलता, स्वर्ण और यह चन्द्रमा प्रति-दिन धवल होने से प्रतीत होते हैं, तब यहाँ (धवलता गुण तथा भवति क्रिया रूप समानधर्म होने से) गुणविशिष्टा क्रिया होगी ।

तुल्ययोगिता का प्रकरण समाप्त हुआ ।।15

यत्र प्रकृतो धर्म प्रसङ्गतोऽप्य प्रकाशयति ।
दीप इव दीपकोऽय प्राग्वद्गम्या भवेदुपमा ।।सू 145।।

उदाहरण यथा—

सत्कविकविता माध्वी[1] मदनकला शशिरश्मिश्च युवती च ।
मदयति क न युवान सुन्दरि सगुणेषु रज्यन्तम् ॥252॥

यथा वा गङ्गाधरे—

मृतस्य लिप्सा कृपणस्य दित्सा विमार्गगायाश्च रुचि स्वकान्ते ।
सपस्य शान्ति कुटिलस्य मैत्री विधातृसृष्टौ नहि दृष्टपूर्वा ॥253॥

[60अ] यत्राऽभाव साधारणोधर्म [2]। यथा वा—

मणि शाणोल्लीढ समरविजयी हेतिनिहतो
मदक्षीणो नाग शरदि सरित श्यानपुलिना ।
कलाशेषश्चन्द्र सुरतमृदिता बालवनिता
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नृपा ॥254॥

अनेकक्रियाणामेककारकान्वये कारकदीपकम् ॥सू 146॥

यथा—

वसु दातु यशो धातु विधातुमरिमर्दनम् ।
त्रातु च त्वादृशान् राजन्नतीव निपुणो भवान् ॥255॥

अत्र दानस्य वाक्ये दानत्राणक्रिययो प्रकृतयोररिमर्दनस्याऽप्रकृतस्य उभयात्मन यशोधानस्य साधारण कर्तृकारकम् ।

अत्र विचार्यते तुल्ययोगितादीपकयोर्न भेद [3]धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेरभवात् । तत्तुल्ययोगिता द्विधा प्रकृतानामेव धर्मस्य सकृद्वृत्तिर-प्रकृतानामेव प्रकृताप्रकृताना चेति ।

यत्तु "आस्वादेन रसो रसेन कविता काव्येन वाणी" इत्यादि उत्तरो-त्तर पूर्वपूर्वस्योपकारकतया मालादीपक तन्न सादृश्यगन्धाऽभावात् । तत्र त्वेकावली न दीपकमिति ।

इति दीपकालङ्कार ॥16

---

1 सुरा (मू पा टि)

2 सद्•

3 पाण्डुलिपि मे "धर्म" शब्द दो बार लिखा गया है ।

16 दीपक—

जहाँ प्रस्तुत के लिये कहा गया साधारणधर्म प्रसंगवश अन्य (अप्रस्तुत) को भी प्रकाशित करता है, वह "दीप" के समान दीपक अलङ्कार होता है। पूर्व (तुल्ययोगिता) के समान ही यहां औपम्य (सादृश्य) गम्य होता है। (अर्थात् जिस प्रकार दीप प्रकाशनार्थ अभीष्ट वस्तु के साथ अनभीष्ट समीपस्थ वस्तु को भी प्रकाशित करता है तत्सदृश ही यहाँ साधारणधर्म प्रकृत के साथ अप्रकृत को भी प्रकाशित करता है, उससे अन्वित होता है। अत इसे दीप के समान कहा गया है।) ।।सू।145।

उदाहरण जैसे—

हे सुन्दरी! श्रेष्ठ कवि की कविता, सुरा, कामकला, चांदनी और युवती—सगुणों पर आसक्त रहने वाले किस युवक को मदोन्मत्त नही करती? (यहाँ प्रस्तुत युवती तथा अप्रस्तुत कविता आदि के "मदयति" रूप का एक ही साधारण-धर्म से अन्वय होने से दीपक अलङ्कार है। कविता आदि के समान युवती भी मदोन्मत्त करने वाली होती है, यह उपमा गम्य है) ।।252।।

अथवा जैसे "रसगङ्गाधर" में—

मृत-व्यक्ति की ग्रहण करने की इच्छा, कंजूस की दानेच्छा, परपुरुषगामिनी स्त्री की अपने पति मे रुचि, साप की शान्ति और कुटिल की मैत्री विधाता की सृष्टि मे आज तक कभी नही देखी गयी ।।253।।

यहाँ अभाव साधारणधर्म है। (कुटिला नायिका की स्वपतिगत प्रीतिरूप प्रस्तुत तथा मृतव्यक्ति की लिप्सा आदि अप्रस्तुत वस्तु का पूर्वकालिक दर्शन अभावरूप का एक साधारणधर्म के साथ अन्वय होने से दीपक अलकार है।) अथवा (भर्तृहरि विरचित) दूसरा उदाहरण—

सान पर घिसी हुई मणि, तलवार से आहत युद्धविजयी, मदक्षीण सर्प, शरद् ऋतु मे सूखे किनारे वाली नदियाँ, कलासम्पूर्ण चन्द्रमा, सुरतमृदिता बाल-वनिता और याचकों मे समस्त वैभवों से वंचित राजा—ये तनुता (कृशता) से सुशोभित होते हैं ।। 254 ।।

(यहाँ याचकों मे समस्त वैभव देने से वैभवरहित राजा प्रस्तुत है, शाणो-ल्लीढ मणि आदि अप्रस्तुत हैं, इनको "शोभन्ते" रूप एक ही साधारणधर्म से अन्वित किये जाने के कारण दीपक अलकार है।)

अनेक क्रियाओं का एक कारक के साथ अन्वय होने पर कारकदीपक होता है ।। सू 146 ।।

यथा—

हे राजन् ! धन का दान करने, यश को धारण करने, शत्रु का दमन करने और सद्‌व्यक्तियों की रक्षा करने में आप अतिनिपुण हैं ।। 255 ।।

यहाँ दीन के वचन में धन-दान और स्वकीय-त्राण, इन दो प्रस्तुत क्रियाओं का, अरिमर्दनरूप अप्रस्तुत क्रिया का और यशधारण रूप प्रस्तुताप्रस्तुतरूप उभयात्मक क्रिया का 'भवान्" इस एक कर्ताकारक के साथ अन्वय होने से कारकदीपक अलंकार है।

यहाँ विचार किया जाता है कि तुल्ययोगिता और दीपक में भेद नहीं है क्योंकि साधारणधर्म का एक बार उपादान होने पर उनसे उत्पन्न विच्छित्ति-चमत्कार का अभाव होता है। वह तुल्ययोगिता दो प्रकार की होती है—केवल प्रस्तुत का ही एक धर्म से वर्णन होने पर तथा केवल अप्रस्तुत का ही एक धर्म से वर्णन होने पर और दीपक में धर्मी प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों रहते हैं (अतः दोनों में भेद स्पष्ट हो जाता है)।

जो "[1]आस्वादेन रसः रसेन कविता काव्येन वाणी" इत्यादि पद्य "रसगंगाधर" में मालादीपक के उदाहरणरूप में दिया गया है और पूर्व-पूर्व वस्तु उत्तर-उत्तर की उपकारक हो तो मालादीपक होता है, यह कथन भी उपयुक्त नहीं है। ऐसे स्थलों पर सादृश्य का सम्बन्ध नहीं होता। वहाँ एकावली अलङ्कार होता है, दीपक अलङ्कार नहीं।

दीपक अलङ्कार का प्रसंग समाप्त हुआ ।। 16

यत्र इह साधारणधर्मो वस्तुप्रतिवस्तुभावमापन्नः वाक्यार्थयोस्तदामिव-[60 अ] मौपम्यमिव भवेदुपमा इव प्रतिवस्तूपमा ।। सू 147 ।।

वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नसाधारणधर्मवाक्यार्थयोरार्थमौपम्यमिति संक्षेप । यथा—

---

1 आस्वादेन रसो रसेन कविता काव्येन वाणी तया
लोकान्तः करणानुरागरसिकः राज्यं सभा वाग्मुना ।
दारिद्र्यानलदह्यमानजगतीपीयूषधाराधर ।
क्षोणीनाथ ! तया भवांश्च भवता भूमण्डलं भासते ।।

—रसग०—3, पृ 79

आपद्गतोऽपि साधुर्निजगुणमत्युज्ज्वलं तनुते ।
ज्वलनज्वालाकवलितमपि कनकं कान्तिमावहति ।। 256 ।।

यथा वा गङ्गाधरे—

[1]वंशभवो गुणवानपि सङ्गविशेषेण पूज्यते पुरुषः ।
नहि तुम्बीफलविकलो वीणादण्डः प्रयाति महिमानम् ।। 257 ।।

[2]इति पूर्वत्र साधर्म्येण इह तु वैधर्म्येणापीति विशेषः ।
काव्यप्रकाशे तु माला प्रतिवस्तूपमाप्युक्ता यथा—

[3]यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवं[4]मद्रिषु किं ततः ।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता ।। 258 ।।

इति प्रतिवस्तूपमा ।। 17

बिम्बप्रतिबिम्बत्वे धर्मस्य तयोपमानानां
दृष्टान्तालङ्कारं कथयन्ति पुराविदः कवयः ।। सू 148 ।।

प्रकृतवाक्यार्थघटकानामुपमानादीनां सामान्यधर्मस्य च बिम्ब-प्रतिबिम्बभावत्वे दृष्टान्तः । उदाहरणं यथा—

[61अ] अनपेक्षितोपकारं परहितमेवातनोति साधुजनः ।
केनोक्तोऽविधुरुच्चैः कुवलयवलयं [5]विकाशयति ।। 259 ।।

अत्र हितविकाशयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः ।

प्रतिवस्तूपमायां शुद्धसामान्यात्मना धर्म इह तु प्रतिबिम्बित इति भेदः ।

विमर्शिनीकारस्तु—प्रतिवस्तूपमायां प्रकृतार्थसादृश्यप्रतिपत्तये अप्र-कृतार्थोपादानम् । इह तु प्रकृतार्थप्रतीतेर्विशदीकरणार्थमेव न सादृश्यप्र-तिपत्त्यर्थमिति भेद इत्याह ।

---

1 देश०
2 पाण्डुलिपि में सन्धि करके "महिमानमिति" लिखा है ।
3 पाण्डुलिपि में 'यदिह' पाठ है ।
4 गुरुत्वम् (मू पा टि)
5 प्रका०

अथ वैधर्म्येणाऽपि दृश्यते । यथा—

> तावन्मनसिन्दु र्य मनसि, न यावत्कटाक्षित सुतनो ।
> उदयति शशिनि कुमुदिनीकोटरतमसा वव सरस्थानम् ॥ 260 ॥

अत्रावस्थानाऽनवस्थानयोर्वैधर्म्येण बिम्बप्रतिबिम्बभाव । इति दृष्टान्त ॥ 18

17 प्रतिवस्तूपमा—

यहाँ वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से सयुक्त बहुत से साधारणधर्म होते है । दो वाक्यो मे उनके धर्मो मे सादृश्य हो इस प्रकार उपमा होनी चाहिये तब प्रतिवस्तूपमा अलकार होता है ॥ सू 147 ॥

सक्षेप मे कहते है—वस्तु–प्रतिवस्तुभाव से सयुक्त साधारण तथा दो वाक्यो मे अवगत औपम्य हो तो प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है । जैसे—

सज्जनपुरुष विपत्तिग्रस्त होने पर भी अपने उज्ज्वल गुणो का विस्तार करते हैं । पिघला देने वाली ज्वाला से ग्रसित होने पर भी स्वर्ण कान्ति को धारण करता है ॥ 256 ॥

(यहाँ "तनुते" और आवहति" दोनो साधारणधर्म वस्तु–प्रतिवस्तुभाव से सयुक्त हैं । विपत्तिग्रस्त सज्जन पुरुष उसी गुणो को धारण करता है जिस तरह अग्निग्रस्त स्वर्ण और भी अधिक कान्ति धारण करता है, इस रूप मे दोनो वाक्यो मे सादृश्य गम्य है ।)

अथवा "रसगङ्गाधर" का उदाहरण—

देश मे उत्पन्न पुरुष गुण-युक्त होने पर भी विशिष्ट महापुरुष के सम्पर्क से ही पूजे जाते है । तुम्बी से हीन होकर वीणा का दण्ड महत्त्व नही प्राप्त कर पाता ॥ 257 ॥

(यहाँ पूजा और महत्त्व-प्राप्ति रूप साधारणधर्म मे वस्तु प्रतिवस्तूपमा है । जिस प्रकार तुम्बीविहीन दण्ड महत्त्व प्राप्त नही करता, उसी प्रकार सगविहीन पुरुष पूज्य नही होते, दोनो वाक्यो मे यह साम्य गम्य है ।)

(यहाँ पूर्वश्लोक ("आपद्गतोऽपि") म साधर्म्य से तथा बाद वाले श्लोक ("वशभवो") मे वैधर्म्य (निषेध) से उपमा ज्ञात होती है ।

'काव्यप्रकाश" में माना प्रतिवस्तूपमा भी कही गयी है, जैसे—

यदि अग्नि जलती है तो इसमें क्या अद्भुत है ? यदि पर्वत में गौरव (भारीपन) है तो उससे क्या हुआ ? सागर का जल सदैव खारा होता है। दुःखी नहीं होना, यह सज्जनों का स्वभाव ही है ॥ 258 ॥

प्रतिवस्तूपमा का प्रकरण समाप्त हुआ ॥ 17

18 दृष्टान्त—

साधारणधर्म के समान ही उपमान आदि (उपमान, उपमेय और उनके विशेषण) का भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने पर पूर्ववर्ती आचार्य दृष्टान्त अलंकार कहते हैं ॥ सू 148 ॥

उक्त दो वाक्यों के अर्थों के अवयवभूत उपमान, उपमेय, साधारणधर्म आदि के बिम्बप्रतिबिम्बभावयुक्त होने पर दृष्टान्त होता है। उदाहरण, जैसे—

सज्जनपुरुष उपकार की अपेक्षा के बिना ही दूसरे का हित करते रहते हैं। किसके कहने से चन्द्रमा अपनी किरणों से कुवलय-वलय को विकसित करता है ॥ 259 ॥

यहाँ हित और विकास में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।

प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार में साधारणधर्म शुद्ध सामान्य अर्थात् वस्तुप्रतिवस्तु-भावापन्न रहता है, किन्तु दृष्टान्त में वह साधारण धर्म भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव-युक्त रहता है, यही इन दोनों में भेद है।

विमर्शिनीकार ("अलङ्कारसर्वस्व" पर विमर्शिनी नामक टीका लिखने वाले विद्वान्) का कहना है कि प्रतिवस्तूपमा में प्रस्तुत अर्थ के सादृश्य की प्रतीति कराने के लिये अप्रस्तुत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। यहाँ (दृष्टान्त) में (अप्रस्तुत अर्थ का ग्रहण) प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति में एक प्रकार की स्पष्टता लाने के लिये ही किया जाता है, सादृश्य-प्रतीति के लिये नहीं, यही इन दोनों में भेद है।

यह दृष्टान्त अलङ्कार वैधर्म्य द्वारा भी देखा जाता है, जैसे—

जब तक कोमलाङ्गी के कटाक्ष नहीं चलते हैं, तब तक मनसिज (काम) का दुःख मन में होता है, चन्द्रमा के उदित होने पर कुमुदिनी के भीतर अन्धकार का स्थान कहाँ रहेगा ? ॥ 260 ॥

यहाँ कटाक्षित रूप स्थिति तथा अन्धकार के अभाव का वैधर्म्य में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है।

दृष्टान्त अलङ्कार समाप्त हुआ ॥ 18

तुल्यवाक्यार्थयोरार्थोऽभेदो य उपमाश्रय ।
सा वाक्यार्थे पदार्थेऽपि कैश्चिदुक्ता निदर्शना ॥सू 149 ॥

तुल्यत्वमर्थयोरुपात्तत्वे प्रयोजक एतेनातिशयोक्त्यादौ नातिव्याप्ति । वाच्यरूपकवारणाय आर्थ इति । प्राथमिकान्वयबोधाऽविषयत्व आर्थत्वम् । उदाहरणम्—

हृदि सन्तमनन्त[1] येऽपरैरमरैस्त्वा तुलयन्ति सन्ततम् ।
दिवि ते दिननायक न कि समभिन्द्धन्ति सर्गैरनुज्ज्वलै ॥261॥

यथा वा शूली—

[61ब] त्वामन्तरात्मनि ल (सन्तमन तमज्ञा–
स्तीर्थेषु हन्त मदनान्तक[2] शोधयन्त ।
विस्मृत्य कण्ठतटमध्यपरिस्फुरन्त
चिन्तामणि क्षितिरज सु[3] गवेषयन्ति ॥262॥

पूर्वस्मिन्[4] भिन्नवाक्ये इह त्वेकवाक्ये इति भेद । अत्र प्रकृतकधर्मगतत्वेन विशिष्टार्थयोरार्थभेदेन वाक्यार्थनिदर्शना ।

पदार्थनिदर्शना यथा—

वृषभासनकमलासनगरुडासनवासितभ्रमरम् ।
क्षीराब्धिलहरिलीलाललित तव वीक्षित जयति ॥263॥

अत्र लहरिलीलावीक्षितयो[5] सादृश्यमूलस्ताद्रूप्याभिमान । यथा वा गङ्गाधरे—

पाणौ कृत पाणिरिलासुताया
सस्वेदकम्पो रघुनन्दनेन ।
हिमाम्बुमन्दानिलविह्वलस्य
प्रभातपद्मस्य बभार शोभाम् ॥264॥

---

1 हे (मू पा टि)
2 हे शिव (मू पा टि)
3 ०रजासि
4 हृदिसन्तमित्यत्र (मू पा टि)
5 ०वीक्षणयो

उपमानोपमेययोरन्यतरधर्मस्यान्यतरत्रारोप इति भाव । न चोभयत्र रूपकध्वनिना[1] निगीर्य्याध्यवसानरूपयातिशयोक्त्या च गतार्थतेति वाच्यम् । रूपकस्य गुणीभूतत्वेनाऽयोगात्, उपमेयगतोपमानाभेदस्य तत् [62अ] शरीरत्वेन परस्पराभेदस्योभयत्र विश्रा ʎ न्तिशरीराया वाक्यार्थनिदर्शनायाश्च भेदात् निगरणाऽनिगरणाभ्या चातिशयोक्ते पदार्थनिदर्शनाया भिन्नत्वात् ।

"सम्भवत्तासम्भवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानमौपम्य निदर्शने"ति कश्चित्तन्न रूपकातिशयोक्त्यादाव [ति] व्याप्ते ।

इति निदर्शना ।।19

19 निदर्शना—

समान दो वाक्यार्थों की अर्थ से ज्ञात होने वाली अभिन्नता जो उपमाश्रित है (सादृश्य मे जिसका पर्यवमान होता है) वह किन्ही (विद्वानो) द्वारा निदर्शना कही गयी है । वह (निदर्शना) वाक्याथ मे अथवा पदार्थों मे भी होती है ।।मू 149।।

तुल्यता (सादृश्य) अथ से उपात्त हो, यही प्रयोजक है, इस बात से अतिशयोक्ति आदि अलङ्कारो मे अतिव्याप्ति नही होती है । वाच्यरूपक से अलग करन के लिए "आर्थ" (अर्थ से ज्ञात होने वाला) यह कहा गया है । "आर्थ" का अभिप्राय है कि प्रथम बोध मे जो अन्वयबोध का विषय नही हो (अर्थात् प्रथम शाब्दबोध मे भेद प्रतीत हो, बाद मे अर्थानुसन्धान के बल से अभेद भासित हो) ।

निदर्शना का उदाहरण जैसे—

हे अनन्त शिव ! जो लोग हृदय मे निरन्तर रहने वाले तुम्हारी तुलना अन्य देवताओ से करते हैं, वे आकाश मे सूर्य को अनुज्ज्वल नक्षत्रो के समान क्यो नही मानते । (शिव को अन्य देवताओ के समान मानना सूर्य को अन्य नक्षत्रो के समान मानना है । यह अभेद-बोध अर्थत ही होता है, अत यहाँ निदर्शना है ।)।।261।।

अथवा जैसे "शूली" (रसगङ्गाधरकार) द्वारा दिया गया उदाहरण—

---

1 वाक्यनिदर्शनायारूपकध्वनिना गतार्थत्व पदनिदर्शनाया अतिशयोक्त्या गतार्थत्व न वाच्यम् (मू पा टि)

हे मदनान्तक (कामदेव का अन्त करने वाले) शिव ! अनन्त (अन्तहीन) और अन्तरात्मा में सुशोभित होने वाले (निवास करने वाले) आपको तीर्थों में ढूँढते हुए (अज्ञानी जन) कण्ठतट के मध्य चमकने वाली चिन्तामणि को भूलकर पृथ्वी की धूल में ढूँढते हैं। (शिव का अन्यत्र अन्वेषण करना कण्ठस्थित चिन्तामणि का धूल में अन्वेषण करने के समान है, इस सादृश्य से ही दोनों वाक्यों की अभिन्नता ज्ञात होती है।) ॥262॥

पूर्व "हृदिसन्तम्" इत्यादि पद्य में अभेद भिन्नवाक्यगत (दो वाक्यों में) है और "त्वामन्तरात्मनि" इत्यादि पद्य में अभेद एक वाक्यगत है। यहाँ उक्त एक साधारणधर्मता के द्वारा विशिष्टार्थ का कथन भेद होने से वाक्यार्थ निदर्शना है।

पदार्थनिदर्शना जैसे—

वृषभासन (बैल पर आरूढ अर्थात् शिव), कमलासन (कमल पर स्थित अर्थात् ब्रह्मा), गरुडासन (गरुड पर आसीन अर्थात् विष्णु) इन तीनों के द्वारा जिसके प्रसार (दृष्टि प्रसार) की आकांक्षा की जाती है, (अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश जिसकी बहुत अधिक आकांक्षा करते हैं) ऐसी क्षीरसागर की लहरों की क्रीडा के समान सुन्दर आपकी दृष्टि की जय हो ॥263॥

यहाँ "लहरियों की लीला" और (शिव की) दृष्टि के सादृश्यमूलक तादात्म्य का स्थापन (अभिमान) किया गया है।

अथवा जैसे "रसगङ्गाधर" में दिया गया उदाहरण—

रघुनन्दन (रामचन्द्रजी) के द्वारा अपने हाथ में लिए गये, स्वेद और कम्पन से युक्त पृथ्वीपुत्री (सीता) के हाथ ने पाले के जल और मन्द हवा से व्याकुल प्रातःकालीन कमल की शोभा को धारण किया ॥264॥

उपमान और उपमेय में किसी एक धर्म का दूसरे में आरोप होना यही भाव (अर्थात् निदर्शना कही जाती) है। दोनों (वाक्यार्थ तथा पदार्थ निदर्शना) में ही वाक्यार्थनिदर्शना रूपकध्वनि से गतार्थ नहीं है और पदार्थनिदर्शना को निगरणपूर्वक अतिशयोक्ति से गतार्थ नहीं कहना चाहिये। रूपक में व्यंग्य गुणीभूत होने से ध्वनि नहीं है, उपमेय में उपमान का अभेद होने से रूपक का, तथा (निदर्शना में उपमान का उपमेय में तथा उपमेय का उपमान में अभेद प्रतीत होता है अतः) उभयविश्रान्त अभेदरूपा वाक्यार्थनिदर्शना का स्वरूप में ही परस्पर भेद होने से

(दोनो अलग-अलग हैं) । रूपक-ध्वनि तथा अतिशयोक्ति मे निगरण अनिगरण का भेद है, वस्तुत अतिशयोक्ति मे भी उपमेय मे उपमान का अभेद होता है । अत उसी प्रकार अतिशयोक्ति और पदार्थनिदर्शना भिन्न-भिन्न हैं ।

अलङ्कारसर्वस्वकार ने निदर्शना का लक्षण दिया है, कि--स्वत सम्भवी अथवा कवि-कल्पित वस्तु-सम्बन्ध से प्रतीत होने वाले औपम्य का नाम निदर्शना है । यह उचित नही है, क्योकि यह लक्षण रूपक और अतिशयोक्ति आदि मे अतिव्याप्त हो जाता है ।

निदर्शना अलङ्कार का प्रसङ्ग समाप्त हुआ ।।19

उपमानादुत्कर्षो गुणवत्वेनैव वर्ण्य [विषय] स्य व्यतिरेको ।।सू 150।।

निशि सुप्त न पद्ममनिशप्रबुद्धमुखतुल्यम् ।

उपमानादुपमेयोत्कर्षो व्यतिरेक इति भाव । आधिक्यमात्र व्यतिरेक इति मम्मटभट्टा । यथा वा—

कटु जल्पति कश्चिदल्पवेदी यदि चेदीदृशमत्र किं विदध्म ।
कथमिन्दुरिवानन त्वदीय मकलङ्क स[1] कलङ्कहीनमेतत् ।।265।।

अत्राऽयमभिप्राय उपमेयोत्कर्षकोपमानापकर्षकयोर्वैधर्म्ययोर्द्वयोरुप्युपादान अनुपादान एकतरानुपादान चेति व्यतिरेकस्य चत्वारो भेदा । तत्रोपमाया श्रुत्यर्थाक्षेपयोगेन द्वादश तत्रापि श्लेषस्य योगायोगाभ्या [62ब] चतुर्विंशतिभेदा सर्वे चोपमाभेदा सभ [illegible] वन्ति ।

कटु जल्पतीति गङ्गाधरोदाहरणे उभयोरुपादान श्रौत्युपमा[3] ।

शशिना तुल्य वदन यदि कथयति कोऽपि तत्र किं ब्रूम ।
अक्षयकलाभिराम क्षीणकलेनेन्दुना सम हि कुन ।।266।।

अत्रार्थी[4] ।

परिमितनखमुखवाटीपरिपाटी हसति कानन कुसुमै ।
अमिततरुनरलपल्लववलय तव वल्लवाधिपते ।।267।।[5]

---

1 स इन्दु सकलङ्क आनन तु कलङ्कहीनम् (मू पा टि)
2 उपमेयोत्कर्षकानुपादानम् उपमानापकर्षकानुपादानमेव द्वयम् (मू पा टि)
3 इव शब्दोपादानात् (मू पा टि)
4 तुल्यपदोपादानात् (मू पा टि)
5 वल्लवाना गोपानामाधिपते हे हरे (मू पा टि)

अत्र हसतीति श्रुत्यर्थमार्गोल्लिधिन्युपमाक्षिप्तैव ।

20 व्यतिरेक—

गुण-विशेष से संयुक्त रहने के कारण ही उपमान से वर्ण्य-विषय (उपमेय) का उत्कर्ष व्यतिरेक अलङ्कार होता है ॥सू 150॥

जैसे—रात्रि में प्रसुप्त (बन्द) कमल दिन-रात प्रबुद्ध मुख के समान नहीं है ।

उपमान से उपमेय का उत्कर्ष व्यतिरेक होता है, यही अभिप्राय है । व्यतिरेक का अभिप्राय है (विशेषेण अतिरेक व्यतिरेक) आधिक्यमात्र, यह मम्मट-भट्ट का कथन है ।

अथवा अन्य उदाहरण—

(नायिका के प्रति नायक की उक्ति–) यदि (तेरा मुख चन्द्रमा के समान है) इस प्रकार के कटुवचन कोई अल्पज्ञ व्यक्ति कहता है, तो इसमें हम क्या करें ? तुम्हारा मुख चन्द्रमा के समान किस प्रकार हो सकता है ? वह चन्द्रमा तो कलंकयुक्त है लेकिन तुम्हारा मुख कलंकहीन है ॥ 265 ॥

यहाँ यह अभिप्राय है कि व्यतिरेक अलङ्कार के चार भेद हो जाते हैं— (1) उपमेय के उत्कर्षक तथा उपमान के अपकर्षक, इन दोनों वैधर्म्यों का शब्दतः कथन होने पर, (2) दोनों वैधर्म्यों का शब्दतः कथन नहीं होने पर, (3) उपमेय के उत्कर्ष का कथन नहीं होने पर और (4) उपमान के अपकर्षक का कथन नहीं होने पर । इन चारों प्रकारों के उपमा के श्रौती, आर्थी और आक्षिप्ता, इन तीनों भेदों के द्वारा बारह भेद हो जाते हैं । इन बारह प्रकारों के भी श्लेष का प्रयोग तथा श्लेष-विहीन होने पर चौबीस भेद हो जाते हैं और उपमा के सभी भेद सम्भव हो सकते हैं ।

"रसगङ्गाधर" के 'कटु जल्पति' इस उदाहरण में (निष्कलङ्करूप उपमेयोत्कर्षक तथा सकलङ्क रूप उपमानोत्कर्षक, इन दोनों वैधर्म्यों का शब्दतः कथन होने से व्यतिरेक का) उभयोपादानम् भेद है और "इव" शब्द के रहने से श्रौती उपमा है ।

(दूसरा उदाहरण है–) तुम्हारा मुख चन्द्रमा के समान है, इस प्रकार के वचन यदि कोई कहता है तो हम क्या कहें ? क्योंकि निरन्तर क्षीण न होने वाली कलाओं से सुन्दर (मुख) तथा क्षीणकलाओं वाले चन्द्रमा की समानता कैसे हो सकती है ? ॥ 266 ॥

यहाँ "तुल्य" शब्द का प्रयोग होने से आर्थी उपमा है।

हे गोपों के अधिपति श्रीकृष्ण! तुम्हारे अनेक वृक्षों के हिलते हुए पल्लवों से युक्त ककण के कारण, कानन (वन) सीमित वृक्षों वाले देवउद्यान की व्यवस्था (क्रम) पर हँसते हैं॥ 267॥

यहाँ "हसति"—इस पद मे श्रौती एव आर्थी के मार्ग का उल्लघन करने के कारण "आक्षिप्ता" उपमा ही है।

अत्रैव क्वचिच्छाब्दसादृश्यनिषेधाक्षिप्तावुपमेयोत्कर्षोपमानापकर्षौ, क्वचिच्च शाब्देनोपमेयोत्कर्षेणाक्षिप्तौ उपमानापकर्षसादृश्याऽभावौ, क्वचिच्चोपमानापकर्षेणाक्षिप्तौ उपमेयोत्कर्षतदभावौ, क्वचिच्च त्रितयमप्याक्षिप्तमेव।[1] यथा—

> अपारे खलु ससारे विधिनैकोऽर्जुन कृत।
> कीर्त्या निर्मलया भूप त्वया सर्वेऽर्जुना कृता॥ 268॥

यत्तु कुवलयानन्दकृतोदाहृतम्—

> रक्तस्त्व नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यै प्रियाया गुणै-
> स्त्वामायान्ति शिलीमुखा स्मरधनुर्मुक्ता सखे मामपि।
> कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयो
> [63अ] सर्वं तुल्यमशोक केवलमह धात्रा सशोक कृ ʌ त॥ 269॥

अत्र सशोकत्वेनाऽशोकापेक्षयाऽपकर्ष पर्यवस्यतीति, तदेतदपास्तमाधिक्यमात्र व्यतिरेक इति काव्यप्रकाशकारोक्त्यैव सादृश्यदूरीकरणे ध्वनिकृता[2] चाऽस्योदाहृतत्वाच्च।

[3]यद्यप्यनुभयपर्यवसायित्वे व्यतिरेकस्योदाहरणम्—

> दृढतरनिबद्धमुष्टे कोषनिष [ण] णस्य सहजमलिनस्य।
> कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेद [ ]॥ 270॥ इति।

तदपि न तथा हृद्यम्। उत्कर्षकधर्मानुपस्थितेरुपमानादुत्कर्षरूपस्याऽभावात् अपकर्षरूपस्योक्तिमात्रेणाप्यसङ्गतेरहृद्यत्वाच्च। तस्माद्विशेषण-

---

1 ० क्षप्तमेव

2 आनन्दवर्द्धनेन (मू पा टि)

3 यद्यप्यनुभवप ०

साम्यात् कृपणकृपाणयोस्तुल्यतंवाकारभेदत्वादक्षरभेदो न विरुद्ध इति गम्योपमैव न व्यतिरेक इति ।

उदाहरणान्तर तु प्रकाश एवावलोकनीयम् । उभयानुपादाने भेदत्रय तु दुरुपपा [दा] द् होदमित्यप्यवधेयम् ।

इति व्यतिरेक ॥ 20

यहाँ (व्यतिरेक अलङ्कार में) कहीं पर सादृश्य का निषेध शब्द से वर्णित होता है और उपमेय का उत्कर्ष तथा उपमान का अपकर्ष आक्षिप्त होते हैं। और कहीं पर उपमेय का उत्कर्ष शब्द के द्वारा कहा जाता है और उपमान का अपकर्ष तथा सादृश्य का अभाव आक्षिप्त होता है और कहीं पर उपमान के अपकर्ष का कथन होता है और उपमेय का उत्कर्ष तथा सादृश्य का अभाव आक्षिप्त होता है और कहीं पर तीनों आक्षिप्त होते हैं। यथा—

हे राजन् ! अपार संसार में विधाता ने एक ही अर्जुन (नामक व्यक्ति) बनाया है, पर तुमने अपनी निर्मल कीर्ति से सबको अर्जुन (धवल, उज्ज्वल) कर दिया ॥ 268 ॥

कुवलयानन्दानुसार अप्पय दीक्षित ने उदाहरण दिया है—

(अशोक वृक्ष के प्रति किसी विरही की उक्ति—) हे अशोक ! तुम नवीन पल्लवों से रक्त (रक्तिम) हो और मैं भी प्रिया के प्रशस्त गुणों में रक्त (अनुरक्त) हूँ। हे सखे ! तुम पर शिलीमुख (भ्रमर) आते हैं और मेरे पास भी कामदेव के धनुष से छूटे हुए शिलीमुख (बाण) आते हैं। सुन्दरी स्त्री के पदतल का आघात तुम्हारी प्रसन्नता का कारण होता है और उसी के समान मेरी भी (प्रसन्नता का कारण होता है)। इस प्रकार हम दोनों के सब कुछ समान है। केवल विधाता के द्वारा मुझे सशोक (शोकयुक्त) बनाया गया है। (अर्थात् सभी समान होने पर भी तुम अशोक हो, मैं सशोक हूँ।) ॥ 269 ॥

यहाँ "सशोक" पद के द्वारा उपमान अशोक से (उपमेय विरही का) अपकर्ष पर्यवसित होता है। पर काव्यप्रकाशकार ने कहा है कि ("उपमान से उपमेय का) आधिक्यमात्र व्यतिरेक है", इस उक्ति के द्वारा ("कुवलयानन्द" में दिया गया "रक्तस्त्व" इत्यादि) यह उदाहरण अनुचित सिद्ध हो जाता है (क्योंकि इस पद्य में उपमेय का न्यूनत्व वर्णित किया गया है)। और ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने सादृश्य के दूरीकरण में "रक्तस्त्वम्" इत्यादि पद्य उदाहृत किया है।

यद्यपि कुवलयानन्दकार अप्पयदीक्षित ने अनुभयपर्यवसायी व्यतिरेक अलङ्कार का उदाहरण दिया है—

कृपण (कंजूस व्यक्ति) तथा कृपाण (तलवार) में केवल आकार से ("आ" की मात्रा से, स्वरूप से) भेद है। कृपण दृढतरनिबद्धमुष्टि (दृढता से मुट्ठी बाँधने वाला अर्थात् पैसा न छोडने वाला) होता है और कृपाण भी दृढतरनिबद्ध-मुष्टि (जिसकी मूठ बहुत मजबूत बँधी हुई होती है ऐसा) है। कृपण कोपनिषण्ण (खजाने पर बैठा हुआ) होता है और कृपाण भी कोषनिषण्ण (म्यान मे स्थित) होता है। कृपण सहज मलिन (स्वभावत मलिन वेष वाला) होता है और कृपाण भी सहज मलिन (काले रंग का) होता है ॥ 270 ॥

यह भी इसी प्रकार उचित नही है। उत्कर्ष धर्म की उपस्थिति नही होने से उपमान से उत्कर्षरूप व्यतिरेक यहाँ नही हो सकता। उपमान से अपकर्षरूप व्यतिरेक भी यहाँ नही है क्योकि शब्दमात्र मे भी (ह्रस्वमात्रा वाला उत्कर्ष और दीर्घमात्रा वाला अपकर्ष होने से) असगति है। और यह अपकर्ष वाला भेद सुन्दर भी नही है। "दृढतरनिबद्धमुष्टि" आदि विशेषण दोनो मे समान होने से कृपण और कृपाण मे समता ही है। आकार (आकृति) का भेद होने से अक्षर का भेद भी विरुद्ध (केवल उपमेय का उत्कर्ष) नही होता, अत यह उपमागम्य ही है व्यतिरेक नही।

व्यतिरेक का अन्य उदाहरण 'काव्यप्रकाश' मे ही देख लेना चाहिये। उभय के अनुपादान के जो तीन भेद होते हैं, उनके (उदाहरणो) की दुर्लभता है। *यह ध्यान मे रखना चाहिये।*

व्यतिरेक अलङ्कार समाप्त हुआ ॥ 20

गौणप्रधानभावाच्छिन्नसहार्थसबध ॥ सू 151 ॥
प्राणं सम रिपूणा जीवा चक्रपे[1] सहोक्तिरियम् ॥

[63ब] एकार्थाभिधायक ६ त्वेपि सहार्थबलादुभयावगमकत्वमिति भट्टा । यथा वा—

मार्गेन सह रिपूणामुत्तिष्ठसि विष्टरात् श्रुघाविष्ट ।
सहसैव पतसि तेषु क्षितिशासन[2] मृत्युना साकम् ॥ 271 ॥

पूर्वं तु कर्मण, इह तु कर्तुरिति भेद । अत्रोभयत्रापि तृतीया-प्रयुक्तो गुणभाव । प्राधान्येन क्रियान्वये तुल्ययोगिता दीपक वा।

1 त्वयेति शेष (मू पा टि)
2 ह (मू पा टि)

सहायप्रयोगे तु गम्या, वृद्धो यूनेति तृतीया साम्राज्यज्ञापनात् । अतिशयोक्त्या चास्याश्चमत्कारित्वमन्यथा पुत्रेण सहागत पितेत्यादौ नालङ्कार ।

इति सहोक्ति ॥ 21

यदसम्बन्धवचन विनोक्तिरिति नियमसम्बन्धे ॥ सू 152 ॥

इद त्वलङ्कारभाष्यकृतो लक्षणम् । उदाहरणम्—

न विना सौगन्ध्यमर विभाति यन्मालतीकुसुमम् ।

अत्र सौगन्ध्यस्याऽविनाभावेऽपि विनाभावो[1] निबद्ध ।

रमणीयेऽरमणीये विनार्थसम्बन्धतो विनोक्तिरिह[2] ।
[3]भ्रान्तिकृतान्यभूषणमस्या रमणीयता भवति ॥ सू 153 ॥

वस्तुनो रमणीयत्वाऽरमणीयत्वाभ्या द्विधा । तत्राऽप्यऽलङ्कारान्तर-[64अ] सम्पर्कमूलमेव रमणीयत्वम् । उभयत्राप्युदाहरण यथा काव्य प्रकाशे—

अरुचिर्निशया विना शशी शशिना सापि विना महत्तम ।
उभयेन[4] विना मनोभवस्फुरित नैव चकास्ति कामिन ॥ 272 ॥

इहाऽरमणीये । रमणीये यथा—

मृगलोचनया विना विचित्रव्यवहारप्रतिमा प्रभाप्रगल्भ ।
अमृतद्युतिसुन्दराशयोऽय सुहृदा तेन विना नरेन्द्रसूनु ॥ 273 ॥

रमणीयत्वमाविष्कृत जगन्नाथेन—

राग विना विराजन्ते मुनयो [5]मणयस्तु न ।
कौटिल्येन विना भाति नरो न कबरीभर ॥ 274 ॥

---

1 ० भावो
2 रवमते (मू पा टि)
3 अन्यालङ्कारसम्पर्कादेव भवत्या विनोक्ते रमणीयता (मू पा टि)
4 रात्रिचन्द्रे वेत्यर्थ (मू पा टि)
5 गण०

अत्र प्रतिवस्तूपमानुकूलत्वेन चमत्कार ।
इति विनोक्ति ॥ 22

21 सहोक्ति—

गौण और प्रधान भाव से युक्त अर्थ "सह" (शब्द) से सम्बद्ध होने पर वह सहोक्ति कहलाती है। (अर्थात् एक ही पद "सह" अर्थ के सामर्थ्य से गौण और प्रधान दोनो अर्थों का बोधक होता है) ॥ सू 151 ॥

उदाहरण जैसे—(हे राजन् ! तुमने) शत्रुओ के प्राणो के साथ धनुष की प्रत्यञ्चा खींच ली। (यहाँ गौण प्राणो का और प्रधान प्रत्यञ्चा का सहार्थ सम्बन्ध है।)

मम्मट भट्ट का कथन है कि एकार्थवाचक होने पर भी सह शब्द के अर्थ के सामर्थ्य से जहाँ दोनो का बोध होता है, वह सहोक्ति है। अथवा उदाहरण जैसे—

हे पृथ्वीशासक ! तुम क्रोधाविष्ट होने पर शत्रुओ के भाग्य के साथ उठते हो (अर्थात् तुम्हारे आसन से उठते ही शत्रुओ का भाग्य भी उठ जाता है) और मृत्यु के साथ सहसा ही उन पर गिरते हो। (तुम्हारे आक्रमण के साथ ही मृत्यु का भी आक्रमण हो जाता है।) ॥ 271 ॥

प्रथम उदाहरण ("प्राणैं सम") मे कर्म कारक की सहोक्ति है (कर्षण क्रिया के कर्म प्रत्यञ्चा का प्राणो के साथ सहभाव है)। इस("भाग्येन")उदाहरण मे कर्तृकारक की सहोक्ति है (उत्थान और पतन क्रिया के कर्ता राजा का भाग्य तथा मृत्यु के साथ सहभाव है)। इन दोनो उदाहरणो मे यही भेद है। दोनो उदाहरणो मे ही ("सहयुक्तेऽप्रधाने" सूत्र से) तृतीया विभक्ति के विधान के कारण गुणभाव है। प्रधानरूप मे क्रिया के साथ अन्वय होने पर तुल्ययोगिता अथवा दीपक अलङ्कार हो जाता है। "सह" आदि शब्दो का प्रयोग न होने पर सहोक्ति गम्य हो सकती है। "वृद्धो यूना" इत्यादि पाणिनि सूत्र के अनुसार तृतीया विभक्ति के प्रयोग से उसका ज्ञापन होता है और अतिशयोक्ति होने पर ही सहोक्ति मे चमत्कारित्व रहता है, अन्यथा (सहभाव के रहने पर भी अतिशयोक्ति का सम्बन्ध नही रहने से) "पुत्रेण सहागत पिता" इत्यादि मे अलङ्कार नही है।

सहोक्ति अलङ्कार का प्रकरण समाप्त हुआ ॥ 21

22 विनोक्ति—

नित्य सम्बन्ध होने पर जो असम्बन्ध (दो वस्तुओ के सम्बन्धाभाव) का कथन होता है, वह विनोक्ति है ॥ सू 152 ॥

यह अनवस्थाभाष्यकृत लक्षण है। उदाहरण—

सुगन्ध के भार के बिना मालती का पुष्प सुशोभित नहीं होता।

यहाँ मालती के साथ सौगन्ध्य का अविनाभाव नित्य सम्बन्ध होने पर भी विनाभाव अर्थात् सौगन्ध्य का अभाव वर्णित हुआ है।

स्वमत (हरिप्रसाद का मत) है कि–रमणीय अथवा अरमणीय होने पर 'विना" शब्द के अर्थ के सम्बन्ध से यहाँ (हमारे मत में) "विनोक्ति" होती है। (अर्थात् किसी वस्तु के बिना कोई वस्तु रमणीय हो अथवा किसी वस्तु के बिना कोई वस्तु अरमणीय हो, वहाँ विनोक्ति होगी)। अन्य अलंकार के सम्पर्क से ही इस विनोक्ति में रमणीयता होती है ॥ सू 153 ॥

वस्तु की रमणीयता और अरमणीयता से विनोक्ति दो प्रकार की है। यहाँ (विनोक्ति अलंकार में) अन्य अलंकार के सम्पर्क से ही रमणीयता उत्पन्न होती है। दोनों प्रकार के उदाहरण जैसे "काव्यप्रकाश" में—

रात्रि के बिना (दिन में) चन्द्रमा कान्तिविहीन हो जाता है और वह रात्रि भी चन्द्रमा के बिना अत्यन्त अन्धकारयुक्त हो जाती है। रात्रि और चन्द्रमा दोनों के बिना कामियों का काम-विलास सुशोभित नहीं होता ॥ 272 ॥

यहाँ (रात्रि के बिना चन्द्रमा और चन्द्रमा के बिना रात्रि की अशोभनीयता का वर्णन करने में) अरमणीयता का उदाहरण है। रमणीयता होने पर विनोक्ति जैसे—

यह राजपुत्र मृगलोचना के (रहने पर सब भूल जाता है। पर उसके) बिना विचित्र व्यवहार की प्रतिभा की प्रभा से प्रगल्भ हो जाता है। (इसी प्रकार किसी दुष्ट मित्र के साथ महादुष्ट बन जाता है, परन्तु) उस (दुष्ट) मित्र के बिना चन्द्रमा के समान शुद्धहृदय हो जाता है ॥ 273 ॥

(यहाँ मृगलोचना और दुष्ट मित्र के न रहने पर राजपुत्र की शोभनता का वर्णन किया गया है, अतः यह विनोक्ति की रमणीयता का उदाहरण है।)

पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीयत्व का उदाहरण दिया है—

मुनिगण राग (आसक्ति) के बिना सुशोभित होते हैं, मणियाँ राग (रंग) के बिना शोभित नहीं होतीं। मनुष्य कुटिलता (दुष्टता) के बिना सुशोभित होता है, केश-कलाप कुटिलता (टेढ़ापन) के बिना सुशोभित नहीं होते ॥ 274 ॥

इस पद्य में विनोक्ति अलंकार प्रतिवस्तूपमा के अनुकूल होने से चमत्कार है।

विनोक्ति अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ॥ 22

प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्टपूरकमहिम्ना ।
अप्रकृतस्यार्थस्याऽभिधानमाहुः समासोक्तिम् ॥ सू 154 ॥

पूरक विशेषण स्पष्ट समासेन सक्षेपेणार्थद्वयप्रतिपादनात् समासोक्ति । अप्रस्तुतव्यवहारारोपश्चारुताहेतु । अप्रस्तुतरूपसमारोपवाचकपदसमभिव्याहाराऽभावान्न रूपके इति प्रसङ्ग । उदाहरण यथा—

[64 ब] [1]रजोरूक्षैरङ्गैस्तव ^ पयसि[2] तृष्णाकुलधिया
लुठन् भूयो भूयो भुवि चपलयन्नक्षि परित ।
समारोहत्यङ्कं यदि कथय गङ्गे तव कथ
दयावेल्लद्वीची वलयविषय नैष्यति जन ॥ 275 ॥

अत्र शिशुजननीवृत्तान्त प्रकृताभिन्न । यथा वा—

देव त्वा परित स्तुवन्तु कवयो लोभेन, किं तावता
स्तव्यस्त्व भवितासि, यस्य तरुणश्चापप्रतापोऽधुना ।
क्रोडान्त कुरुतेतरा वसुमतीमाशा [3] समालिङ्गति
द्या चुम्बत्यमरावती च सहसा गच्छत्यगम्यामपि ॥ 276 ॥

यथा वा—

[4]व्यावल्लत्कुचभारमाकुलकच व्यालोलहारावलि [ ]
प्रेङ्खत्कुण्डलशोभिगण्डयुगल प्रस्वेदि वक्त्राम्बुजम् ।
शश्वद्दत्तकरप्रहारमधिकश्वास रसादेतया
यस्मात्कन्दुक[5]सादर सुभगया ससेव्यसे तत्कृती ॥277॥

अत्र विपरीतरतासक्तनायिकावृत्तान्त प्रतीयते । पूर्वत्र विशेषणानि श्लिष्टानि इह तु साधारणानीति[6] भेद । विशेषणसाम्यबलादप्र

---

1 रजो धूलिर्गुणश्च (मू पा टि)
2 पयसि जले दुग्धे च (मू पा टि)
3 •तीमग
4 व्यावल्लात्कु•
5 हे (मू पा टि)
6 •नीत

स्तुतवृत्तान्तस्फूर्त्ति समासोक्तिरित्याशय विशेषणसाम्यबलादप्रस्तुतस्य गम्यत्वमिति सर्वस्वकारोक्ते ।

इति समासोक्ति ॥ 23

23 समासोक्ति—

प्रकृत (प्रस्तुत) अर्थ के प्रतिपादक वाक्य के द्वारा श्लेषयुक्त विशेषणों के प्रभाव से, जो अप्रकृत अर्थ का कथन है, उसे समासोक्ति कहते हैं ॥ सू 154 ॥

"पूरक" का अभिप्राय है जो विशेषणों से स्पष्ट हो, वह समास से अर्थात् संक्षेप से (प्रस्तुत और अप्रस्तुत) दोनों अर्थों का कथन होने से समासोक्ति है। अप्रस्तुत व्यवहार का आरोप सुन्दरता का कारण है। अप्रस्तुतरूप समारोप वाचक पद के प्रयोग का अभाव होने से यहाँ रूपक नहीं है।

उदाहरण जैसे—

हे गङ्गे ! तुम्हारे पय (जल) के प्रति तृष्णा से आकुल बुद्धि के कारण रज (रजोगुण) से रूखे अंगों से बार-बार धरती पर लोटता हुआ तथा चारों ओर नेत्र घुमाता हुआ तुम्हारा भक्त यदि तुम्हारे अंग (जलरूप तरङ्ग) पर आरूढ़ होने लगता है (जैसे धूल से रूखे अंगों से कोई बालक माँ के पय (स्तन्य) के लिये तृषित होकर मचलता हुआ, धरती पर बार-बार लोटता है और चंचल नेत्रों से चतुर्दिक् माता को खोजता है) तो वह दया से हिलती हुई वीचियों के वलय का विषय कैसे नहीं बनेगा ? (माता अपने हिलते हुए वलय वाले हाथ बढ़ाकर पुत्र को गोद में कैसे नहीं उठा लेगी ?) ॥275॥

यहाँ (श्लेषयुक्त विशेषणों के कारण गङ्गा और भक्त के व्यवहाररूप प्रस्तुत अर्थ के साथ) माता और शिशु का व्यवहार-रूप अप्रस्तुत अर्थ भी भासित होता है।

अथवा "रसगङ्गाधर" में उद्धृत उदाहरण—

(राजा के प्रति किसी कवि का कथन–) हे देव ! कविलोग लोभवश तुम्हारे पास स्तुति करें, पर इससे क्या तुम स्तुतियोग्य हो जाओगे ? अब भी जिसके यश का नगाड़ा प्रचार पृथ्वी का आलिंगन करता है, दिशाओं का आलिंगन करता है, स्वर्ग का चुम्बन लेता है और अगम्य (अप्राप्य, गमन के अयोग्य) भी अमरावती को सहसा गमन करता है ॥276॥

(यहाँ राजा-प्रताप-वृत्तान्त रूप प्रस्तुत अर्थ के साथ ही परस्त्रीकामुकरूप अप्रस्तुत वृत्तान्त भी प्रगट होता है।)

अथवा अन्य उदाहरण—

आच्छादित करता स्तन-भार हैं, केश बिखरे हुए हैं, हिलती हुई हारावली है, झूलते हुए कुण्डलो से सुशोभित कपोल-युगल हैं, स्वेदकणों से मुखकमल भीगा हुआ है, निरन्तर हाथ का प्रहार किया जा रहा है तथा श्वास बहुत तेज चल रही है। इस प्रकार हे कन्दुक! पूरे रस के साथ इस प्रिया के द्वारा तुम आदर के साथ सेवित हो, इसलिये धन्य हो ।।277।।

यहाँ विपरीतरतासक्त-नायिका-वृत्तान्त प्रतीत होता है। पूर्व पद्यो मे विशेषण श्लिष्ट हैं, पर यहाँ साधारण हैं, यही भेद है। विशेषण-साम्य के बल से अप्रस्तुत वृत्तान्त का स्फुरण (प्रकटीकरण) समासोक्ति होता है, यह आशय है। अलङ्कार-सर्वस्वकार का कथन है कि विशेषण-साम्य के बल से अप्रस्तुत अर्थ ज्ञात होना ही समासोक्ति है।

समासोक्ति का प्रकरण समाप्त हुआ ।।23

[65अ] साभिप्रायकमुक्त विशेषणं परिकरस्तत्र प्रकृतार्थोपयोगिचमत्कारि-व्यङ्ग्यत्व साभिप्रायत्वम् ।।सू 155।।

उदाहरति—

ताप हरतु [ह] रो मे गङ्गाजलमज्जदमलजट ।

अत्र तापहरणकर्तृत्वे हरस्य गङ्गाजलमज्जदमलजटत्वविशेषणस्य चमत्काराधायकत्वम् ।

अत्र कश्चित् निष्प्रयोजनविशेषणोपादानेऽपुष्टार्थत्वदोषात्साभिप्रायकपदोपादाने तु तदभाव एव, न कश्चिदलङ्कार । तन्न, चमत्कारित्वे सत्युपस्कारस्यालङ्कारत्वप्रयोजकस्य²दोषाभावस्वरूपभिन्नत्वात् । अतएव श्रीरामार्याष्टोत्तरशतमणिमालायामस्मद्गुरुणा पद्ये परिकरप्रस्ताव । यथा—

कोशलपाल कृपालय पालय मामपि लघीयासम् ।।
तिरयति क्व तमो मा त्वामनुसृत्याशुमालिवशमणिम् ।।278।।

---

1 अपुष्टो वितते व्योम्नि विलोक्येन्दु त्यज क्रुधमित्यत्रापुष्टोऽर्थदोष' (मू पा टि)

2. ०कस्यो

अत्र विहितविशेषणवत्त्वस्य सम्बोधनस्य पालनप्रार्थनारूप-प्रकृतार्थस्य कोशलदेशपालनसमर्थत्वसम्बोधनमहिम्ना वाक्यार्थोपस्कारस्य [65ब]सत्त्वादलङ्कारनिर्घोष । दोषाभावस्तु यथापाऽत्यस्य देशपालकस्य कियन्मम पालनमित्यर्थचमत्कारसवलितस्यापि अपुष्टार्थत्वपरिहार एव नालङ्कारकारणतेति चमत्कारापकर्षाभाव एव दोषाभावो नोपस्कारकोऽ-पीति परिकर ।।24

24 परिकर—

साभिप्रायक विशेषण को परिकर कहा जाता है। प्रकृत (वर्णनीय) अर्थ में उपयोगी चमत्कारी व्यग्य को साभिप्रायत्व कहा जाता है। (अर्थात् उन विशेषणो को साभिप्राय कहा जायेगा जिनसे वर्णनीय विषय सगत अथवा पुष्ट होता है और चमत्कारयुक्त व्यग्य अर्थ निकलता है।) ।।सू 155।।

उदाहरण है—

गङ्गाजल से धुली होने के कारण स्वच्छ जटाओ वाले हर (शिव) मेरे ताप (दुख) को हरें (दूर करें)।

यहाँ तापहरण के कर्ता हर का विशेषण 'गङ्गाजलमज्जदमलजट' चमत्कारा-धायक है।

किसी विद्वान् का कथन है कि प्रयोजनरहित विशेषण ग्रहण करने पर "अपुष्टार्थ" नामक दोष बताया गया है, (अपुष्टार्थ जैसे—"विस्तृत गगन मे चन्द्रमा को देखकर क्रोध को त्याग दो), तो प्रयोजनयुक्त पदो का ग्रहण होना केवल उस (दोष) का अभाव ही है, कोई अलङ्कार नहीं है—यह कथन उचित नहीं है। चमत्कारिता होने पर अलकारत्व के प्रयोजक — वर्णनीय वस्तु के उपस्कारक (वर्णनीय वस्तु को पुष्ट तथा सम्पादन करने वाला साभिप्रायक विशेषण) का स्वरूप तथा दोष के अभाव का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। अतएव हमारे गुरु (हरि प्रसाद के गुरु) की कृति "श्री रामार्या अष्टोत्तरशतमणिमाला" के पद्य मे परिकर का प्रयोग हुआ है, जैसे—

हे कृपा के आलय कोशलपाल राम! मुझ तुच्छ की रक्षा करो। सूर्यवश के मणि-स्वरूप तुम्हारा अनुसरण करने पर मुझे अधकार कैसे आच्छादित कर सकेगा? ।।278।।

यहाँ विशेषण रूप मे रखा हुआ सम्बोधन "कोशलपाल" "पालन"-रक्षा करने की प्रार्थना रूप प्रकृत अर्थ का उपकारक है । कोशलपाल पालन करने मे समर्थ है-इस सम्बोधन के कारण वाक्यार्थ पुष्ट होने से यहाँ परिकर अलङ्कार है । दोषाभाव जैसे—

देश का पालन करने वाला यदि पालन नही करे तो मेरा पालन कैसे होगा, इस प्रकार अर्थ-चमत्कार से मिश्रित होने पर भी अपुष्टार्थत्व का अभाव ही अलङ्कार का कारण नही है, चमत्कार के अपकर्ष का अभाव ही दोषाभाव है, वह उपस्कारक नही है ।

परिकर अलङ्कार-प्रकरण समाप्त हुआ ।।24

एकश्रुत्या श्लेष कथनमनेकार्थविषय चेत् ।। सू 156 ।।

उदाहरति—

उदयति मालिन्यहर सवितामहसा प्रतापस्ते ।

अत्र सूर्य प्रतापश्च एकश्रुत्या श्लेषविषय । यथा वा—

करकृतचक्रप्रीतेर्नाशिततमसो हरे[1] प्रममम् ।
कमलाकरेण लब्धा विकाशसपत् सुखाय वो भूयात् ।।279।।

अयमभगश्लेष चक्रतम कमलाहरीणामवयवविभाग विनैव द्वितीयार्थकथनात् । यथा वा—

सम्भूत्यर्थं सकलजगतो विष्णुनाभिप्रपन्नम् ।
यन्नाल स त्रिभुवनगुरुर्वेदनायो[2] विरञ्चि ।।
ध्येय धन्यालिभिरतितरा स्वप्रकाशस्वरूपम् ।
[66अ] पद्माख्य[3] तत्किमपि ललित वस्तु वस्तुर्भिष्टयेस्तु ।।280।।

अत्र सभगश्लेष ।

अत्र गङ्गाधर प्रायेणायमलङ्कारो विषयमलङ्कारान्तरस्य तत्र बाधकत्व सङ्कीर्णत्व बाध्यत्व वा ।

---

1 हरेरिति विष्णो सूर्यस्य च (मू पा टि)
2 •नापो
3 पद्म पद्मज पद्मा लक्ष्मीश्च (मू पा टि)

अत्राहुरुद्भटाचार्या -"येन नाऽप्राप्ते य आरम्यते स तस्य बाधक" इति न्यायेनालङ्कारान्तरविषय [1]एवायमारम्यमाणोऽलङ्कारान्तरं बाधते। न चास्य[2] विविक्तो [3]विषयो येनान्यं न बाधेत, तथाहि, अप्रकृतमात्रयो प्रकृतमात्रयोर्वा तुल्ययोगिता प्रकृताऽप्रकृतयोर्दीपकमुपमादयश्च तदनुगता एव।

25 श्लेष—

यदि एक श्रुति अर्थात् किसी पद अथवा पदांश के एक बार श्रवण से अनेक अर्थों के विषय का कथन हो तो श्लेष होता है ।।सू 156।।

उदाहरण है—

मालिन्य (अन्धकार को) दूर करने वाला सूर्य और मालिन्य (दुःखो को) दूर करने वाला तुम्हारी दीप्ति का (तेज का) प्रताप उदित हो रहा है।

यहाँ सूर्य और प्रताप एकश्रुति से श्लेष के विषय हैं। अथवा जैसे—

(करकृतचक्रप्रीते) हाथ मे लिये हुए सुदर्शनचक्र मे प्रीति रखने वाले (विष्णु) (करकृतचक्रप्रीते) किरणो से निर्मित कालचक्र मे प्रीति रखने वाले (सूर्य), (हरिपक्ष मे) हठात् अज्ञान का नाश करने वाले, (सूर्य पक्ष मे) अन्धकार का नाश करने वाले, (हरिपक्ष मे) लक्ष्मी के हाथ से प्राप्त प्रसन्नता रूपी सम्पत्ति (सूय पक्ष मे)कमलो के समूह द्वारा प्राप्त की हुई प्रफुल्लतारूपी सम्पत्ति आपके सुख के लिये हो ।। 279 ।।

यहाँ चक्र, तम, कमला और हरि पदो को अलग-अलग किये बिना ही ये पद दो-दो अर्थों को कहते हैं, अत यहाँ अभगश्लेष है। अथवा जैसे—

("समूत्पथ" इत्यादि पद्य मे "पद्म"—भगवान को नाभि का कमल तथा "पद्मा"—लक्ष्मी, इन दोनो पक्ष मे अर्थ है।) पद्म के पक्ष मे अर्थ है—समस्त ससार की उत्पत्ति के लिये विष्णु की नाभि का जिसने आश्रय लिया है, जिसकी नाल (डण्ठल) को तीनों लोकों के गुरु और जगदुत्पादक ब्रह्मा भी नहीं जानते,

---

1 अय श्लेष (मू पा टि)
2 श्लेषस्य (मू. पा टि)
3 भिन्नो विषय (मू पा टि)

जो भाग्यशाली भ्रमरो द्वारा अत्यन्त ध्यान करने योग्य हैं, जो स्वप्रकाशस्वरूप है (सूर्य के पूर्व ही इसकी उत्पत्ति होने के कारण जो स्वय अपने आप खिलता है सूर्य के प्रकाश से नही खिलता), ऐसी पद्म नामक जो अवर्णनीय रूप से सुन्दर वस्तु है, वह आपके सन्तोष के लिये हो ।

पद्मा (लक्ष्मी) के पक्ष मे अर्थ होगा—वह त्रिभुवन गुरु, वेदनाथ, ब्रह्मा समस्त जगत् के सभूत्यर्थं (सम्यक् ऐश्वर्यं) के लिये समर्थ नही है (अर्थात् ब्रह्मा वेदो के द्वारा ज्ञान दे सकते हैं, समग्र ससार को उत्पन्न कर सकते हैं, पर ऐश्वय नही दे सकते, लक्ष्मी ही ऐश्वर्यस्वरूपा है) । जो विष्णु के द्वारा स्वीकृत की गई है, जो धन्य (भाग्यवान्) लोगो की पत्नियो (समूहो) मे अत्यन्त ध्यान करने योग्य हैं, जो स्वप्रकाशस्वरूप है, वह पद्मा (लक्ष्मी) नामक कोई सुदर वस्तु आपके सन्तोष के लिये हो ॥ 280 ॥

यहाँ ("पद्माख्यम्"—इस एक श्रुति से पद्म = कमल तथा पद्मा = लक्ष्मी इन दो अर्थों की प्रतीति होती है अत) समगश्लेष है ।

यहाँ "रसगङ्गाधर" मे कहा गया है कि यह अलकार (श्लेषालकार) प्राय अन्य अलकार के विषय का बाधक होता है, यहाँ (अन्य अलकारो के साथ) इसे सकर कहा जायेगा या इसे बाध्य समझा जायेगा ।

यहाँ आचार्य उद्भट का कहना है कि "जिसके अप्राप्त न होने पर (अर्थात् अवश्य प्राप्ति होने पर) जो आरम्भ होता है वह (दूसरा) उस (प्रथम) का बाधक होता है," इस न्याय से दूसरे अलङ्कारो के विषय में किया जाने वाला यह श्लेष अलकार अन्य अलङ्कारो को बाधित करता है । इस श्लेष का ऐसा कोई भिन्न विषय नही है जिससे अन्य को बाधित नही करे क्योंकि केवल दो अप्रस्तुत का अथवा केवल दो प्रस्तुत का वर्णन होने पर तुल्ययोगिता अलकार होगा । प्रस्तुत और अप्रस्तुत का वर्णन होने पर दीपक अलकार होगा और उससे अनुगत उपमा आदि भी रहेंगे ही ।

तन्न, "सर्वदो माधव पातु यो गङ्गा समदीधरदि"नि पद्ये श्लेपातिरिक्त कोऽलकार । न चात्र प्रकृते हरिहरयो सादृश्यप्रतिपादिविपयेन तुल्ययोगिता तस्याश्च सादृश्यप्रत्ययनियतत्वात्, तदेवश्रुत्यार्थद्वयप्रतिपादनमेव चमत्कारजनक नालङ्कारान्तरप्रसङ्ग , तत्सावकाशत्वान्ना-[66a] लङ्कारान्तरापवादकत्व सङ्कीर्ण ऽत्व तु स्यात् ।

प्रकृताप्रकृतोभयविशेष्ययोरपि श्लिष्टपदोपात्तत्वे ध्वनिविषय । यथा—

अविरलविगलद्दानो[1]दकधारासारसिक्तधरणितल ।
[2]धनदाग्रमहितमूर्तिर्जयतितरा सार्वभौमो[3]ऽयम् ॥ 281 ॥

अत्र प्रस्तुते राजनि अप्रस्तुत उदग्दिग्गजो व्यञ्जनमर्यादया प्रतीयते। प्रस्तुताप्रस्तुतयोरुपमानोपमेयभावे तात्पर्यं कल्प्यत इति शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो ध्वनि । काव्यप्रकाशे तु—

महात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल—
वंशोन्नते कृतशिलीमुख[4]संग्रहस्य ।
[5]यस्यानुपप्लुतगते परवारणस्य
दानाम्बुसेकसुभग सतत[6]करोऽभूत् ॥ 282 ॥

इत्यादि ।
इति श्लेष ॥ 25

आचार्य उद्भट का (श्लेष को निरवकाश बताने का यह) मत उचित नहीं है। "सर्वदो माधव" इत्यादि पद्य का अभिप्राय है—(यो अगाम्) जिसने (अगम्) गोवर्धन पर्वत तथा (गाम्) पृथ्वी को धारण किया, वह (सर्वदो माधव) सब सुख देने वाले हरि रक्षा करें। दूसरा अर्थ है—(यो गगाम्) जिसने गगा को धारण किया (सर्वदोमाधव) ऐसे (उमाधव) पार्वती-पति शिव सदैव रक्षा करें। इस पद्य मे श्लेष के अतिरिक्त कौन सा अलकार है? यहाँ प्रस्तुत पद्य मे हरि तथा हर का सादृश्य प्रतिपादित करना अभीष्ट नहीं है जिससे तुल्ययोगिता हो और उस (तुल्ययोगिता अलकार मे) सादृश्य की प्रतीति नियतरूपा होती है। यहाँ (इस पद्य मे) एक श्रुति मे दो अर्थों का प्रतिपादन करना ही चमत्कार-जनक है, अन्य अलकार का प्रसग स्वीकार नहीं है। इसलिये श्लेष अलकार के सावकाश होने से इसे अन्य अलकारो का बाधक बताना युक्त नहीं है, अन्य अलकारो के साथ सकरता ही हो सकती है।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो विशेष्यो का ही श्लिष्टपद से ग्रहण होने पर वह ध्वनि (शब्दशक्तिमूलकध्वनि) का विषय है, जैसे—

---

1 दान वितरण मदश्च (मू पा टि.)
2 धनदो धनदाता कुबेरश्च (मू पा. टि)
3 सार्वभौमो राजा दिग्गजश्च (मू पा टि)
4 शिलीमुखा बाणा भ्रमराश्च (मू पा टि)
5 यस्य राज्ञा गजस्य च (मू पा टि)
6 करो हस्त शुण्डादण्डश्च (मू. पा टि)

निरन्तर गिरने वाली दान के सवल्प-जल की धारा की वृष्टि से पृथ्वीतल को जिसने सिक्त कर दिया और जिसका स्वरूप धनदाताओं के द्वारा सर्वप्रथम पूजित होता है, ऐसे इस सार्वभौम (समस्त पृथ्वी का शासक) राजा की उत्कृष्ट विजय हो। (यह इस पद्य का प्रस्तुत अर्थ है। अप्रस्तुत दिग्गज का अर्थ भी यहाँ प्रतीत होता है-)निरन्तर गिरती हुई मदजल की धारा की वृष्टि से जिसने पृथ्वीतल को आर्द्र कर दिया है और जिसका स्वरूप कुबेर के सामने भी पूजित है, ऐसा यह सार्वभौम नामक दिग्गज (उत्तरदिशा का हाथी) सबसे उत्कृष्ट है ।। 281 ।।

यहाँ राजा रूप प्रस्तुत अर्थ के रहने पर भी अप्रस्तुत रूप उत्तर दिशा का दिग्गज अर्थ भी व्यञ्जना के द्वारा प्रतीत होता है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थों मे उपमानोपमेय भाव दिखाना यहाँ वक्ता का तात्पर्य है, यही कल्पना की जाती है, अत यहाँ शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप सलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक ध्वनि है।

"काव्यप्रकाश" मे यह पद्य दिया गया है—

सुन्दर आत्मा वाले, दूसरो द्वारा अनभिभवनीय शरीर वाले, उच्चवश मे उत्पन्न, बाणों का सग्रह (अभ्यास) करने वाले, अबाधित गति वाले, शत्रुओं का वारण (नाश) करने वाले राजा का हाथ निरन्तर दान के जल के सेवन से सुन्दर रहता था।

द्वितीय अर्थ है—

जो श्रेष्ठ जाति का है, जिसकी देह पर चढने मे कठिनाई होती है, जिसकी पीठ की हड्डी विशाल और उन्नत है,(मदजल के कारण)जिसने भ्रमरो का सग्रह कर रखा है, जिसकी गति धीमी है, ऐसे (परवारण) उत्तम हाथी की सूड मद-जल के बहने से सदा सुन्दर प्रतीत होती है ।। 282 ।।

इत्यादि श्लोक मे श्लेष अलकार है।

श्लेष अलकार समाप्त हुआ ।। 25

> अप्रस्तुतेन सदृश प्रस्तुतमवगम्यते यस्यां
> कार्येण कारणं वा सामान्यविशेषयोर्विलोममपि
> अप्रस्तुतप्रशसा सा सैषा पञ्चधा भवति ।। सू 157 ।।

अप्रस्तुतेन व्यवहारेणोक्तान्यतरेणाऽप्रस्तुतव्यवहारस्य वर्णनमात्र [67अ] K मप्रस्तुतप्रशसा। तत्राऽप्रस्तुतेन स्वसदृश प्रस्तुत गम्यते कार्येण कारण कारणेन कार्यं सामान्येन विशेषो विशेषेण सामान्य चेति विलोम-

[म] पि। शब्दार्थे । क्रमेणोदाहरणानि—

अमन्दारविन्दोदरस्पन्दमानैर्मरन्दैर्मिलिन्दस्य[2] सानन्दताऽभूत् ।
अय तस्य तुच्छे करीरस्य गुच्छे प्रयच्छोत्तर न क्षता रक्षति[3] स्यात् ॥
॥ 283 ॥

यथा वा—

करिविरहितमवनीतलमेतस्य[4] बभूव खरनखरं ।
सम्प्रत्याशुकदम्बे पूर्णा कथमेव [5]करञ्जकण्डूति ॥ 284 ॥

कार्येण कारण गम्य यथा—

कमल निरणायि नाऽन्तरा न शिरीषेऽपि मनोऽनुरज्यति ।
तव कोमलमङ्गमीक्षत क्व पुन पल्लवपेशला दश ॥285॥

अत्र कमलादितिरस्कारेण कार्येणाङ्गसौकुमार्यातिशय कारणम् ।
यथा वा काव्यप्रकाशे—

याता किं न मिलन्ति सुन्दरि पुनश्चिन्ता त्वया मत् कृते
नो कार्या सुतरां कृशाऽसि कथयत्येव सवाष्पे मयि ।
[67 ब] लज्जामन्थरतारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा Λ
दृष्ट्वा मा हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचित ॥ 286 ॥

अत्र कार्ये पृष्टे कारणमभिहितम् ।

26 अप्रस्तुतप्रशसा—

(1) जिसमे अप्रस्तुत के द्वारा सदृश प्रस्तुत का बोध कराया जाता है, (2) कार्य से कारण की अथवा (3) कारण से कार्य की अभिव्यक्ति होती है, (4) सामान्य से विशेष की अथवा (5) विशेष से सामान्य की अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकार यह अप्रस्तुतप्रशसा पाँच प्रकार की होती है ॥ सू 157 ॥

1 ०सोमापि
2 मरन्दैर्मिलिन्दस्य भ्रमरस्य (मू पा टि)
3 वास (मू पा टि)
4 एतस्य सिंहस्य (मू पा टि)
5 करज०

अप्रस्तुत व्यवहार के द्वारा अथवा उक्त अन्य किसी रूप मे अप्रस्तुत व्यवहार का वर्णन मात्र अप्रस्तुतप्रशसा है । यहाँ (1) अप्रस्तुत के द्वारा स्वसदृश प्रस्तुत की अभिव्यक्ति हो, (2) कार्य के द्वारा कारण अथवा (3) कारण के द्वारा कार्य, (4) सामान्य के द्वारा विशेष अथवा (5) विशेष के द्वारा सामान्य की अभिव्यक्ति होना यही "विलोममपि" शब्द का अर्थ है ।

क्रम से उदाहरण देते हैं—

खिले हुए कमल के भीतर हिलते हुए पुष्पो के रस से भ्रमर आनन्दित होता था । उस भ्रमर का करीर के वृक्ष के तुच्छ गुच्छे मे बिना घायल हुए कैसे निवास हो सकता है ? (यहाँ अप्रस्तुत भ्रमर के वृत्तान्त से किसी पुरुषविशेष का वृत्तान्त प्रतीत होता है ।) ॥ 283 ॥

अथवा दूसरा उदाहरण—

इस सिंह के तीक्ष्ण पजे से पृथ्वीतल हाथियो से रहित हो गया । अब चूहो के झुण्ड मे उसके नाखूनो की खुजली कैसे दूर हो ॥ 284 ॥

कार्य के द्वारा कारण गम्य होने पर उदाहरण है—

मन न तो कमल की ओर आकर्षित होता है, न ही शिरीष पुष्प मे प्रसन्न होता है । तुम्हारे कोमल अग को देखने को पल्लव (नवीन पत्ते) के समान कोमल नेत्र कहाँ हैं ? ॥ 285 ॥

यहाँ कमल आदि का निरस्कार करना, इस कार्य से सौकुमार्यातिशयरूप कारण व्यक्त होता है । अथवा "काव्यप्रकाश" मे दिया गया उदाहरण—

हे सुन्दरि ! क्या (बाहर) गये हुए (प्रियजन) पुन नही मिलते ? (अत) तुमको मेरी चिन्ता नही करनी चाहिये, (तुम तो) वैसे ही बहुत दुबली हो । इस प्रकार अश्रुसजल नेत्रो से मेरे कहने पर, आँसू आने पर लज्जा के कारण स्थिर पलकों वाले तथा गिरते हुए आँसुओ को पी लेने वाले नेत्रो से मुझको देखकर उसने (नायिका ने) हँसने के द्वारा भाविमरण के प्रति (अपना) उत्साह सूचित कर दिया ॥ 286 ॥

यहाँ (किसी के द्वारा यात्रा का विचार क्यो छोड दिया, इस) कार्य के पूछे जाने पर (नायिका ने) कारण को कहा है ।

कारणे कार्यं यथा तत्रैव—

राजन् राजसुता[1] न पाठयति मा देव्योऽपि तूष्णीं स्थिता
कुब्जे ! भोजय मा कुमारसचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते ।
इत्थं नाथ ! शुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरा—
च्चित्रस्थानवलोक्य [2]शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥ 287 ॥

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं ज्ञात्वा सहसैव त्वदरयः पलाय्य गता इति कारणे प्रस्तुते कार्यमुक्तम् ।

सामान्येन विशेषो यथा कुवलयानन्दे—

सौहार्दस्वर्णरेखाणामुच्चावचभिदाजुषाम् ।
परोक्षमिति कोऽप्यस्ति परीक्षानिकषोपलः ॥ 288 ॥

अत्र प्रत्यक्ष इव परोक्षे हितमाचरन्नुत्तम इति विशेषस्य सामान्येनावगतिः ।

विशेषेण सामान्यावगतिर्यथा—

हारं वक्षसि केनापि दत्तमज्ञेन मर्कटः ।
लेढि जिघ्रति संक्षिप्य करोत्युन्नतमासनम्[3] ॥ 289 ॥

अत्राप्रस्तुतेन मर्कटवृत्तान्तेनाऽनभिज्ञेषु रमणीयवस्तुसमर्पणम् । काव्यप्रकाशे तु—

सुहृद्वधूबाष्पजलप्रमार्जनं करोति वैरप्रतियातनेन[4] यः ।
[68 ब] स एव पूज्यः स पुमान् स नीतिमान् सुजीवितं तस्य स भाजनं श्रियः ॥ 290 ॥

अत्रैतादृक्कर्मकरणे त्वं श्लाघ्य इति विशेषेण सामान्यमुक्तम् ।
इति अप्रस्तुतप्रशंसा ॥ 26

कारण के द्वारा कार्य की अभिव्यक्ति का उदाहरण "काव्यप्रकाश" में ही दिया है—

---

1 पुत्री (मू पा टि)
2 शून्यवल०
3 ०मासनम्
4 मनुनागवरांगेन (मू पा टि)

राजपुत्री मुझे नहीं पढा रही है, रानियाँ भी चुपचाप बैठी हैं, ग्ररी कुब्जा (दासी), मुझे भोजन दे, क्या राजकुमार श्रौर मन्त्रियो ने ग्रभी तक खाना नहीं खाया है ? (जो मुझे ग्रभी तक खाना नही दे रही हो), हे राजन् ! राहगीरो द्वारा पिंजडे से मुक्त किया हुग्रा तोता तुम्हारे शत्रु के भवन मे शून्य कोठे पर चित्रो मे ग्रकिन प्रत्येक से इस प्रकार सम्भाषण कर रहा है ॥ 287 ॥

यहाँ ग्रापको प्रस्थान के लिये उद्यत जानकर ग्रापके शत्रु सहसा ही पलायन कर गये हैं, इस प्रकार कारणरूप प्रस्तुत से कार्य का कथन किया गया है ।

सामान्य के द्वारा विशेष की ग्रभिव्यक्ति जैसे "कुवलयानन्द" मे—

मित्रता रूपी स्वर्णरेखा की शुद्धता एव ग्रशुद्धता के ग्रन्तर की परीक्षा के लिये परोक्ष ही परीक्षा रूपी कोई कसौटी होती है ॥ 288 ॥

यहाँ (कोई व्यक्ति ग्रपने मित्र से यह कहना चाहता है कि यदि तुम) मेरे सामने होने पर जैसा हित करते हो वैसा ही मेरे परोक्ष मे भी हित करोगे तभी उत्तम मित्र कहे जाग्रोगे । इस विशेष रूप प्रस्तुत ग्रर्थ की व्यञ्जना सामान्य के द्वारा की गयी है ।

विशेष के द्वारा सामान्य की ग्रभिव्यक्ति जैसे—

किसी ज्ञानविहीन व्यक्ति के द्वारा वक्ष स्थल पर पहनाये गये हार को बन्दर चाटता है, सू घता है ग्रौर उसे समेटकर (ग्रपना) मुख ऊँचा करता है । ॥ 289 ॥

यहाँ ग्रप्रस्तुत बन्दर के वृत्तान्त से ग्रनभिज्ञो को रमणीय वस्तु का समर्पण (रूप प्रस्तुत ग्रर्थ) व्यक्त होता है । "काव्यप्रकाश" मे तो (उदाहरण है)—

जो व्यक्ति शत्रु का नाश करके मित्र की पत्नी के ग्रांसुग्रो को पोछता है वही पूज्य है, वह पुरुष है, वह नीतिमान् है, उसी का जीवन सार्थक है (ग्रौर) वही लक्ष्मी का ग्रधिकारी है ॥ 290 ॥

यहाँ इस प्रकार के कर्म करने से तुम प्रशसनीय हो, यह विशेष मे सामान्य कहा गया है ।

ग्रप्रस्तुतप्रशसा ग्रलङ्कार समाप्त हुग्रा ॥ 26

भङ्ग्यन्तरेणकथन विवक्षितार्थस्य यत्र भवेत् ।
ग्राक्षेपो वा युक्तपर्यायोक्त वदन्ति बुधा ॥ सू 158 ॥

ग्रत्राहुरभिनवगुप्तपादाचार्या —"पर्यायेण वाच्यातिरिक्त-प्रकारेण व्यङ्ग्येन चोपलक्षितम् । वक्तुमभिहित पर्यायोक्तमि" ति

योगाथ लक्षणम् । तत्र पर्यायशब्देन प्रकारान्तर धर्मान्तर यद्युच्येत तदा विवक्षितार्थतावच्छेदकातिरिक्तधर्मपुरस्कारेणाभिहितमिति योगार्थं स्यात् । "दशवदननिधनकारी दाशरथि पुण्डरीकाक्ष" इत्यत्र रामत्वातिरिक्तधर्मपुरस्कारेण रामस्यैवाभिधानात् पर्यायोक्तम् । अत्र व्यङ्ग्यस्यैव लक्षणे प्रवेशावश्यकतापर्यायेण तस्यैव गृहीतुमुचितत्वात् प्रकारान्तरग्रहण नावश्यकमित्युक्त आक्षेपो वेति ।

यत्तु "नमस्तस्मै कृतो येन मुधा राहुवधूकुचावि" त्यत्र राहुवधूकुचवैयर्थ्यकारित्वेन भगवानभिहित इति तत्तुच्छम् । भगवतो विशेषणमहिम्ना लभ्यत्वे राहुशिरच्छेदकारित्वस्यैव व्यङ्ग्यत्वात् । [68ब]

उदाहरण यथा गङ्गाधरे—

> त्वा सुन्दरीनिवहनिष्ठुरधैर्यगर्व[1]—
> निर्वापणैकचतुर[2] समरे निरीक्ष्य ।
> येपामरिक्षितिभृता नवराज्यलक्ष्मी
> स्वामिव्रतात्वमपरिस्खलित बभार ॥ 291 ॥

अत्र सर्वापि शत्रुराज्यसम्पत्त्वा प्राप्तेत्यर्थो रूपान्तरेणाभिहित ।
इति पर्यायोक्तम् ॥ 27

27 पर्यायोक्ति—

जहाँ विवक्षित अर्थ का किसी दूसरी भगिमा (शैली) से कथन किया जाये अथवा आक्षेप किया जाये उसको विद्वज्जन युक्त पर्यायोक्त या पर्यायोक्ति कहते हैं । ॥ मू 158 ॥

इस विषय मे आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि पर्याय—वाच्यातिरिक्त प्रकार अर्थात् व्यग्य से उपलक्षित होकर कहने के लिये अभिधा द्वारा प्रतिपादित हो उसे पर्यायोक्ति कहते हैं । यह उनका योगार्थ के आधार पर लक्षण है । यहाँ पर्याय शब्द से प्रकारान्तर अथवा धर्मान्तर यदि कहा जाये तो वक्तव्य वस्तु को जिस रूप मे कहना चाहते हैं उसके अतिरिक्त अन्य रूप को पुरस्कृत करके अभिधा से प्रतिपादन करना, यही योगार्थ होगा । इस स्थिति मे "दशवदनरावण का वध करने वाले कमलनयन दशरथपुत्र" इत्यादि मे रामत्व से अन्य धर्म (पुण्डरीकाक्ष)

1 ०निष्ठुरधैर्यगर्व
2 ०पर्णैकचतुर

के पुरस्कार द्वारा "राम का ही अभिधा से कथन होने के कारण पर्यायोक्ति होने लगगा। यहाँ लक्षण मे व्यग्य का ही प्रवेश आवश्यक माना जाय तो पर्याय शब्द से उस (व्यग्य) का ही ग्रहण करना उचित होने से "प्रकारान्तर" का ग्रहण आवश्यक नही है, अत हमने "आक्षेपो वा" यह भी कहा है।

और जो—राहुवधू के स्तनो को व्यर्थ करने वाले उस (भगवान् वासुदेव) को नमस्कार है। यहाँ राहुवधूस्तनवैयर्थ्यकारित्व रूप से भगवान् वासुदेव अभिहित (वाच्य) हुआ है, यह कहना उचित नहीं है। भगवान् की विशेष महिमा से प्राप्त राहुशिरच्छेदकारिता के ही व्यञ्जित होने के कारण (यह कथन अनुचित है)।

"रसगङ्गाधर" मे पर्यायोक्ति का उदाहरण दिया गया है—

(राजा को सम्बोधित करके कवि कह रहा है-) सुन्दरी-समूह के निष्ठुर धर्म-गर्व को (हम किसी भी परपुरुष को देखकर विचलित नही हो सकती, इस गर्व को) समाप्त करने मे अनुपम चतुर आपको युद्ध मे देखकर किन शत्रु-राजाओ की नव राजलक्ष्मी ने अखण्डित पतिव्रता धर्म को धारण किया? ॥291॥

यहाँ सभी शत्रुओ की राज्यसम्पत्ति तुमको प्राप्त हो गयी, यह अर्थ (राजलक्ष्मी का पतिव्रतधर्म खण्डित हो गया, इस प्रकार) अन्य रूप मे कहा गया है।

पर्यायोक्ति अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ ॥27

> निन्दास्तवनाभ्या यत्पर्यवमान तयोर्विलोमने[1] [गम्ये]।
> व्याजस्तुतिर्न चैषा ध्वनिविषयो[2] बाधितत्वेन ॥ सू 159॥

अत्राद्या यथा गङ्गाधरे—

> उर्वी शास्ति मय्युपद्रवलव कस्यापि न स्यादिति
> प्रौढ व्याहरतो वचस्तव कथ देव प्रतीमो वयम्।
> प्रत्यक्ष भवतो विपक्षनिवहैर्यामुत्पतद्भिः क्रुधा
> यद्युष्मत्कुलकोटिमूलपुरुषो निर्भिद्यते भास्कर ॥292॥

अत्र निन्दा बाधिता स्तुतौ पर्यवस्यति। द्वितीया यथा—

> साधु दूति पुन साधु कर्तव्य किमत परम्।
> यन्मदर्थे विलूनासि दन्तैरपि नखैरपि ॥293॥

---

1 ०मन

2 व्यग्यविषय (मू पा टि)

अत्र साधुकारिणीत्वरूपास्तुतिर्निन्दायाम् ।
इति व्याजस्तुति ।।28

[69अ] अथ आक्षेप —तत्र केचित्[1A] "उपमेयस्य उपमानसम्बन्धि-सकलप्रयोजननिष्पादनक्षमत्वादुपमानकैमर्थ्य मुपमानाधिक्षेपरूपमाक्षेपमा"हु[3] ।

तत्रोदाहरणम्—

> वसुधावलयपुरन्दर[4] विलसति भवत कराम्भोजे ।
> चिन्तामणिकल्पद्रुमकामगवीभि कृत जगति ।।294।।

उपमाप्रयोजननिष्पादनमार्थम् ।

अपरे[5] तु "पूर्वोपन्यस्तस्यार्थस्य पक्षान्तरालम्बनप्रयुक्तनिषेध" इत्याहु । तत्रोदाहरणम्—

> सुराणामारामादिह झटिति झझानिलहत
> पतेच्छाखीन्द्रा[6]ऽय यदि तदखिलो नन्दति जन ।
> किमेभिर्वा कार्यं शिव शिव विवेकेन विकलै-
> श्चिर जीवत्वास्तामवनिधरणि दिल्लीनरपति ।।295।।

28 व्याजस्तुति—

निन्दा और स्तुति का जो पर्यवसान और उनका प्रतिकूल क्रम से (पर्यवसान) है, वह व्याजस्तुति है (अर्थात् निन्दा का स्तुति मे और स्तुति का निन्दा मे पर्यवसान होना, दोनो ही व्याजस्तुति है । और (प्रथमत प्रतीत निन्दा और स्तुति के) वाधित होने से यह (व्याजस्तुति) व्यग्य का विषय (ध्वनिविषय) नही है ।।सू 159।।

यहाँ प्रथम (निन्दा के द्वारा स्तुतिरूपा व्याजोक्ति) का उदाहरण "रसगङ्गाधर" मे है—

---

1 विमर्शिनीकारादय (मू पा टि)
2 विमर्शस्य भाव कैमर्थ्यम् (मू पा टि)
3 •धिक्षेपरूपाक्षेपमाहु ।
4 हे (मू पा टि)
5 रत्नाकरादय (मू पा टि)
6 कल्पद्रुम (मू पा टि)

(किसी राजा की स्तुति करते हुए कवि का कथन—) हे देव ! "मेरे पृथ्वी पर शासन करते हुए किसी को भी सकट का अश भी प्राप्त नही होगा", इस प्रकार दृढता से कहते हुए आपके वचन का हम कैसे विश्वास करें ? क्योकि आपके सम्मुख स्वर्ग की ओर उछलकर जाते हुए शत्रु-समूह द्वारा क्रोध से आपके कुल परम्परा के मूलपुरुष सूर्य को निर्भिन्न (आच्छादित) किया जाता है ॥292॥

यहाँ (राजा का वर्णन) निन्दा से बाधित स्तुति मे पर्यवसित होता है। दूसरा (स्तुति का निन्दा मे पर्यवसित होने का) उदाहरण है—

हे दूति ! तुमने अच्छा किया, बहुत अच्छा किया । इसके अतिरिक्त क्या किया जा सकता था, जो मेरे कारण दाँतो से भी और नखो से भी छिद गयी ॥293॥

यहाँ "भला करने वाली" इस रूप मे स्तुति का (दूती विरुद्ध आचरण करने के कारण धिक्कार है इस) निन्दा मे (अर्थ व्यक्त होता है) ।

व्याजस्तुति अलङ्कार का प्रसङ्ग समाप्त हुआ ॥28

29 आक्षेप—

अब आक्षेप अलङ्कार का निरूपण प्रारम्भ होता है—

इस विषय मे (विमर्शिनीकार आदि) कतिपय विद्वानो का कथन है कि उपमेय के उपमान सम्बन्धी समस्त प्रयोजनो के निष्पादन मे समर्थ होने के कारण उपमान किसके लिये है, इस प्रकार उपमान का तिरस्कार कहने पर आक्षेप कहते हैं । इसका उदाहरण दिया है—

हे पृथ्वी-मण्डल के इन्द्र ! आपका हस्त-कमल जब सुशोभित हो रहा है तो जगत् चिन्तामणि, कल्पवृक्ष और कामधेनु से युक्त हो गया है ॥294॥

यहाँ (चिन्तामणि आदि) उपमान (के जन-मनोरथ पूर्ति आदि) प्रयोजन का (राजा के हस्तकमल रूप उपमेय के द्वारा) निष्पादन आर्थ (अर्थ से) ज्ञात होता है ।

अन्य (रत्नाकर आदि विद्वानो) का कथन है कि पूर्ववर्णित अर्थ का अन्य पक्ष के अवलम्बन से प्रयुक्त निषेध (आक्षेप है) । इसका उदाहरण है—

यदि देवताओ के उद्यान से यह कल्पवृक्ष आँधी से आहत होकर शीघ्र ही यहाँ (पृथ्वीपर) गिर जाये तो समस्त मनुष्य प्रसन्न हो जायें । अथवा ! शिव ! शिव ! विवेक से रहित (जड) इन (कल्पवृक्षो) से क्या प्रयोजन है ? दिल्ली नरेश चिरकाल तक पृथ्वी पर जीवित रहें (ससार मे व्यक्तियो के लिये यही सब कुछ है) ॥295॥

(यहाँ पद्य के पूर्वार्ध में वर्णित पक्ष का, उत्तरार्ध द्वारा दूसरे पक्ष का अवलम्बन कर प्रतिक्षेपमात्र किया गया है।)

काव्यप्रकाशकारास्तु—

निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः॥

विशेषव्यङ्ग्यरूपमर्थविशेषं वक्तुं विवक्षितस्य प्रकृतार्थस्य निषेधो निषेधसदृशकथनादिप्रत्याख्यानरूपः। स वक्ष्यमाणविषय उक्तविषयश्चेति [69ब] द्विधेत्याहुः। तत्रोदाहरणम्[1]—

रीतिं गिराममृतवृष्टिकिरां त्वदीयां
तां चाकृतिं कृतवरैरभिनन्दनीयाम्।
लोकोत्तरामथ कृतिं करुणारसार्द्रां
ज्ञातुं न कस्यचिदुदेति मनः प्रसारः[1]॥296॥

वर्णनीयस्यानिर्वाच्यतां बोधयितुं करिष्यमाणस्य मतिप्रसारस्य निषेधः।

श्वासोऽनुमानवेद्यः शीतान्यङ्गानि निश्चला दृष्टिः।
तस्याः सुभग कथेयं तिष्ठतु[2] तावत्कथान्तरं कथय॥297॥

अन्ये पुनः[3]—

आक्षेपः स निषेधः शब्दव्यङ्ग्यस्तत्र कीर्तितः कविभिः।
उक्तानां भेदानामिहैव यस्मात्समावेशः॥सू 160॥

उदाहरणम्—

त्वामवश्यं निगृह्णन् यः सृजति स्म कलाधरम्।
किं वाच्यं तस्य वैदुष्यं पुराणस्य महामुने॥298॥

इत्याक्षेपः॥29

काव्यप्रकाशकार का कथन है—

जो बात कहना चाहते हैं उसमें वैशिष्ट्य के कथन की इच्छा से जो निषेध किया जाये वह आक्षेप होता है। वह आक्षेप दो प्रकार का है—(1) वक्ष्यमाणविषयक,

---

1. •साद
2. •ष्टतु
3. स्वमतमाह (मू पा टि)

(जो ब त आगे कहनी है उसका पहले ही निषेध कर देना), (2) उक्त विषयक (पूर्व कथित बात का निषेध)।

विशेष का अभिप्राय है व्यग्यरूप अर्थविशेष, (वक्तु विवक्षितस्य) कहने की इच्छा करने का अर्थ है प्रकृतार्थ और निषेध से अभिप्राय है कि निषेध के समान कथनादि का प्रत्याख्यान—कहकर बदल जाना। वह (आक्षेप) दो प्रकार का कहा गया है— वक्ष्यमाणविषय और उक्तविषय। इस मत का उदाहरण है—

अमृतवर्षण करने वाली आपकी वाणी की शैली, श्रेष्ठ व्यक्तियो द्वारा अभिनन्दनीय आपकी उस आकृति और करुणारस से आर्द्र अलौकिक कृति को जानने के लिये किसके मन मे प्रसन्नता (उत्सुकता) उदित नही होती (किसके मन का प्रसार नही होता)।। 296 ।।

वर्णनीय (महापुरुष के गुणो) की अनिर्वचनीयता को बताने के लिये अवश्य होने वाले मतिप्रसार का निषेध किया गया है। (अत यह उक्त लक्षण का उदाहरण हो जाता है।)

(आक्षेप के द्वितीय भेद का उदाहरण–) नायिका की सखी नायक से कह रही है—हे सुभग ! उसकी श्वास अनुमान से ही जानी जाती है, अग शीतल हैं, दृष्टि निश्चल है, यही उस (नायिका) की कथा है। पर इस प्रसग को छोडो, दूसरी बात कहो ।। 297 ।।

(काव्यालोककार स्वमत कह रहे हैं कि) अन्य कुछ विद्वान् कहते हैं—वह निषेधमात्र आक्षेप है। वह निषेध कवियो द्वारा व्यग्यार्थयुक्त कहा गया है। जिससे उक्त सभी भेदो का इसमें समावेश हो जाता है ।। सू 160 ।।

उदाहरण है—

किसी सुन्दर व्यक्ति के प्रति कथन है—तुम्हारा सृजन अवश्य करने की इच्छा रखते हुए भी जिसने चन्द्रमा का निर्माण किया, उस बूढे महामुनि (ब्रह्मा) की विद्वत्ता का क्या कहना ? ।। 298 ।।

(यहाँ "तुम्हारे रहते चन्द्रमा की क्या आवश्यकता है ?"–यह बात ध्वनित होती है। "वृद्ध ब्रह्मा मे विद्वत्ता नहीं है", यह निषेध आक्षेप की ध्वनि है।)

आक्षेप अलकार का प्रकरण समाप्त हुआ ।। 29

अविरोधेऽपि विरुद्ध वचन स विरोध इत्युक्त ।
जात्यादीनां ह्रासाद्विरुद्धता तेन दशभेदा ।।सू 161।।

जातेर्जात्यादिभिश्चतुर्भि[1]र्गुणस्य त्रिभिरेव[2] क्रियाया द्वाभ्या[3] द्रव्यस्य [4]तेनैवेति दशभेदा । क्रिया चात्र न वैयाकरणानामिव शुद्धा भावना, [70अ] नापि नैयायिकानामिव ∧ स्पन्दरूपा, किन्तु तत्तद्धातुवाच्या विशिष्टव्यापाररूपा ।

उदाहरण काव्यप्रकाशे—

> [5]अभिनवनलिनीकिस[6]लयमृणालवलयादि दवदहनराशि ।
> सुभग[7] ! कुरङ्गदृशोऽस्या विधिवशतस्त्वद्वियोगपरिपाते ॥ 299 ॥
>
> [8]गिरयोऽप्यनुन्नतियुजो मरुदप्यचलोऽब्धयोऽप्यगम्भीरा ।
> विश्वम्भराप्यतिलघुर्नरनाथ[9] ! तवान्तिके नियतम् ॥ 300 ॥
>
> [10]येषा कण्ठपरिग्रहप्रणयिता सम्प्राप्य धाराधर[11]—
> स्तीक्ष्ण सोऽप्यनुरज्यते च [12]कमपि स्नेह[13] पराप्नोति च ।
> तेषा सङ्गरसङ्गसक्तमनसा राज्ञा त्वया भूपते !
> पाशूना पटलं प्रसाधनविधिर्निर्वर्त्यते कौतुकम् ॥ 301 ॥

30 विरोध—

वस्तुत विरोध नही होने पर भी, विरुद्ध वचन होने पर वह विरोध कहा जाता है । जाति आदि के ह्रास से विरुद्धता होने पर विरोध अलकार के दस भेद हो जाते हैं ॥ सू 161 ॥

---

1 जातिगुणक्रियाद्रव्यैश्चतुर्भि (मू पा टि)
2 गुणक्रियाद्रव्यैस्त्रिभिरेव (मू पा टि)
3 क्रियाद्रव्याभ्या (मू पा टि)
4 द्रव्येनैव (मू पा टि)
5 जात्याजातिर्विरुध्यते (मू पा टि)
6 किसल ०
7 हे (मू पा टि)
8 जात्या गुणो विरुध्यते (मू पा टि)
9 हे (मू पा टि)
10 जात्या क्रिया विरुध्यते (मू पा टि)
11 खड्ग (मू पा टि)
12 किम ०
13 मज्जादिभेदनात् स्नेहम् (मू पा टि)

जाति का जाति आदि चार (जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य) के साथ, गुण का (गुण, क्रिया और द्रव्य) तीन के साथ, क्रिया का (क्रिया और द्रव्य) दो के साथ, द्रव्य का केवल उसके (द्रव्य के) साथ ही विरोध हो सकता है, इस प्रकार विरोध (विरोधाभास) अलकार के दस भेद हो जाते हैं। यहाँ क्रिया वैयाकरणों के समान शुद्ध भावना (सामान्य कृति) नही है, न ही नैयायिको के समान स्पन्दरूपा (गत्यात्मक व्यापार) है, किन्तु उन-उन धातुओ से वाच्य होने वाली विशिष्टव्यापाररूपा है।

(सभी भेदो के) उदाहरण "काव्यप्रकाश" के अनुसार हैं—

1 जाति का जाति के साथ विरोध का उदाहरण—

हे सुभग! भाग्यवश तुम्हारे वियोग (वज्र) के गिरने पर हरिण के समान नेत्रो वाली उस (नायिका) के लिये नवीन कमलिनीपत्र और कमलनाल के वलय आदि दावाग्नि के पुंज हो जाते हैं। (यहाँ नलिनीकिसलय और मृणालवलय इन दोनो जातिवाचक शब्दो का दवदहन जातिवाचक शब्द के साथ विरोध होने से विरोधाभास का उदाहरण है।) ॥ 299 ॥

2 जाति से गुण का विरोध होने पर विरोध अलकार का उदाहरण—

हे राजन्! आपके सम्मुख पर्वत भी नीचे हो जाते हैं, पवन भी निश्चल, समुद्र भी गम्भीरता से रहित और पृथ्वी भी निश्चय ही अतिलघु हो जाती है। (यहाँ पर्वत आदि जातिवाचक शब्दो मे अनुन्नतत्व आदि वर्णित होने से जाति का गुण के साथ विरोध बताया गया है।) ॥ 300 ॥

3 जाति से क्रिया का विरोध होने पर—

जिनके कण्ठ का आलिंगन प्राप्त करके वह तीक्ष्ण (निष्ठुर) तलवार अनुरक्त (रक्त से लाल, अनुराग युक्त) हो जाती है और किसी अनुपम स्नेह (रक्त से प्राप्त चिक्कणता, प्रीति) को प्राप्त कर लेती है, हे राजन्! युद्ध की अभिलाषा मे आसक्त मन वाले उन राजाओ को आप धूल के आवरण से अलकृत करने का कार्य करते हैं, यह आश्चर्यजनक है। (यहाँ खड्ग जातिवाचक शब्द का अनुराग और स्नेह-प्राप्तिरूप क्रिया के साथ विरोध दिखलाया गया है।) ॥ 301 ॥

[1]सृजति च जगदिदमवति च संहरति च हेलयैव यो नियतम्।
अवसरवशत शफरो[2] जनार्दन सोऽपि चित्रमिदम् ॥ 302 ॥

1 जात्या द्रव्य विरुध्यते (मू पा टि)
2 मत्स्यरूप (मू पा टि)

[1]सतत मुसलासक्ता[2] बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते।
द्विजपत्नीना कठिना सति भवति[3] करा सरोजसुकुमारा ॥ 303 ॥

[4]पेशलमपि खलवचन दहतितरा मानस [5]सुतत्त्वविदाम्।
[70ब] परुषमपि सुजनवाक्य मलयजरसवत्प्रमोदयति ॥ 304 ॥

[6]क्रौञ्चोऽद्रिरुद्दामदृषद् दृढोऽसौ, यन्मार्गणानर्गलशातपाते[7]।
अभूनवाम्भोजदलाभिजात, स भार्गव सत्यमपूर्वसर्ग ॥ 305 ॥

[8]परिच्छेदातीत[9] सकलवचनानामविषय
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपद यो न गतवान्।
विवेकप्रध्वसादुपचितमहामोहगहनो
विकार कोऽप्यन्तर्जडयति च ताप च कुरुते ॥ 306 ॥

4 जाति से द्रव्य का विरोध होने पर विरोध अलकार—

जो इस ससार का निर्माण करते है, रक्षा करते हैं और अनायास ही सहार कर देते हैं, वे जनार्दन भी अवसर के वशीभूत होकर मछली (मत्स्यावतार) बन जाते हैं, यह आश्चर्य की बात है। (यहाँ शफरत्व जाति का जनार्दनरूप द्रव्य से विरोध प्रदर्शित किया गया है।) ॥ 302 ॥

5 गुण से गुण का विरोध होने पर विरोधालकार का उदाहरण—

हे राजन्! निरन्तर मूसल मे लगे रहने वाले और घर के अनेक काम करने से कठोर हुए ब्राह्मणपत्नियों के हाथ आपके होने पर कमल-सदृश सुकुमार हो गये हैं। (अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणों को आपने इतना दान दिया कि उनकी पत्नियों को कार्य नहीं करना पड़ता, अत उनके हाथ कोमल हो गये हैं। यहाँ कठिनत्व और सुकुमारत्व दोनों गुणों का विरोध वर्णित किया गया है।) ॥303॥

---

1 अत्र गुणेन गुणो विरुध्यते (मू पा टि)
2 मुशलासक्ता
3 त्वयि (मू पा टि)
4 अत्र गुणेन क्रिया विरुध्यते (मू पा टि)
5 सुतत्त्व •
6 अत्र गुणेन द्रव्य विरुध्यत (मू पा टि)
7 तीक्ष्णपाते सति (मू पा टि)
8 अत्र क्रियया क्रिया विरुध्यते (मू पा टि)
9 परिणामरहित (मू पा टि)

6 गुण के द्वारा क्रिया का विरोध—

दुष्ट व्यक्तियों का वचन कोमल होने पर भी तत्त्वज्ञ व्यक्तियों के मन को अत्यन्त सन्तप्त करता है। सज्जन व्यक्तियों का वचन कठोर होने पर भी चन्दन के रस के समान आनन्दित करता है। (यहाँ पेशलत्व गुण का दाह-क्रिया के साथ तथा परुषत्व गुण का प्रमोदन-क्रिया के साथ विरोध लक्षित होता है। ॥ 304 ॥

7 गुण के द्वारा द्रव्य का विरोध—

विशाल चट्टानों से सुदृढ यह क्रौंच नामक पर्वत, जिन (परशुराम) के बाणों की अनियन्त्रित तीक्ष्ण वृष्टि से नवीन कमल-पत्र के समान कोमल हो गया, वे भार्गव (भृगुनन्दन परशुराम) सत्य ही अपूर्व (अलौकिक) पुरुष हैं। (यहाँ कोमलत्व गुण का क्रौंच द्रव्य के साथ विरोध भासित होता है।) ॥ 305 ॥

8 क्रिया के द्वारा क्रिया का विरोध—

जो परिणामरहित है, सभी वचनों (की शक्ति) से जो परे है, जो इस जन्म में कभी अनुभव का विषय नहीं बन सका, विवेक नष्ट होने से बढ़े हुए महान् अज्ञान के कारण जो गहन हो गया है, इस प्रकार का कोई (कामजन्य) विकार अन्तःकरण को जड बना रहा है और सन्ताप भी उत्पन्न कर रहा है ॥ 306 ॥

यहाँ जड बना रहा है और सन्ताप कर रहा है, इन दोनों क्रियाओं में विरोध है।

[1]अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः ॥307॥

[2]समदमतङ्गजमदजलनिस्यन्दतरङ्गिणीपरिष्वङ्गात्।
क्षितितिलक! त्वयि तटजुषि शङ्करजूटापगापि[3] कालिन्दी ॥308॥

वस्तुतस्तु विरोधस्तावदेकाधिकरणासम्बद्धत्वेन[4] प्रसिद्धयोरेकाधि-

---

1 अत्र क्रियया द्रव्यं विरुध्यते (मू पा टि)
2 अत्र द्रव्येन द्रव्यं विरुध्यते (मू पा टि)
3 गङ्गा (मू पा टि)
4 ० रणासम्बद्धत्वेन

करणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादनम् । स च प्रतीतिसमकालमेवाविरोधबुद्धि-तिरस्कृतो भवति । कार्यकारणादिवुद्ध्यनालीढ इति यावत् ।

[71अ] अत्र जात्यादिविरोधो धर्ममात्र ^ स्योपलक्षणम् । तेन "शुद्ध-सत्त्वात्मनोऽप्यस्य येषा मूर्त्तिस्तमोमयी[1]", "[2]अगोद्धारप्रवृत्तस्य नागोद्धार-कता" [3]यथेत्यादौ सखण्डोपाधिरभावश्च सङ्गृह्यते ।

शब्दत्वश्लेषमूलत्वाभ्यां द्विविध एवाय[4] रमणीय । शब्दस्य द्योत-कत्वे शाब्द अन्यत्र स्वार्थ इति प्राचीनाचार्योक्ते । जात्यादिविरोधस्त्व-हृद्य इत्यनुसन्धेयम् ।

इति विरोधालङ्कार ॥ 30

9 क्रिया के द्वारा द्रव्य का विरोध—

यह समुद्र जल का एक आवास है, रत्नो की खान है, ऐसा सोचकर तृष्णा से व्याकुल मन से हमने इसका आश्रय लिया । पर कौन यह जानता था कि अपने हाथ की अजलि के भीतर समाये हुए और फडफडाते हुए तिमि और मगरमच्छो वाले इस समुद्र को अगस्त्य मुनि क्षणभर मे ही पी जायेंगे । (यहाँ पान क्रिया का अगस्त्य मुनि तथा समुद्ररूप द्रव्य के साथ विरोध दिखलायी देता है)॥307॥

10 द्रव्य से द्रव्य का विरोध होने पर विरोध अलकार का उदाहरण है—

हे पृथ्वी के तिलक (राजन्) ! आपके (गगा नदी के) तट पर उपस्थित होने पर (आपकी सेना के) मदयुक्त हाथियो का (कृष्णवर्णवाला) मदजल निकल कर नदी में मिल जाने से शिवजी के जूडे से निकलने वाली गगा भी (जल के कृष्णवर्ण हो जाने से) यमुना बन गयी । (यहाँ गगा और यमुना नदीरूपी द्रव्यो का परस्पर विरोध दिखाया गया है।) ॥ 308 ॥

वस्तुत विरोध अलकार तो एक आश्रय से सम्बद्ध नही रहने वाले प्रसिद्ध दो पदार्थों का, एक आश्रय से सम्बद्ध रूप मे वर्णन किया जाना है, और वह विरोध की प्रतीति उस समय होने पर भी अविरोध-ज्ञान से तिरस्कृत हो जाती

1 कृष्णा (मू पा टि)
2 गोवर्द्धन (मू पा टि)
3 नालेयोद्धारकता (मू पा टि)
4 ० वायं

है। कार्यकारणभावादिज्ञान से अचुम्बित (विरोधाभास रहने पर) ही विरोध अलंकार होता है।

यहाँ (विरोध अलंकार में) जाति आदि का विरोध धर्ममात्र का उपलक्षण है (अर्थात् जाति आदि भी धर्मरूप होने से अभीष्ट अवश्य हैं, पर जाति आदि से अन्य धर्म भी ग्राह्य हैं)। अतएव "शुद्धसत्त्वात्मा होने पर भी इसकी यह जो मूर्ति तमोमयी (कृष्णवर्ण की) है" (यहाँ 'सत्त्वात्मन' तथा 'तमोमयी' में विरोध है, पर तमोमयी पद का अर्थ कृष्णवर्ण करने पर विरोध का परिहार होता है।) "अगोद्धार = गोवर्द्धन पर्वत को उठाने में जो प्रवृत्त है, उसकी नागोद्धारकता = पर्वत को न उठाने वाला गुण जिस प्रकार है।" (यहाँ "अगोद्धारकत्व" तथा "नागोद्धारकत्व" में विरोध है, पर नागोद्धारकर्ता में नाग = कालियसर्प का उद्धार करने वाले, इस प्रकार अर्थ लेने पर विरोध का परिहार होता है।) इन उदाहरणों में सखण्ड उपाधि और अभाव का ग्रहण हो जाता है। (यहाँ "शुद्धसत्त्वात्मत्व" तथा "अगोद्धारकत्व" कोई जाति नहीं, अपितु केवल धर्म हैं, ऐसे धर्म को "सखण्डोपाधि" कहते हैं। (यहाँ "शुद्धसत्त्वत्व" तथा "आत्मत्व" इसी प्रकार "अगत्व" तथा 'उद्धारकत्व" ये दो-दो खण्ड हैं। इसी तरह "शुद्ध-सत्त्वात्मत्वाभाव" तथा "अगोद्धारकत्वाभाव" भी जाति के अन्तर्गत नहीं अपितु धर्म के अन्तर्गत आते हैं। धर्म उस वस्तु को कहते हैं जो कहीं रहने वाली हो, अभाव भी कहीं रहता है, अतः धर्म है।)

शब्द के श्लेषमूलत्व होने से (शुद्ध और श्लेषमूलक इस प्रकार विरोध अलङ्कार के) ये दो भेद ही सुन्दर होते हैं। शब्द के द्योतक होने पर शाब्द विरोध होता है और अन्यत्र आर्थ विरोध होता है, यह प्राचीन आचार्यों का कथन है। जाति आदि के आधार पर विरोध अलङ्कार के भेद सुन्दर नहीं हैं, यह जानना चाहिये।

विरोध अलङ्कार समाप्त हुआ ॥ 30

> हेतो[1] अनिर्येऽपि व्यक्ति कार्यस्य यत्र भवेत्।
> हेत्वन्तरकल्पनया न विरोध सा विभावना भवति ॥ सू 162 ॥

कारणव्यतिरेकसमानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यमाना कार्योत्पत्तिस्तत्रा-पाततया भासमानो विरोध. कारणान्तरकल्पनया निवर्त्यते। यथा—

---

1 हेतो कारणस्य (मू पा टि)

मीलितनयनोऽपि मुनि पश्यति सकल विवेकविमलमति ।
शरदि शशाङ्के विलसति कुवलयमङ्के स्वय समायाति ॥ 309 ॥

अत्र पूर्वार्द्ध विलोकनकारण चक्षुस्तदभावेऽप्युपनिबध्यमानमवलो-
[71ब] कनमापातविरुद्धमपि विवेकनैर्मल्यरूपहेतुकतया पर्यवस्य K ति।
अत्र त्रिशूली यत्सूक्त कुवलयानन्दे—कारण विना कार्योत्पत्तिरेका।
कारणानामसमग्रत्वे द्वितीया । सत्यपि प्रतिबन्धके कार्योत्पत्तिस्तृतीया।
अकारणात्कार्योत्पत्तिश्चतुर्थी । विरुद्धात्कार्यजन्म पचमी । कार्यात्कारण-
जन्म षष्ठी[1] ।

31 विभावना—

कारण का प्रतिषेध (अभाव) होने पर जहाँ कार्य की अभिव्यक्ति हो वह विभावना अलङ्कार होता है । अन्य हेतु की कल्पना से यहाँ विरोध नही रहता है ॥ सू 162 ॥

कारण के बिना उसी स्थिति मे कार्य की उत्पत्ति वर्णित होने पर, वहाँ बाहरी रूप मे प्रतीत होने वाला विरोध अन्य कारण की कल्पना से दूर हो जाता है । उदाहरण जैसे—

विवेक के कारण निर्मल बुद्धियुक्त मुनि नेत्रो को बन्द रखने पर भी सब कुछ देखता है । शरद् ऋतु मे चमकते चन्द्रमा के पास मे नीला कुमुद स्वय आ जाता है ॥ 309 ॥

यहाँ श्लोक के पूर्वार्द्ध मे देखने का कारण नेत्र है, पर उसके अभाव मे भी देखने का कार्य बताया गया है, जो प्रथम दृष्टि मे विरुद्ध प्रतीत होने पर भी विवेकनैर्मल्यरूप हेतु के द्वारा (विरोध) दूर हो जाता है ।

यहाँ त्रिशूली (पण्डितराज जगन्नाथ) ने लिखा है कि "कुवलयानन्द" मे छह प्रकार की विभावना बतायी गई है—1 कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति, 2 कारणों की असमग्रता (अपूर्णता) मे कार्य की उत्पत्ति, 3 प्रतिबन्धक विद्यमान रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति, 4 अकारण (अन्य कारण) से कार्य की उत्पत्ति, 5 विरुद्ध वस्तु से कार्य की उत्पत्ति और 6 कार्य से कारण की उत्पत्ति ।

---

1. ० ष्ठी

क्रमेणोदाहरणम्—

अप्यलाक्षारसासिक्त रक्त तस्या पदाम्बुजम् ।
अस्त्रैस्तीक्ष्णकठिनैर्जगज्जयति मन्मथ ॥
सातपत्र दहत्याशु प्रतापतपनस्तव ।
शङ्खाद्वीणानिनादोऽयमुदेति महदद्भुतम् ॥
शीतांशो किरणा हन्त दहन्ति सुदृशो दृशौ ।
यश पयोधिरभवत्करकल्पतरोस्तव ॥

[1]इत्यादिस्तत्रोच्यते । किमत्र विभावनासामान्यलक्षण यस्यैते प्रकाश । कारण विना कार्योत्पत्तिरिति चेत् न प्रकारभेदान्त पातित्वात्। किं च प्रथमद्वितीययो प्रकारयोर्भेदो दुरुपपाद कारणतावच्छेदकसम्बन्धेन कारणतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽभावस्य विवक्षितत्वात् । एव [72अ] प्रतिबन्धकमपि कारणाभाव एव, प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वात् । इति तृतीयोऽपि भेदो न विलक्षण । चतुर्थेऽपि भेदे कारणाभाव आर्थ । "शङ्खाद्वीणानिनादोयमि" त्युक्ते वीणा विनैवेति प्रत्ययादवैलक्षण्यम् । तस्माद्भेदषट्कोपपादनमनुपपन्नम् ।

इनके क्रम से उदाहरण दिये गये हैं—

1 उसके चरणकमल लाक्षारस न लगाने पर भी लाल हैं ।
2 कामदेव अतीक्ष्ण और कोमल अस्त्रो से जगत् पर विजय पाता है ।
3 आपका प्रतापरूपी सूर्य छत्रधारी को शीघ्र जलाता है ।
4 शख से यह वीणा की ध्वनि उत्पन्न हो रही है, यह बहुत अद्भुत है ।
5 खेद है कि चन्द्रमा की किरणें सुनयना के नेत्रो को जला रही हैं ।
6 आपके हाथरूपी कल्पवृक्ष से यशरूपी समुद्र उत्पन्न हुआ ।

इत्यादि उदाहरण यहाँ दिये गये हैं । जिस (विभावना) के ये प्रकार बताये गये हैं उस विभावना का सामान्य लक्षण क्या है ? 'कारण के विना कार्य की उत्पत्ति" यदि यह लक्षण माना जाये तो उपर्युक्त छह प्रकार के भेद इसके अन्तर्गत नही आयेंगे । इसके अतिरिक्त प्रथम और द्वितीय प्रकारो मे भेद प्रमाणित नही होना है क्योकि कारणता के अवच्छेदक (परिचायक या निर्धारक) सम्बन्ध से, कारण के अवच्छेदक (धर्म से अवच्छिन्न) विशिष्ट प्रतियोगिताक

---

1 पाण्डुलिपि मे "तव" और "इत्यादि" मे सन्धि करके "तवेत्यादि" पाठ दिया है ।

(तदनुरूपक) अभाव का कहना अभीष्ट है। (प्रथम उदाहरण में कारणता का अवच्छेदक सम्बन्ध संयोग है और धर्म लाक्षारसत्व है, अत यहाँ संयोग सम्बन्ध से लाक्षारसत्व से युक्त कारण का अभाव वर्णित होने से विभावना होती है। द्वितीय उदाहरण में जगत्-विजय का कारण तीक्ष्णता और कठोरता से युक्त अस्त्र ही है अत तीक्ष्ण तथा कोमल अस्त्रों के रहने पर भी तीक्ष्णत्व और कठोरत्व अस्त्रस्वरूप कारणतावच्छेदक धर्म से युक्त कारण का अभाव वर्णित होने से दोनों प्रकारों में भेद नहीं रह पाता है)। इसी प्रकार प्रतिबन्धक भी कारण का अभाव ही है क्योंकि प्रतिबन्धक का अभाव (कार्यमात्र के प्रति) कारण है। अत कुवलयानन्दकार के द्वारा कथित तृतीय भेद ("प्रतिबन्धक रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति") भी विलक्षण (भिन्न) नहीं है। चतुर्थ भेद भी आर्थ कारणाभाव है। "शंख से यह वीणा की ध्वनि उत्पन्न हो रही है", यह कहने पर वीणा के बिना ही (वीणा की ध्वनि हो रही है) यह अर्थ प्रतीत होने से यहाँ भी विलक्षणता नहीं है। इस प्रकार छह प्रकार की विभावना कहना युक्तियुक्त नहीं है।

तदेव समर्थनीय विनापि कारण कार्यजन्मेति विभावना सामान्य लक्षणम्। सा द्विधा—शाब्दी आर्थी च। आद्या त्रिविधा—प्रतिबन्धकातिरिक्तकारणव्यक्तिप्रतियोगिकाभावोक्तिपूर्विका कार्याभाववैकल्योक्तिपूर्विका प्रतिबन्धकोक्तिपूर्विका[1] चेति। आर्थ्यपि त्रिधा—प्रकृतकार्यसमानजातीयकार्यान्तरस्य कारणात्, प्रकृतकार्यविरुद्धकार्यस्य कारणात्, स्वकार्याद्वा प्रकृतकार्यस्योत्पत्ति।

विभावना द्विधा—उक्तनिमित्ता अनुक्तनिमित्ता च। आद्या यथा—

कटिः क्षीणा मन्दं हसितमसिता वीक्षणगति ।
प्रवालान्त पाति स्फुरति च यदाम्याधरतलम्।
तदायामोरीणा हृदयमनतेनाननुगत
मुहुस्ताम्यत्यन्तर्शनदिव मनो मुह्यतितराम् ॥310॥

[72व] यथा वा?—

विना विष मूर्च्छयति स्म यूना,
मनो मृगाक्षी हसितेन मन्दम्।
अत परं यौवनमाविनाङ्गी,
सखीऽमन्तर्दहतीति युक्तम् ॥311॥

---

1 ०पूर्वका

द्वितीया यथा—

> विनातपत्र भवता नृपाणा नरेश[1] सतप्यमपाङ्कत यत् ।
> *प्रचण्डदण्डेऽप्यनुरज्य राजन् राजन्वतीमेतु जनस्ततो गाम् ।।312।।*

इति विभावना ।।31

कुवलयानन्दकार के कथन का इस प्रकार समर्थन करना चाहिए कि "कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति" यह विभावना का सामान्य लक्षण है । यह (विभावना) दो प्रकार की है—1 शाब्दी (जहाँ शब्द के द्वारा कारणाभाव का वर्णन हो), और 2 आर्थी (जहाँ कारणाभाव अर्थ से ज्ञात हो) । प्रथम (शाब्दी विभावना) तीन प्रकार की है—1 प्रतिबन्धकातिरिक्तकारणव्यक्तिप्रतियोगिकाभावोक्तिपूर्विका (कारण के अभाव का वर्णन प्रतिबन्धक के रूप मे न होकर कारणरूप वस्तु के अभाव का वर्णन ।) 2 कार्य के अभाव की कमी (कारणगत जिस विशेष के कारण कार्य की उत्पत्ति नही हो सकी है उस कमी) की उक्तिपूर्विका विभावना, 3 प्रतिबन्धक की उक्तिपूर्विका (प्रतिबन्धक रूप मे कार्य की उत्पत्ति) । आर्थी विभावना भी तीन प्रकार की है—1 प्रस्तुत *कार्य के समानजातीय अन्य कार्य के कारण से (कार्य की उत्पत्ति)*, 2 प्रस्तुत *कार्य से विरुद्ध कार्य के कारण से (कार्य की* उत्पत्ति), 3 अपने कार्य से ही प्रकृत कार्य की उत्पत्ति ।

विभावना दो प्रकार की है–1 उक्तनिमित्ता और 2 अनुक्तनिमित्ता । प्रथम (उक्तनिमित्ता) का उदाहरण यथा—

जब क्षीण कटि, मन्द हास्य, नीले नेत्र, मुख पर ओष्ठ जैसे प्रवाल (किसलय) समाविष्ट होकर स्थित हैं तब से लेकर आभीर जाति की स्त्रियों के हृदय अग्नि के बिना ही बार-बार पीडित होते हैं, भीतर से जले हुए के समान मन और भी अधिक उद्विग्न हो जाता है । (यहाँ पर क्षीण कटि, मद हास्य, नीले नेत्र, किसलय जैसे ओष्ठ रूप निमित्त उक्त हैं, जिससे बिना अग्नि के ही आभीर जाति की स्त्रियो के हृदय पीडित होते हैं और उद्विग्न होते हैं ।।310।।

अथवा जैसे उदाहरण—

मृग के सदृश नेत्रो वाली नायिका धीरे से हँसकर युवको के मन को बिना विष के ही मूर्च्छित कर देती थी । इसके पश्चात् यौवन से युक्त अगो वाली होने

---

1 हे (मू पा टि)

पर अब लज्जा के साथ अन्तःकरण को जलाती है, यह उचित है। (यहाँ मद हँसना रूप निमित्त उक्त है जिससे बिना विष के भी युवती का मन मूर्च्छित होता है।) ॥311॥

द्वितीय (अनुक्तनिमित्ता विभावना) का उदाहरण है—

हे राजन्! आपके द्वारा बिना दण्ड के राजाओं को पीडित करके दूर कर दिया गया। हे राजन्! प्रचण्ड दण्ड होने पर भी आपके प्रति अनुरक्त होकर अब लोग राजन्वती (श्रेष्ठ राजा से युक्त) पृथ्वी को प्राप्त करें ॥312॥

विभावना अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ ॥31

कारणकलापसत्त्वे[1] कार्यानुत्पत्तिरभिहिता कविभिः।
[2]दृष्टा न विशेषोक्तिर्गुणहानौ साम्यदार्ढ्यं तु ॥सू 163॥

एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यमिति वामनः। यथा—"द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्" तदेतन्नातीव युक्तिमहम्। द्यूते राज्यस्य तादात्म्यारोपे सिंहासनराहित्यकल्पना दृढारोपरूपकस्यैव युक्तत्वात्। उदाहरणम्—

साधुमुखकमलवासितमापीतमपीह कर्णपर्णपुटे।
हरिनामामृतमसकृत्तथापि नो तृप्तये भवति ॥313॥

यथा वा—

श्रुतिशतनिर्णीतमिदं जगदखिलमसत्यमेव बुधाः।
अमुमूयतेऽपि हा हा तथापि नासक्तिरपयाति ॥314॥

[73अ] इति विशेषोक्तिः ॥32॥

32 विशेषोक्ति—

कवियों के द्वारा कारण-समूह वर्तमान रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति का कथन न करना (विशेषोक्ति है)। "गुण (धर्मविशेष) के अभाव की कल्पना करके सादृश्य की दृढ़ता" में विशेषोक्ति नहीं है ॥सू 163॥

आचार्य वामन का कथन है कि एक गुण (धर्मविशेष) के अभाव की कल्पना में साम्य की दृढ़ता (विशेषोक्ति) है। जैसे—जुआ पुरुष के लिये सिंहासन-

1 ०त्वे
2 दृ०

रहित राज्य है' । यह युक्तिसगत नही है । भूत मे राज्य का तादात्म्य सम्बन्ध से आरोप होने पर (राज्य मे भी) सिंहासनराहित्य की कल्पना की गयी है, अत यहाँ दृढोरोप रूपक कहना ही उचित है (विशेषोक्ति नही) । (विशेषोक्ति का उदाहरण है—

इस ससार मे सज्जन—पुरुष के मुख—मकल से सुगन्धित, कानो रूपी पत्तो के दोनो मे बार-बार पान किया हुआ होने पर भी हरिनामामृत हमारी तृप्ति के लिये नही होता है । (प्रभु का नाम बार-बार सुनने पर भी तृप्ति नही होती।) ॥313॥

अथवा अन्य उदाहरण—

सैकडो श्रुति—वाक्यो से निश्चय किया है कि यह समस्त जगत् असत्य है, विद्वज्जन इसका अनुभव भी करते हैं । परन्तु खेद है कि इसमे आसक्ति दूर नही होती । (यहाँ आसक्ति दूर होने का कारण वर्णित होने पर भी आसक्ति दूर होने रूप कार्य नही होने से विशेषोक्ति अलङ्कार है ।) ॥ 314 ॥

विशेषोक्ति अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ॥ 32

वैयधिकरण्यमुभयोविरुद्धमिव हेतुकार्ययोर्यत्र सू ॥ 164 ॥

श्रुत्यन्तचारिनयन मुचित केशेष्वसङ्गति सेयम ॥

यथा वा—

भ्रुवा पौष्प चाप नमयति रणान्यस्यति शरान्
समक्ष सर्वेषामियमतुललावण्यवसनि ।
स्मरस्नाम्यन् [1]बाणैर्मम हृदयविश्रामपदवी
[2]तितिक्षन् न क्षान्ति व्रजति कथमद्याप्यनुपदम् ॥ 315 ॥

पूर्वोदाहरणे श्लेषमूला, अत्र तु विभावनादिसम्वलिता शुद्धैव[3] चमत्कारहेतु ।

"समानाधिकरणत्वेन प्रसिद्धयोर्वैयधिकरण्येनोपनिवन्धनमसङ्गति-स्तद्विपरीतो विरोधालङ्कार " इति कश्चित् ।

इत्यसगति ॥ 33

---

1 बा०

2 तितक्ष०

3 असगति (मू पा टि)

33 प्रसङ्गति—

जहाँ कारण व कार्य की भिन्नदेशता होने पर दोनो विरुद्ध के समान प्रतीत होते हैं, वही यह प्रसङ्गति है ॥ सू 164 ॥

जैसे—(नायिका के) श्रुत्यन्त (वेदान्त, कानों के छोर) का परिशीलन (अभ्यास, स्पर्श) करने वाले नयन हैं, किन्तु केशों में मुक्ति होती है। (यहाँ श्रुत्यन्तचारिनयन कारण हैं तथा केशो में मुक्ति कार्य है जो भिन्नदेशता से संयुक्त है और विरुद्ध से प्रतीत होते हैं। पर "नयनों के वेदान्त का परिशीलन करने से केश मुक्त हो जाते हैं" इस अर्थ का अनुसंधान करने पर विरोध समाप्त हो जाता है।)

अथवा दूसरा उदाहरण—

यह अनुपम लावण्य की वासस्थली (नायिका) सभी के सम्मुख भौंहों के द्वारा पुष्प-धनुष को तानती है, नेत्रों से बाण छोड़ती है। कामदेव मन में सन्तप्त होता हुआ, अपने बाणों से मेरे हृदय के विश्राम-मार्ग को छोड़ने की इच्छा करते हुए भी किसी प्रकार अब भी पद-पद पर धैर्य धारण नहीं करता है ॥ 315 ॥

प्रथम उदाहरण "श्रुत्यन्तचारि" इत्यादि में श्लेषमूला प्रसंगति है (यहाँ श्रुति पद श्लिष्ट है)। प्रस्तुत ('भ्रू वा' इत्यादि उदाहरण) में विभावना आदि से युक्त शुद्धा प्रसंगति ही चमत्कार का कारण है।

किसी विद्वान् (पण्डितराज जगन्नाथ) का कथन है कि यदि दो पदार्थ एक आधार में रहने के लिये प्रसिद्ध हो और उन दो पदार्थों को भिन्न-भिन्न आधारों में वर्णित किया जावे तो प्रसंगति अलंकार होता है। और इसके विपरीत होने पर (अर्थात् दो पदार्थ भिन्न-भिन्न आधारों में रहने के लिये प्रसिद्ध हो और उन दो पदार्थों की स्थिति एक आधार में वर्णित हो तो) विरोधालंकार होता है।

प्रसंगति अलंकार का प्रकरण समाप्त हुआ ॥ 33

अनुरूपं ससर्गं समममसम तद्विलोमेन ॥ सू 165 ॥

अनुरूपमिति योग्यतायां[1], अनुरूप यत्र न विद्यत इति त्वसमं युक्तमिदमिति *लौकिकव्यवहारगोचरत्वमित्यर्थ । उत्पत्तिलक्षण रायोगादि*—लक्षणश्च द्विधा ससर्ग । तत्र सम यथा गङ्गाधरे—

[2]म त्र पितृद्विर्दीप्तहुताशनतनूभुव ।

[73 ब] जिताम्बर्श्रेन पाञ्चाल्या [ ] स्थाने दग्ध गुणोत्पन ॥316॥

---

1 सम.लङ्कार (मु पा टि) 2 म न्त्रापित०

इति समालङ्कार ।। 34
असमो यथा—

राकासुधाकरसहोदरता मुखस्य
व्यक्ता करस्य कमलेन तुला तथापि ।
त्वत्त क्थ कथय वागियमग्निकल्पा
जाता लिपिश्च कठिना मम दाहहेतु ।। 317 ।।

इत्यसमालङ्कार ।। 35

34 सम तथा 35 असम अलङ्कार—

लोक-व्यवहार के अनुरूप (योग्य) सम्बन्ध समालङ्कार होता है और इसके विपरीत (अननुरूप सम्बन्ध) को असम अलङ्कार कहते है ।। सू 165 ।।

लोक व्यवहार के अनुरूप से अभिप्राय है—योग्यता होने पर समालकार होता है और जहाँ अनुरूप नही होता वह असमालकार होता है । ससर्ग दो प्रकार का होता है—उत्पत्ति रूप और सयोगादि रूप । सम अलकार का उदाहरण "रसगङ्गाधर" के अनुसार है—

मन्त्रो के साथ दी गयी हवि से प्रदीप्त अग्नि के शरीर से उत्पन्न द्रौपदी की शिखा (चोटी) के स्पर्श से दुर्योधन उचित ही दग्ध हुआ । (अग्नि की शिखा के स्पर्श से दाह होता है उसी प्रकार अग्नि से उत्पन्न द्रौपदी की शिखा—चोटी—के स्पर्श से भी दाह होना उचित है, क्योकि कारण का गुण कार्य मे भी होता है । यहाँ लोक व्यवहार के अनुरूप सम्बन्ध होने से समालकार है ।) ।। 316 ।।

समालङ्कार समाप्त हुआ ।। 34.

असमालकार का उदाहरण—

मुख की सहोदरता (समानता) पूर्णिमा के चन्द्रमा से और हाथ की तुलना कमल से व्यक्त है । फिर भी कहो कैसे तुमसे अग्नि के समान यह वाणी और मेरे दाह की हेतु यह कठिन लिपि उत्पन्न हुयी । (पूर्णिमा के चन्द्र के समान मुख और कमल के समान हाथ कोमल व सुन्दर होने पर उससे अग्नि के समान वाणी और दाहक कठोर लिपि की उत्पत्ति प्रतिकूल होने के कारण आश्चर्यकारी है ।)
।। 317 ।।

असमालङ्कार समाप्त हुआ ।। 35

अन्यतरस्याधिक्याादाधाराधेययोरधिकम्[1] ॥ सू. 166 ॥

तत्र आधेयाधिक्य यथा गङ्गाधरे—

लोकाना विपद धुनोषि, तनुपे सम्पत्तिमत्युत्कटा—
मित्यल्पेतरजल्पितैर्जडधियां भूपाल मा गा मदम् ।
यत्कीर्त्तिस्तव वल्लभा लघुतरब्रह्माण्डभाण्डोदरे
पिण्डीकृत्य महोन्नतामपि तनु कष्टेन हा वर्त्तते ॥ 318 ॥

अत्र कीर्त्तेराधेयाया महत्त्वे[2], तेन च व्याजस्तुति पुष्टा भवति ।

गिरामविषयो राजन् विस्तारस्तव चेतस ।
सावकाशतया यत्र शेते विश्वाश्रयो हरि ॥ 319 ॥

अत्राधारस्याधिक्यम् ।
इत्यधि [का] लङ्कार ॥ 36

इष्टविपरीतकल्पनमिष्टार्थं तद्विचित्रमिह ॥ सू 167 ॥

विपरीतकल्पन प्रतिकूलताप्रकटीकरणम् ।

[74 ब] बन्धोन्मुक्त्यै खलु मखमुखान् कुर्वते कर्मपाशान्
अन्त शान्त्यै मुनिशतमतानल्पचिन्ता भजन्ति ।
तीर्थे मज्जन्त्यशुभजलधे पारमारोढुकामा
सर्वं प्रामादिकमिह भवभ्रान्तिभाजा नराणाम् ॥ 320 ॥

इति विचित्रम् ॥ 37

उपकारोऽन्योन्यस्यान्योन्यम् ॥ सू 168 ॥

उपकारो गुणक्रियादिरूपविशेषाधानम् ।

श्रमसलिलकणमाला अपि तनुकान्तिसुवर्णे परस्पर रुचिमुदञ्चयति ।
कुवलयानन्दे तूदाहृतम्—

यथोर्ध्वाक्ष पिबत्यम्बु पथिको विरलाङ्गुलि ।
तथा प्रपापालिकापि धारा वितनुते तनुम्[3] ॥ 321 ॥

इत्यन्योन्यालङ्कार ॥ 38

---

1 अधिकमित्यधिकालकार इत्यर्थ (मू पा टि)

1 ०त्व

3 सूक्ष्मा (मू पा टि)

36 अधिकालङ्कार—

आधार और आधेय मे से किसी एक का आधिक्य वर्णित होने पर अधिकालङ्कार होता है ।। सू 166 ।।

आधेय का आधिक्य वर्णित होने पर अधिकालङ्कार का उदाहरण "रसगङ्गाधर" के अनुसार—

हे राजन् ! आप लोगो की विपत्ति को दूर करते हैं और सम्पत्ति का अत्यधिक विस्तार करते हैं, इस प्रकार की जड बुद्धिवाले व्यक्तियो की बडी-बडी बातो से गर्व नही करें। क्योकि आपकी प्रिया कीर्ति इस छोटे से ब्रह्माण्डरूप पात्र (बर्तन) के भीतर अपने अत्यधिक विशाल शरीर को सिकोडकर बहुत कष्ट से रहती है ।। 318 ।।

यहाँ कीर्तिरूप आधेय का महत्त्व है और उससे व्याजस्तुति पुष्ट होती है। (राजा की निन्दा के कथन द्वारा स्तुति की गयी है, अत व्याजस्तुति अधिकालङ्कार से पुष्ट हो रहा है।)

(अधिकालङ्कार के द्वितीय भेद, जहाँ आधार का आधिक्य होता है, उसका उदाहरण है—) हे राजन् ! तुम्हारे चित्त का विस्तार अवर्णनीय है, जिसमे समग्र विश्व को आश्रय देने वाले भगवान् पूर्ण विस्तार से सोते हैं ।। 319 ।।

इस पद्य मे (राजा के चित्तरूप) आधेय का आधिक्य वर्णित है।

अधिकालङ्कार-प्रकरण समाप्त हुआ ।। 36

37 विचित्र—

इष्ट-सिद्धि के लिये यहाँ इष्ट के विपरीत कल्पना होने पर, वह विचित्र अलङ्कार होता है ।। सू 167 ।।

विपरीत कल्पना का अभिप्राय है—प्रतिकूलता का प्रकटीकरण। उदाहरण है—

इस लोक मे ससार की भ्राति से युक्त मनुष्यो के सभी कार्य प्रमादजनित होते हैं। क्योकि वे बन्धन-मुक्त होने के लिये यज्ञादि कर्मपाश करते हैं। अत शान्ति के लिये सैकडो मुनियो के मतो का पालन करते हैं, अत्यधिक चिन्ता करते हैं। अशुभ समुद्र को पार करने की इच्छा करते हुए तीर्थ मे स्नान करते हैं। (इस उदाहरण मे बन्धन से मुक्ति के लिये कर्मपाश की रचना, अन्त शान्ति के लिये विभिन्न मतो का अनुसरण, अत्यधिक चिन्ता, अशुभ समुद्र से पार के लिये

तीर्थ-स्नान, ये कार्य इष्ट-सिद्धि के लिये होते हुए भी इष्ट के विपरीत हैं अत यहाँ विचित्र अलङ्कार है।) ॥320॥

विचित्र अलङ्कार का प्रसङ्ग समाप्त हुआ॥ 37

38 अन्योन्य—

एक दूसरे का उपकार अन्योन्य अलङ्कार है॥ सू 168॥

गुण क्रिया आदि रूप विशेष आधान उपकार है। (उदाहरण है–)

परिश्रम के कारण उत्पन्न जल-बिन्दु माला और स्वर्ण के समान शरीर की कान्ति भी परस्पर शोभा उत्पन्न करते हैं।

"कुवलयानन्द" मे इसका उदाहरण दिया गया है—

जिस प्रकार पथिक आँखें ऊपर करके अगुलियों को दूर-दूर करके जल पी रहा है, उसी प्रकार प्रपापालिका (पानी पिलाने वाली नायिका) भी जलधारा को सूक्ष्म कर रही है॥ 321॥

अन्योन्य अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ॥ 38

अर्पिताश्रय विनैवाधेयस्योक्तिर्विशेष इत्याह ॥ सू 169॥

उदाहरणम्—

दिङ्मौलिषु कुसुममिव स्थितमस्य यशो विभाति धरणीन्दो।

यथा वा रुद्रटालङ्कारे—

> दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम्।
> रमयन्ति जगन्ति गिर कथमिह कवयो न ते वन्द्या ॥ 322॥

अय च निराधारत्वेन पूर्वस्तु आधारान्तरगतत्वेनोक्त।
युगपदनेकत्र भवदेक सोप्येकभावेन। अथ द्वितीयो विशेष यथा—

[74ब] स्थित एव स्थितिमेपि त्व ∧ मस्मिनस्यय कवेर्वचसि।

यथा वा—

> [1]सा वसइ तुज्झ हिमए सच्चियमच्छीसु[2] सा श्च वमणेसु।
> अम्हारिसाण[3] सुन्दर उमासो[4] णत्थि पावाणम्[5] ॥ 323॥

---

1 सा वसति तव हृदये सैवाक्षिषु सा च वचनेषु।
अस्मादृशीनां सुन्दर ! अवकाश कुत्र पापानाम्॥ इति संस्कृतम्॥

2 सैवाक्षिषु (मू पा टि)

3 अस्मादृशानां (मू पा टि)

4 अवकाश (मू पा टि)

5 प्राप्तु (मू पा टि)

काव्यप्रकाशे यदपि किञ्चिद्रभसेनारभमाणस्तेनैव यत्नेनाशक्यमपि कार्यान्तरमारभते सोप्यपरो विशेष । यथा—

> [1]स्फुरदद्‌भुतमुत्प्रतापतापज्ज्वलन त्वा सृजतानवद्यविद्यम् ।
> विधिना ससृजे नवो मनोभूर्भुवि सत्य सविता वृहस्पतिश्च ।।324 ।

इति विशेषालङ्कार ।। 39

39 विशेष—

प्रसिद्ध आश्रय के बिना आधेय का कथन (होने पर एक प्रकार का) विशेष अलङ्कार होता है, ऐसा कहा गया है ।। सू 169 ।।

उदाहरण है—पृथ्वी के चन्द्रमा रूप मे स्थित (राजा) की कीर्ति दिशाओ के मस्तक पर पुष्प के समान सुशोभित हो रही है । (यहाँ आधेय कीर्ति का प्रसिद्ध आश्रय राजा है, उस कीर्ति का दिशाओ के मस्तक रूप अन्य आधार मे वर्णन किया गया हैं, अत विशेषालङ्कार है ।)

अथवा अन्य उदाहरण आचार्य रुद्रट के "काव्यालङ्कार" मे दिया गया है—

दिवगत हो जाने पर भी जिनकी असीम गुणो से युक्त (काव्यरूप) वाणी कल्पान्त (प्रलय) पर्यन्त ससार को आनन्दित करती रहती है, वे कवि किस प्रकार से वन्दनीय नही हैं ।। 322 ।।

यहाँ पर निराधारत्व रूप से आधेय वर्णित है और पूर्व पद्य मे अन्य आधार के रूप मे आधेय वर्णित है । (इस प्रकार यह विशेष अलकार दो प्रकार का हुआ—1. प्रसिद्ध आधार से भिन्न आधार मे आधेय वर्णित होने पर तथा 2 सवथा आधार के अभाव मे ही आधेय वर्णित होने पर ।)

एक ही वस्तु की एक ही रूप से अनेक आधारो मे एक साथ स्थिति वर्णित की जाये, वह दूसरे प्रकार का विशेष अलङ्कार होता है । जैसे—

तुम शत्रुओ के मन मे स्थित ही थे । अब कवि के वचनो मे भी स्थिति प्राप्त कर ली । (यहाँ नायक रूप आधेय की स्थिति शत्रु-मन तथा कवि-वचन रूप आधारो मे वर्णित की गई है, अत विशेषालकार का द्वितीय भेद है ।)

अथवा दूसरा उदाहरण—

वह (नायिका) तुम्हारे हृदय मे रहती है, वही आँखो मे और वही वचनो मे रहती है । हे सुन्दर ! हम जैसी अभागिनियो के लिये कहाँ स्थान है ? ।। 323 ।।

---

1 स्फुरदुद्‌भु ०

"काव्यप्रकाश" में कहा गया है कि जो कुछ शीघ्रतावश कार्य को प्रारम्भ करने वाला उसी प्रयत्न से दूसरे अशक्य कार्य को भी प्रारम्भ कर देता है वह भी अन्य (तीसरे प्रकार का) विशेष अलङ्कार है। जैसे—

अद्भुत चमकने वाले, तीव्र प्रताप के ताप को मिटाने वाले और श्रेष्ठ विद्या से सुशोभित आपका सृजन करते हुए विधाता ने पृथ्वी पर सत्य ही नवीन कामदेव, सूर्य और बृहस्पति की रचना कर दी। (यहाँ विधाता ने एक कार्य-राजा का निर्माण करते हुए दूसरे अशक्य कार्य कामदेव, सूर्य तथा बृहस्पति को भी उत्पन्न कर दिया है, अत तृतीय प्रकार का विशेषालङ्कार है।) ॥ 324 ॥

विशेषालङ्कार का प्रकरण समाप्त हुआ ॥ 39

अत्र जगन्नाथ —यत्र ह्येकेन कर्त्रा येन हेतुना कार्यं किञ्चिन्निष्पादित निष्पिपादयिषित वा तदन्येन कर्त्रा तेनैव कारणेन तद्विरुद्धकार्यस्य निष्पादनेन निष्पिपादयिषया वा व्याहन्यते स व्याघात ।

यद्यथा साधित केनाप्यपरेण तदन्यथा ।
तथैव तद्विधीयेत[1] स व्याघात इति स्मृत ॥

इति काव्यप्रकाशे उदाहृत च—

दृशा दग्ध मनसिज जीवयन्ति दृशैव या[2]।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ता स्तुवे वामलोचना ॥ 325 ॥

[75अ] अत्र जयिनीर्विरूपाक्षस्य वामलो ʌ चना इति व्यतिरेकस्य प्रकाशनात्स एवालङ्कार । न च व्यतिरेकोत्थापकतया व्याघात अलङ्कारोत्थापकतयालङ्कारे नियमविरहात् ।

[3]व्याहन्यतेऽल्पहेतुरभिष्ट व्या [घा] त इत्युक्तम् ॥ सू 170 ॥

भीरुरिति नयतु भुजयो प्रियेति मा त्यजतु सहवासात् ॥

इति व्याघातालङ्कार ॥ 40

---

1 ० धीयते
2 स्त्रिय (मू पा टि)
3 रवमतमाह (मू पा टि)

40 व्याघात—

पण्डितराज जगन्नाथ का कथन है कि जहाँ एक कर्त्ता के द्वारा जिस कारण से कोई कार्य सम्पन्न किया गया हो अथवा करना चाहा हो, वह अन्य कर्त्ता द्वारा उसी कारण से उसके विरुद्ध कार्य के निष्पादन से अथवा निष्पादन की इच्छा से बिगाड दिया जाये, वहाँ व्याघात अलङ्कार है।

("काव्यप्रकाश" मे व्याघात का लक्षण दिया है—) किसी बात को कोई जिस प्रकार से बताये, उसको अन्य कोई उसी प्रकार से बदल डाले, उसे व्याघात कहते हैं।

यह "काव्यप्रकाश" मे कथित है और (राजशेखर-विरचित "विद्धशालभजिका" का) उदाहरण है—

जो स्त्रियाँ (शिवजी के तृतीय) नेत्र से भस्म हुए कामदेव को अपने नेत्र (के कटाक्ष) से ही जीवित कर देती हैं, उन शिवजी को जीतने वाली मनोहर नेत्रो वाली स्त्रियो की मैं स्तुति करता हूँ ॥ 325।

"विरूप नेत्रो वाले शिवजी को जीतने वाली वामलोचना-सुन्दर नेत्रो वाली" यहाँ व्यतिरेक का प्रकाशन होने से वही (व्यतिरेक) अलकार है। और व्यतिरेक के उत्थापक रूप मे व्याघात नही है, क्योकि अलकार का उत्थापक अलकार ही हो, यह नियम नही है।

हरिप्रसाद स्वय का मत बता रहे हैं—अल्पहेतुक इष्ट (कार्य) को जहाँ बिगाड दिया जाता है, उसे व्याघात कहते हैं ॥ सू 170 ॥

(नायिका कह रही है कि मैं) भीरु हूँ, ऐसा समझते हो तो अपनी भुजाओ मे ले लो। मैं प्रियतमा हूँ, ऐसा समझकर सहवास को मत छोडो।

व्याघात अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ ॥ 40.

पक्तिनिबद्धार्थाना पूर्वोत्तरयोश्च ससृष्टि[1]।
अनयैव शृङ्खलया कारणमालादयो बद्धा ॥ सू 171 ॥

पक्तिरूपेण निबद्धानामर्थाना पूर्वस्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्य वा पूर्वस्मिन्न-सकृत्प्रयुज्यमाना[2] ससृष्टि शृ खला। आनुगुण्यम्य कार्यकारणभावरूपत्वे

1. सयोग (मू पा टि)
2 सकृदियुक्त्येन तदा उपमानोपमायामतिव्याप्ति (मू पा टि)

पूर्वस्य कारणत्वे परस्य कार्यत्व परस्य कारणत्वे पूर्वस्य कार्यत्व वेति कारणमाला भवति । विशेषणविशेष्यभावरूपत्वे त्वेकावलीत्यादिपदार्थ । क्रमेणोदाहरणम्—

> सुकृतेन लभ्यते धनमथ विद्या वितयसम्पदपि च तथा ।
> [1]तैश्च यशो भुवनेऽस्मिन् तेन[2] च नित्यो भवेन्नाक ॥ 326 ॥

काव्यप्रकाशे—

[75 ब] जितेन्द्रियत्व विनयस्य कारण गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पद ॥ 327 ॥

यथा च भारते—

> न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
> न ते वृद्धा ये न दिशन्ति धनम् ।
> नासौ धर्मः सत्यपथादपेतो
> न तत्सत्य यत् च्छलेनानुविद्धम् ॥ 328 ॥

पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तर प्रति विशेष्यत्वे विशेषणत्वे च द्विधैवैकावली । अत्र पूर्वं पूर्वं परस्योपकार क्रियमाणो यद्येकरूपस्तदा मालादीपक-व्यवहार ।"दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमिष्यत" इति तु भ्रममात्रम् ।

इत्येकावली ॥ 42[3]

शृखलामूलक अलङ्कार—41 कारणमाला, 42 एकावली—

---

1 धनादिभि (मू पा टि)
2 यशसा (मू पा टि)
3 इति शृ यथा 41 कारणमाला 42 एकावली 43 एव भयोनद्धारा (मू पा टि)

*पाण्डुलिपि की पादटिप्पणी मे अलङ्कारो की सख्या लिखते हुए "शृखला" को अलग अलङ्कार मान लिया गया है और आगे भी अलङ्कारो मे इसी क्रम से सख्या लिखी है। परन्तु उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यहाँ शृखला-मूलक अलङ्कारो का वर्णन किया जा रहा है, अत यह स्वतन्त्र अलङ्कार नही है। अलङ्कार-सख्या को लिपिकार की भूल मानकर यहाँ आगे तक सख्या क्रम ठीक कर दिया गया है।

पंक्तिरूप में निबद्ध अर्थों में पूर्व और उत्तर (अर्थों) का परस्पर संयोग 'समृष्टि" कहलाता है। कारणमाला आदि इसी शृंखला से सम्बद्ध होते हैं।
॥ सू 171 ॥

पंक्तिरूप में निबद्ध (वर्णित) अर्थों में पूर्व अर्थ का उत्तर अर्थ में अथवा उत्तर अर्थ का पूर्व अर्थ में बार-बार प्रयुक्त समृष्टि (संयोग)शृंखला अलङ्कार है। (शृंखला में ही) अनुरूपता(संयोग) के कार्यकारणभावरूप होने पर, पूर्व के कारण होने पर, पर (उत्तर) कार्य हो, पर के कारण होने पर पूर्व कार्य हो तो कारण-माला अलंकार होता है। (शृंखला में ही) विशेषण—विशेष्यभाव (सम्बन्ध) होने पर एकावली इत्यादि अलंकार होते हैं। क्रम से उदाहरण हैं—

अच्छे कार्य से धन प्राप्त होता है, तब विद्या, विनय और उसी प्रकार सम्पत्ति भी प्राप्त होती है। उन धन आदि से इस लोक में यश मिलता है और उस यश से स्वर्गलोक नित्य सुलभ हो जाता है ॥ 326 ॥

"काव्यप्रकाश" में दिया गया उदाहरण है—

जितेन्द्रियता विनय का कारण है, विनय से गुणप्रकर्ष प्राप्त होता है,गुणप्रकर्ष से लोगों का अनुराग होता है और लोगों के अनुराग से सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं।
॥ 327 ॥

(यहाँ दोनों उदाहरण में पूर्व–पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर की हेतुता वर्णित होने से कारणमाला अलङ्कार है।)

"महाभारत" में दिया गया पद्य उदाहरण के रूप में है—

वह सभा नहीं है, जहाँ वृद्ध नहीं हैं। वे वृद्ध नहीं हैं, जो धर्म का उपदेश नहीं देते। वह धर्म नहीं है, जो सत्यपथ से हट कर हो। वह सत्य नहीं है, जो छल से संयुक्त हो ॥ 328 ॥

पूर्व—पूर्व का उत्तर—उत्तर के प्रति विशेष्यत्व तथा विशेषणत्व होने पर एकावली के दो भेद हो जाते हैं। यहाँ पूर्व—पूर्व के द्वारा किये जाने वाला पर (उत्तर) का उपकार यदि एक रूप हो तब इसे माला दीपक शब्द से व्यवहार किया जाता है। "दीपक और एकावली के योग से मालादीपक बनता है," (कुवलयानन्दकार अप्पयदीक्षित का) यह कथन केवल भ्रममात्र है।

(शृंखलामूलक कारणमाला ॥ 41 तथा) एकावली अलंकार का विवेचन समाप्त हुआ ॥ 42

यत्रोत्तरोत्तर स्यादुत्कर्षो भवति तत्सारम् ॥ सू 172 ॥

वसुधासार सौधसौधे तल्प वराङ्गना तत्र ॥

यथा वा—

महत परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुष पर ।

पुरुषान्न पर किञ्चित्सा काष्ठा[1] सा परागति ॥ 329 ॥

इति सार ॥ 43

हेतोर्वाक्य पदार्थत्वे[2] काव्यलिङ्ग जगुर्बुधा[3] ॥ सू 173 ॥

उदाहृत च तैरेव—

वपु प्रादुर्भावादनुमितमिद जन्मनि पुरा

पुरारे[4] । न प्राय क्वचिदपि भवन्त प्रणतवान् ।

[76 म] नम मुक्त सम्प्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाग्

महेश[5] । क्षन्तव्य तदिदमपराधद्वयमपि ॥ 330 ॥

अनेक पदार्थता यथा—

प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतै—

र्ललितशिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत् ।

वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपत

पततु शिरस्यकाण्डयमदण्ड इवैष भुज ॥ 331 ॥

एकपदार्थता यथा—

भस्मोद्धूलन[6] । भद्रमस्तु भवते रुद्राक्षमाले[7] । शुभ

हा सोपानपरम्परा[8] [9]गिरीसुताकान्तालयालङ्कृतिम् ।

---

1 ० ष्टा

2 वाक्यार्थत्वे एकपदार्थत्वेऽनेकपदार्थत्वे च (मू पा टि)

3 मम्मटभट्टा (मू पा टि)

4 हे (मू पा टि)

5 हे (मू पा टि)

6 हे (मू पा टि)

7 हे (मू पा टि)

8 पर्वतसम्बन्धिनी (मू पा टि)

9 गिरीसुताका०

मद्याराधनतोषितेन विभुना युष्मत्सपर्यासुखा—
लोकोच्छेदिनि मोक्षनामनि महामोहे निधीयामहे ।। 332 ।।

अत्र महामोहे सुखालोकोच्छेदित्व क्रममुक्तरूपत्वे हेतु ।

"अनुमितिकरणत्वेन सामान्यविशेषभावाभ्यामनालिङ्गित प्रकृतार्थोपपादकत्वेन विवक्षितोऽर्थ काव्यलिङ्गमिति जगन्नाथ ।

" वैचित्र्यात्मनो विच्छित्तिविशेषस्याभावात्काव्यलिङ्ग नालङ्कार " इति कश्चित् ।[1]

इति काव्यलिङ्गम् ।। 44

43 सार—

जहाँ उत्तरोत्तर का उत्कर्ष वर्णित हो वह सार नामक अलकार होता है ।।सू 172।।

जैसे—पृथ्वी का सार महल, महल मे पलग, वहाँ (पलग का भी सार) वरागना है ।

अथवा जैसे—महत्तत्व से अव्यक्त प्रकृति श्रेष्ठ है, अव्यक्त प्रकृति से पुरुष श्रेष्ठ है, पुरुष से श्रेष्ठ कुछ नही है । वही (पुरुष) चरमसीमा है, वही परमगति है ।।329।।

सार नामक अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ।।43

44 काव्यलिङ्ग—

हेतु के वाक्यार्थता, एक पदार्थरूप और अनेक कथन रूप होने पर काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है, यह विद्वान् (मम्मट भट्ट) का कहना है ।।सू 173।।

उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये उदाहरण ही दिये जा रहे हैं—

हे शिव ! इस शरीर के उत्पन्न होने से यह अनुमान हो जाता है कि पूर्वजन्म मे (मैंने) प्राय कभी भी आपको प्रणाम नही किया । अब (इस जन्म मे) प्रणाम करने से मैं मुक्त हो जाऊँगा, अत शरीर नहीं रहने से आगे जन्म मे भी प्रणाम नहीं कर सकूँगा । इसलिये हे महेश ! (मेरे) इन दोनो अपराधो को क्षमा करना । (यहाँ अपराधद्वय का हेतु "पुरा जन्मनि भवन्त न प्रणतवान्" और "अग्रेऽप्यनतिभाक्" इन दोनो का वाक्यार्थ है, अत काव्यलिङ्ग का उदाहरण है ।।330।।

---

1 कश्चिदिति ग्रन्थकार (मू पा टि)

(हेतु के) अनेकपदार्थरूप होने पर (काव्यलिङ्ग का उदाहरण)—

(भवभूति के "मालतीमाधव" मे माधव का कथन—) जो (मालती) स्नेही सखियो के द्वारा क्रीडा मे परिहास से फेंके गये कोमल शिरीष पुष्पो की चोट से ही व्याकुल हो जाती है, उसके शरीर पर वध के लिये शस्त्र उठाने वाले तुम्हारे सिर पर अनायास ही यमदण्ड के सदृश यह (मेरा) हाथ गिरे। (यहाँ भुजपात का हेतु "वपुषि शस्त्रमुपक्षिपत"—ये अनेक पद हैं। मुख्य क्रिया के अभाव मे ये पद वाक्य नही है। अनेकपदार्थरूप मे हेतु होने से तथा शस्त्र उठाना भुजपात मे हेतु होने मे यह काव्यलिंग का उदाहरण है।) ॥331॥

(हेतु के) एक पदार्थरूप होने पर (काव्यलिंग) जैसे—

हे भस्मलेपन ! आपका कल्याण हो। हे रुद्राक्षमाला ! तुम्हारा शुभ हो। हाय पार्वती के सुन्दर भवन की अलकरणभूत सीढियो ! (तुम्हारे प्रति खेद है।) आज आराधना से सन्तुष्ट हुए शिवजी तुम सबकी सेवा के सुखरूपी प्रकाश को नष्ट कर देने वाले मोक्षनामक महान्धकार मे हम सबको डाले जा रहे हैं (अत सबसे विदा माँग रहे हैं ॥332॥

यहाँ महामोह मे सुख के प्रकाश का नाशकत्व क्रमभुक्तरूपत्व हेतु है, अत काव्यलिंग अलङ्कार है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्यलिंग का लक्षण दिया है— जो अनुमिति के कारणरूप से और सामान्य एव विशेष मे युक्त न हो, ऐसे प्रस्तुत अर्थ के उपपादक (सयुक्तिक सिद्ध करने वाले) के रूप मे विवक्षित अर्थविशेष काव्यलिंग अलङ्कार है।

किसी ग्रन्थकार का कथन है कि विचित्रतारूप विच्छित्ति विशेष(कविप्रतिभा से निर्मित होने के कारण उत्पन्न चमत्कार-विशेष) का अभाव होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार नही है।

काव्यलिंग अलकार का निरूपण समाप्त हुआ ॥44

सामान्येन विशेषो यत्र विशेषेण सामान्य ।
[76अ] उभय समर्थ्यमान क्रमेणार्थान्तर(रन्यास ॥सू 174॥

यथा गङ्गाधरे—

करिकुम्भतुलामुरोजयो क्रियमाणा कविभिर्विशृङ्खलै ।
कथमालि शृणोषि सादर विपरीतग्रहणा हि योषित ॥333॥

अत्र सवोघ्य भ्रान्तत्वरूपस्य विशेपस्य सामान्य समर्थकम् । यथा वा ममैव—

हरिपदनक्षता वदन्ति लोका
शशिनि यथा क्रममुद्गते तरुस्य ।
यदि तव हृदि निश्चयस्तथा चे-
त्किमु न विवेकवहिष्कृता वदन्ति ।।334।।

आपद्गतोऽपि गुणवान् परोपकार न जातु सत्यजति ।
अपि [1]मूर्च्छितोऽपि रोगानपहरति रस प्रसिद्धमिदम् ।।335।।

अत्रापद्गतगुणवत् कर्तृकोपकारस्य सामान्यस्य मूर्च्छितपारदकर्तृ-रोगापहरणरूपविशेपसमर्थ्यत्वम् ।

इत्यर्थान्तरन्यास ।।45

अनुमितिकरण तत्रानुमानमेके वदन्ति बुधा [2] ।। सू 175 ।।

यथा—

अस्या कोऽपि विलासो मनसो[3] दृशश्च चपलत [य]ा व्यक्तम् ।

यथा वा—

[77अ] रिपुकुलतमोऽविनष्ट[4] दरविकशितमेति साधुहृन्नलिनम् ।
तन्मन्ये क्षितिपाल[5] प्रभातमुपयाति ते प्रतापरवि ।।336।।

इत्यनुमानम् ।। 46

45 अर्थान्तरन्यास—

जहाँ सामान्य के द्वारा विशेप अथवा विशेप के द्वारा सामान्य, दोनो का दोनो प्रकार से समर्थन किया जाये, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलकार होता है ।। सू 174 ।।

जैसे "रसगङ्गाधर" का उदाहरण—

---

1 मूर्द्धि०
2 वुधा
3 नमि
4 ०निष्ट
5 हे (मू पा टि)

हे सखि ! उच्छृङ्खल कवियों के द्वारा की जाने वाली हाथी के कुम्भ से अपने स्तनों की तुलना को आदरपूर्वक किस प्रकार सुनती हो ? निश्चय ही स्त्रियाँ विपरीतज्ञानयुक्त (भ्रान्त) होती हैं ।। 333 ।।

यहाँ सबोध्य (स्त्री विशेष) की भ्रान्तिरूप विशेष का सामान्य (स्त्रीत्वहेतुक भ्रान्ति) के द्वारा समर्थन किया गया है । अथवा जैसे मेरा (हरिप्रसादरचित) ही उदाहरण है—

जैसे पेड़ों से क्रम से चन्द्रमा के उदित होने पर लोग उसे हरि के पद के नख का प्रकाश कहते है । यदि तुम्हारे हृदय में भी ऐसा ही निश्चय हो तो विवेक से रहित लोग क्या नहीं कहते ? ।। 334 ।।

गुणवान् व्यक्ति आपत्तिग्रस्त होने पर भी कभी भी परोपकार को नहीं छोड़ता । मूच्छित होकर भी पारा रोगों को दूर करता है, यह प्रसिद्ध है ।।335।।

यहाँ आपत्तिग्रस्त गुणयुक्त व्यक्ति के द्वारा किये गये उपकाररूप सामान्य का, मूच्छित पारे के द्वारा किये गये रोगों के अपहरणरूप विशेष के द्वारा समर्थन किया गया है ।

अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ।। 45

46 अनुमान—

अनुमितिरूप (ज्ञानविशेष) का असाधारण कारण अनुमान कहलाता है, ऐसा विद्वान् कहते हैं ।। सू 175 ।।

उदाहरण जैसे—

इस (नायिका) का कोई विलास है जो मन और नेत्रों की चपलता से व्यक्त हो रहा है ।

अथवा अन्य उदाहरण—

हे पृथ्वीपालक ! शत्रुकुलरूपी अन्धकार नष्ट हो गया, सज्जन हृदय रूपी कमल थोड़ा विकास प्राप्त कर रहा है । इस कारण से मैं मानता हूँ कि आपका प्रतापरूपी शुभ प्रभात की ओर अग्रसर हो रहा है ।। 336 ।।

(उक्त पद्य में 'जब सूर्य प्रभातोन्मुख होता है तो अन्धकार का नाश होता है और कमल विकसित होता है", इस व्याप्ति के आधार पर राजा के प्रताप—सूर्य की प्रभातोन्मुखता के साथ अन्धकार आदि की व्याप्ति निश्चित होती है। तब "अभी आपका प्रताप-सूर्य प्रभातोन्मुख है क्योंकि शत्रुकुल रूपी अन्धकार नष्ट हो गया है

और सज्जन रूपी कमल का विकास हो गया है" इस प्रकार की अनुमिति होती है। अतः यहाँ अनुमान अलङ्कार है।)

अनुमान अलङ्कार समाप्त हुआ ।।46

अर्थानां सम्बन्धो भवति यथासंख्यमेव तथा[1] ।। सू. 176 ।।

यथा—

अतियौवनेन शङ्कितमनिरूपेणापि लुब्धमबलाया[2] ।
त्वामवलोक्य दृगब्जं सङ्कुचितं भवति फुल्लं च ।।337।।

यथा वा—

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति ।।338।।

यथा वा—

द्रुमपङ्कजविद्वांसः सर्वसन्तोषपोषकाः ।
मुधं वहन्त हन्यन्ते कुठारहिमदुर्जनैः ।।339।।

इति यथासंख्यम् ।।47

आधेयमेकमुक्तं यत्रानेकाधिकरणेषु ।
तद्विपरीतं[3] चान्यं पर्यायं कीर्तितं कविभिः ।।सू 177।।

आद्यं यथा—

क्रीडित्वा जलधौ क्षणं शशिमुखे स्थित्वाथ विष्णोः पुन-
र्याता वक्षसि कौतुकेन महता पद्मेषु लीलावती ।
भ्रान्त्वाऽस्मिन् भुवने बहु क्षितिपते ते पाणिपद्मेऽधुना
विश्रान्तिं भजते रमा त्रिजगतामेकाभिरामाकृते ।।340।।

यथा वा—

[77ब] आलोचयितुं A लोकानवतीर्णा भारती भुवनम् ।
सुरसिद्धकविमुखेषु भ्रान्ता त्वयि वसति सुखवासम् ।।341।।

---

1 यथासंख्यालङ्कार इत्यर्थं (मू. पा. टि.)

2 ॰मबलायाः

3 एकाधिकरणेऽनेकाधेयेऽन्यो भेदः (मू. पा. टि.)

द्वितीयो यथा—

> अनुभूय कमलकोरकमालिङ्ग्य च कन्दुकं विलङ्घ्य घटम्।
> अधुना करिकुम्भरुचि रुचिरामालम्बते कुचद्वन्द्वम् ॥342॥

यथा वा—

> विदूरादाश्चर्यस्तिमितमथ किञ्चित्परिचया-
> दुदञ्चच्चाञ्चल्यं तदनु परितः स्फारितरुचि।
> गुरूणां संघाते सपदि मयि याते[1] समजनि
> त्रपाघूर्णत्तारं नयनयुगमिन्दीवरदृशः ॥343॥

इति पर्याय ॥48

47 यथासंख्य—

अर्थों का सम्बन्ध यथासंख्य (संख्या के अनुसार ही) होने पर यथासंख्य अलंकार होता है ॥सू 176॥

उदाहरण जैसे—

तुम्हारी अत्यन्त युवावस्था से शंकित और अत्यन्त सौन्दर्य से लुभाया गया युवती का नेत्रकमल तुमको देखकर संकुचित और प्रफुल्लित हो रहा है॥337॥

(यहाँ संकोच और प्रफुल्लन ये दो क्रियाएँ हैं और नेत्रकमलरूप कर्ता के दो विशेषण हैं। प्रथम क्रिया 'संकोच' का प्रथम विशेषण 'अतियौवनेन शंकितम्' से युक्त कर्ता के साथ तथा द्वितीय क्रिया 'फुल्ल' का द्वितीय विशेषण 'अतिरूपेणापि लुब्धम्' से युक्त कर्ता के साथ अन्वय होता है। अभिप्राय यह है कि अतियौवन से शंकित होने के कारण युवती के नेत्रकमल प्रफुल्लित होते हैं, इस प्रकार क्रमानुसार अन्वय होने से यथासंख्य अलंकार है।)

अथवा अन्य उदाहरण—

(क्रमशः) तृण, जल और सन्तोषयुक्त वृत्तिवाले मृग, मछली और सज्जनों के शिकारी, धीवर, (मछली मारने वाला) और दुर्जन संसार में बिना कारण ही बैरी होते हैं। (यहाँ मृग आदि का तृण आदि तथा लुब्धक आदि के साथ क्रमशः अन्वय होने से यथासंख्य अलङ्कार है।) ॥338॥

अथवा अन्य उदाहरण—

---

1 प्राप्ते (मू पा टि)

खेद है कि सबके सन्तोष के पोषक वृक्ष, कमल और विद्वान् (क्रमश) कुठार, पाला और दुर्जनों के द्वारा व्यर्थ ही मारे जाते हैं। (उक्त पद्य में भी द्रुम आदि का कुठार आदि के साथ अन्वय होने से यथासंख्य है।) ॥339॥

यथासंख्य अलङ्कार का प्रकरण समाप्त हुआ ॥47

48 पर्याय—

जहाँ अनेक अधिकरणों में एक आधेय ही कहा गया हो (तो एक प्रकार का) और इसके विपरीत (एक अधिकरण में अनेक आधेय कहे गये हों तो) कवियों ने अन्य (दूसरे प्रकार का) पर्याय कहा है ॥सू 177॥

प्रथम भेद, जैसे—

हे पृथ्वीपते! लक्ष्मी समुद्र में क्रीडा करके, क्षणभर चन्द्र-मुख में स्थित होकर, फिर विष्णु के वक्षस्थल पर चली गयी। महान् कौतुक से कमलों पर क्रीडा करती हुई इस पृथ्वी पर बहुत भ्रमण करके (वही लक्ष्मी) अब तीनों लोकों में एकमात्र अभिराम आकृति वाले आपके करकमल में विश्राम कर रही है। (उक्त पद्य में समुद्र आदि अनेक अधिकरणों में लक्ष्मीरूप एक आधेय की क्रमिक स्थिति का वर्णन होने से पर्याय का प्रथम भेद है।) ॥340॥

अथवा अन्य उदाहरण—

भारती (वाणी) लोकों (देवलोक, भूलोक आदि) को देखने के लिये पृथ्वी पर अवतीर्ण हुयी। देवताओं और सिद्ध व्यक्तियों के मुखों में (उसने) भ्रमण किया। (अब) सुख के निवास स्थानभूत तुम में निवास कर रही है। (यहाँ भी भुवन आदि अनेक अधिकरणों में भारतीरूप एक आधेय की क्रमिक स्थिति का वर्णन होने से पर्याय अलंकार का प्रथम भेद ही है।)॥341॥

द्वितीय भेद का उदाहरण, जैसे—

स्तनद्वय ने कमल-कली का अनुभव करके, गेंद का आलिंगन करके, घट को लाँघकर, अब हाथी के कुम्भ की उज्ज्वल शोभा का आलम्बन ले लिया। (यहाँ कुचद्वय एक अधिकरण में लघु, गुरु और गुरुतर परिणामरूप आधेयों का क्रमिकत्व होने से पर्याय का द्वितीय भेद है) ॥342॥

अथवा दूसरा उदाहरण—

(विदेश से लौटने वाले नायक का अपने मित्र के प्रति कथन—) कमल के सदृश नेत्रों वाली नायिका के नेत्र-युगल दूर से मुझे देखकर आश्चर्ययुक्त हो गये,

फिर (मुझे) कुछ पहचान लेने पर उनमे चञ्चलता प्रादुर्भूत होने लगी, इसके पश्चात् (मुझे) पहचान लेने पर नेत्रों की कान्ति चारों ओर फैल गयी। फिर तुरन्त गुरुजनों के समूह में जहाँ वह (नायिका) बैठी थी मेरे उपस्थित होने पर उसकी आँखों की पुतलियाँ लज्जा से घूमने लगी। (यहाँ नयनयुगलरूप एक अधिकरण में स्तिमितता, चापल्य आदि आधेयों की स्थितियों का क्रमश वर्णन होने से द्वितीय प्रकार का पर्याय अलंकार है)।।343।।

पर्याय अलंकार का प्रकरण समाप्त हुआ ।।48

परिवृत्तिर्विनिमयत, समेन विषमेण च द्विधा भवति ।।सू 178।।

परकीययत्किञ्चिद्वस्त्वादानविशिष्टस्वीययत्किञ्चिद्वस्तुसमर्पण परिवृत्तिरित्यर्थ । समपरिवृत्तिर्यथा—

दत्वाङ्ग हेमाङ्गि प्राण क्रीणासि तद्युक्तम् ।

इयमुत्तमन्यूनभेदने द्विधा । न्यून यथा—

अस्थिमालामयी[1] दत्वा[2] मुण्डमालामयी[3] तनुम् ।
गृह्णता त्वत्पुरस्थाना[4] को लाभ स्मरशासन[5] ।।344।।

विषमेण यथा—

दत्वा गुरुमात्मान लघुकुचमङ्गीकरोति हरिणदृश[6] ।
[78अ] तस्मै A धैर्याय नमो यूनामन्तर्विवेकविकलाय ।।345।।

तत्रापि द्वितीया यथा—

किमहं कथयामि योषितामधर बिम्बफल समर्प्य या ।
सुरसानि हरन्ति हन्त हा विदुषा पुण्यफलानि सत्वरम् ।।346।।

इति परिवृत्ति ।।49

49 परिवृत्ति—

विनिमय (वस्तु के बदले वस्तु के लेन-देन) से परिवृत्ति अलंकार होता है। परिवृत्ति दो प्रकार की होती है—समपरिवृत्ति और विषमपरिवृत्ति ।।सू 178।।

---

1 प्राकृततनु (मू पा टि)
2 दत्वा
3 ऐश्वरीं तनु (मू पा टि)
4 सेवकाना (मू पा टि)
5 हे (मू पा टि)
6 मृगनेत्राया (मू पा टि)

दूसरे की किसी वस्तु को लेकर उसके बदले अपनी किसी वस्तु का (उसके लिये) समर्पण परिवृत्ति अलकार होता है, यही अभिप्राय है। समपरिवृत्ति का उदाहरण जैसे—

हे स्वर्ण के सदृश अगोवाली ! (तुम अपने) अग देकर (मनुष्य के) प्राण खरीद लेती हो, यह उचित ही है। (उक्त पद्य मे अग और प्राण का मूल्य समान होने से समपरिवृत्ति का उदाहरण है।)

यह (समपरिवृत्ति) उत्तम और न्यून भेद मे (अर्थात् उत्तम वस्तुओ से उत्तम वस्तु की परिवृत्ति तथा न्यून वस्तुओ से न्यून वस्तु की परिवृत्ति होने पर) दो प्रकार की होती है।

(समपरिवृत्ति मे उत्तम से उत्तम परिवृत्ति "दत्वाङ्ग" इत्यादि उदाहरण मे बता दी गयी है क्योकि अग और प्राण दोनो ही उत्तम पदार्थ हैं। अब) न्यून वस्तु से न्यून वस्तु की परिवृत्ति का उदाहरण जैसे—

हे स्मरशासन (शिव) ! अस्थिमालामय शरीर को(प्राकृत शरीर) को देकर मुण्डमालामय शरीर को ग्रहण करने वाले तुम्हारे सेवको को क्या लाभ हैं ? (यहाँ अस्थिमय शरीर और मुण्डमालामय शरीर दोनो समान हैं। अत न्यून से न्यून का क्रयरूप समपरिवृत्ति है।) ॥ 344 ॥

विषम परिवृत्ति का उदाहरण जैसे—

अपने गुरु (धारमा) को देकर मृग-सदृश नेत्रोवाली के लघु कुच को स्वीकार करने वाले युवको के अन्तर्विवेकरहित उस धैर्य को नमस्कार है ॥ 345 ॥

(विषम परिवृत्ति के भी दो भेद होते है—उत्तम वस्तुओ से न्यून की परिवृत्ति और न्यून वस्तुओ से उत्तम की परिवृत्ति। यहा उपर्युक्त श्लोक मे उत्तम से न्यून क्रयरूप होने से विषम परिवृत्ति का प्रथम भेद है।) यहाँ (विषम परिवृत्ति के) भी द्वितीय भेद का उदाहरण है—

मैं स्त्रियो को क्या कहूँ, जो अधर (निकृष्ट, दन्तच्छेदरूप) बिम्बफल का समर्पण करके खेद है कि विद्वानो के सुरस (रसीले, स्वर्ग-सुखद) पुण्यफलो (पवित्र फलो, पुण्य के फलो) का शीघ्र ही हरण कर लेती हैं। (यहाँ न्यून वस्तु से उत्तम वस्तु का क्रय रूप होने से विषम परिवृत्ति का द्वितीय भेद है।)॥346॥

परिवृत्ति अलङ्कार-निरूपण समाप्त हुआ ॥ 49

परिसख्या सामान्यप्राप्ते व्यावृत्तिरन्यतो भवति ॥ सू 179 ॥

यथा—

यद्यासेवितुमिच्छा सेवस्य तदा गुरोश्चरणम् ।

अत्र यदिपदनिवेदितस्य[1] रागप्राप्तसेवनस्य सेवस्वेति विषयान्तरे तत्तत्क्रियाकर्मव्यावृत्तिस्तात्पर्यविषयतया कल्प्यत इय चार्थी शुद्धा ।

अत्र निरुक्तलक्षणाक्रान्तत्वान्नियमोऽपि परिसख्यैव । तथाहि वैयाकरणाना पाक्षिकप्राप्तियुगपत्प्राप्तिरूपस्यावान्तरविशेषस्याविवक्षया परिसख्यासिद्धनियमशब्देनोच्यते । "कृत्तद्धितसमासाश्चे"ति सूत्रे समासग्रहण नियमार्थमित्यन्यथा नोपपद्येत समासे तदुभयविधेरभावात् । युगपद्धि समाससमासेतरपदसघातयोरर्थवत्सूत्रप्राप्त्या परिसख्यासिद्धे ।

[78व] पूर्वतन्त्रे भेदनिर्देशा ʌ त् यदुक्तम्—

विधिरत्यन्तप्राप्ते नियम पाक्षिके सति ।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तो[2] परिसख्येति गीयते ।।

तत्र यागादे [3]प्रकारान्तरेणाप्राप्तौ विधि "स्वर्गकामो यजेते"-त्यादि ।

50 परिसख्या—

अन्य (विशेष) को सूचित करने के लिये सामान्यरूप से प्राप्त वस्तु का निषेध परिसख्या अलकार होता है ।। सू 179 ।।

जैसे—

यदि सेवा करने की इच्छा है तो गुरु के चरणो की सेवा करो ।

यहाँ "यदि" पद के द्वारा कथित राग द्वारा प्राप्त सेवन का "सेवन करो" इस अन्य विषय में उन-उन क्रियाओ की कर्मकारकता की निवृत्ति तात्पर्य-विषय (वक्ता के अभीष्ट) के रूप में कल्पित की जाती है । यह परिसख्या (अर्थत प्राप्त होने से) आर्थी (और प्रश्नपूर्वक न होने से) शुद्धा है ।

(मीमासको के अनुसार नियम और परिसख्या दो अलग-अलग तत्त्व हैं पर) यहाँ निरुक्त-लक्षण से आक्रान्त होने के कारण नियम भी परिसख्या ही है । क्योंकि पाक्षिक प्राप्ति और युगपत् (साथ-साथ) प्राप्ति रूप अवान्तर भेद को न

---

1 • निवेदितस्य

2 •प्तौ

3 प्राका•

मानने के कारण वैयाकरणों के मतानुसार परिसंख्या भी सिद्ध नियम शब्द से कही जाती है। "कृत्तद्धितसमासाश्च" सूत्र से समास का ग्रहण नियम करने के लिये है। इसलिये अन्यथा यह उपपन्न नहीं हो सकता क्योंकि समास में उन दोनों विधियों का अभाव होता है। क्योंकि एक साथ ही समास तथा समास के अतिरिक्त अन्य पद-समूह (वाक्य) को "अर्थवत्" इत्यादि सूत्र से संज्ञा प्राप्त होती है अतः परिसंख्या शब्द से व्यवहार करना उचित था। (इस प्रकार वैयाकरण भी परिसंख्या व नियम में भेद नहीं मानते।)

पूर्वतन्त्र (मीमांसा) में (नियम और परिसंख्या का) भेदनिर्देश करते हुए कहा गया है—

सर्वथा अप्राप्त में अपूर्व विधि, वैकल्पिक (पाक्षिक) प्राप्ति में नियम विधि और उसमें तथा अन्य में प्राप्त होने पर(वर्जन को) परिसंख्या (विधि) कहा जाता है।

यहाँ यज्ञ आदि के अन्य प्रकार से प्राप्त नहीं होने के कारण "स्वर्ग चाहने वाला यज्ञ करे" इत्यादि वाक्य अपूर्व विधि का उदाहरण है।

पुरोडाशनिर्माणफलोपघायकतावच्छेदककोटिप्रविष्टाया वितुषताया सम्पादकत्वेनावहननस्य प्राप्तेर्नखविदलनसमवधानकालावृत्तित्वेन च पाक्षिकत्वात् व्रीहीनवहन्यादिति नियमः।

"इमामगृभ्णन्[1]नि"त्यत्र रसनाग्रहणलिङ्गेनाश्वाभिधानीं गर्दभाभिधान्योर्ग्रहणस्य युगपत्प्राप्तत्वात्।

इत्यलं परमर्मोद्घाटनेन।

> किं तीर्थं गुरुपादसेवनमथो रत्नं किमिन्दीवर—
> श्यामा चेतसि संस्थिता भगवती श्यामैव सर्वाश्रयः।
> किं मित्रं सहजोपकाररसिकं शास्त्रं किमंशागमः
> का विद्या परतत्त्वबोधनपरा कोऽरिर्मनोभूर्नृणाम् ॥ 347 ॥

इयं त्वार्थी।

> तीर्थं भानुसुता जलं तदितरद्दृबोऽपि तस्याः पति—
> स्तस्माद्वै प्रथिताः परे मखभुजस्तूद्देशमात्रं स्थिताः।

---

1 ०गृभ्णन्नि०

[79 अ] वृन्दारण्यमर ᴧ व्यमन्यदुदित सघातमात्र तरो—
[1]रद्रिर्गोपकुटुम्बि[2]नीपरिचित पाषाणमात्र परे ॥ 348 ॥

अत्र तु शाब्दी प्रश्नपूर्विका च ।
इति परिसंख्यालङ्कार ॥ 50

("व्रीहीन् वहन्ति"—व्रीहि-धानविशेष कूटता है, इस वाक्य मे) पुरोडाश (हवन के लिये विशेष विधि से पकाया हुआ अन्न) निर्माणरूप फल का साधन वितुष (भूसी-रहित) व्रीहि है, अतएव पुरोडाश के निर्माण के लिये व्रीहि की वितुषता अपेक्षित है और वितुषता के सम्पादकरूप से ("व्रीहिनवहन्ति" इस वचन द्वारा व्रीहि का) अवहनन (ऊखल-मूसल से कूटना) प्राप्त होता है और नख-विदलन (नखों से वितुष बनाना) सम्भव नही होने से अवहनन की यह प्राप्ति पाक्षिक है, अत "व्रीहिन् वहन्ति"(व्रीहि को कूटता है, यह वचन नियम करता है कि "अवहनन द्वारा ही व्रीहि को वितुष बनाना चाहिये"अत)ये नियम विधि है।

(परिसंख्या विधि का उदाहरण दिया जा रहा है–) "इमामगृभ्णन् रशना-मृतस्य" इस मन्त्र मे रस्सी ग्रहण रूप लिङ्ग से घोडे और गदहे दोनो का रस्सी पकडना एक साथ प्राप्त होता है, उसमे से "अश्व रस्सी पकडने के अतिरिक्त अन्य किसी के रस्सी पकडने का वर्णन" इस वाक्य से सिद्ध होता है।

अन्य अप्रकृत विषय (परधर्म के उद्घाटन) पर विचार करना व्यर्थ है। (परिसख्या के चार भेद हो जाते हैं। सर्वप्रथम दो भेद हैं-शुद्धा अर्थात् प्रश्नरहिता और प्रश्नपूर्विका। इन दोनो ही भेदो के शाब्दी और आर्थी भेद होने पर कुल चार भेद हो जाते हैं। इनमे से आर्थी शुद्धा का उदाहरण "यद्यासेवितु" इत्यादि दिया जा चुका है। शाब्दी शुद्धा का उदाहरण यहाँ नही दिया गया। अन्य दो भेदो के उदाहरण हैं—)

तीर्थ क्या है ? गुरु चरणो की सेवा करना। रत्न क्या है ? मन मे स्थित नीलकमल के समान श्याम, सबकी आश्रयभूता भगवती श्यामा ही। मित्र कौन है ? जो अनायास ही उपकार मे रसिक हो। शास्त्र क्या है ? ईश्वरीय ज्ञान। विद्या क्या है ? परतत्त्व बोधन मे परायण। मनुष्यो का शत्रु कौन है ? मनोभव काम ॥ 347 ॥

---

1 गोवर्द्धनो गिरि (मु पा टि)
2 कुटम्बिनीपरिचित

(गुरु-चरणों की सेवा करना ही तीर्थ है, अन्य नहीं, यह अर्थ तात्पर्यमर्यादा से प्रतीत होने के कारण) यह आर्थी परिसंख्या है (और प्रश्नपूर्विका होने से प्रश्न-पूर्विका है।)

तीर्थ यमुना है, उससे भिन्न अन्य जल है। देव (भगवान् कृष्ण) भी उसके पति (यमुनापति) हैं। उनसे अन्य प्रसिद्ध देवता तो स्थल-विशेष (स्वर्ग) में ही स्थित हैं। वृन्दारण्य ही अरण्य है, अन्य (अरण्य)तो वृक्षों का समूहमात्र हैं। गोप-स्त्रियों से परिचित गोवर्धन ही पर्वत है, अन्य पर्वत पाषाणमात्र हैं।। 348।।

(यहाँ शब्दतः ही तीर्थ आदि का निषेध प्रतीत होने से शाब्दी और प्रश्न नहीं रहने से शुद्धा है)। इस प्रकार यहाँ शाब्दी और प्रश्नपूर्विका का वर्णन किया गया है।

परिसंख्यालङ्कार का विवरण समाप्त हुआ।। 50

अर्थापत्ति: केनचिदर्थेनार्थस्य सैव भवेत्।। सू 180।।

सा[1] च प्रकृतेनाप्रकृतस्याप्रकृतेन प्रकृतस्य प्रकृतेन प्रकृतस्याप्रकृतस्या-प्रकृतेनेति चतुर्धा। आद्या यथा गङ्गाधरे—

[2]लीलालुण्ठितशारदापुरधियामस्मादृशानां पुरो।
विद्यासद्मविनिर्गलत्कणमुजो वल्गन्ति [3]चेद्बालिशा:।।
अद्य श्वः फणिनां शकुन्तशिशवो दन्तावलानां शशा:।
सिंहानां च सुखेन मूर्धनि पदं धास्यन्ति शालावृका:[4]।। 349।।

द्वितीया यथा—

धृतधनुषि बाहुशालिनि शैला न नमन्ति यत्तदाश्चर्यम्।
रिपुसंज्ञकेषु गणना कैव वराकेषु काकेषु।। 350।।

इयं च दण्डापूपिकयार्थापतनरूपेति सर्वस्वकारः।
इत्यर्थापत्तिः।। 51

---

1 अर्थापत्ति: (मू. पा. टि.)
2 लीलालुण्टि॰
3 चेद्वा॰
4 एडका: (मू. पा. टि.)

5। अर्थापत्ति—

किसी एक अर्थ से किसी दूसरे अर्थ की आपत्ति (उपस्थिति) अर्थापत्ति होती है ॥ सू 180 ॥

वह अर्थापत्ति चार प्रकार की होती है—(1) प्रकृत से अप्रकृत अर्थ, (2) अप्रकृत से प्रकृत अर्थ, (3) प्रकृत से प्रकृत और (4) अप्रकृत से अप्रकृत अर्थ की आपत्ति। प्रथम भेद का उदाहरण, जैसे—"रसगङ्गाधर" मे—

सरस्वती-नगर के ज्ञान को सरलता से लूटने वाले(प्रगाढ विद्वान्) हम जैसो के सामने यदि विद्यामन्दिर मे गिरते हुये कणो को खाने वाले मूर्खजन डींग मारते है तो आज या कल साँपो के सिर पर पक्षियों के शिशु, हाथियो के सिर पर खरगोश और सिंहो के सिर पर भेडें आसानी से पैर रखेंगी ॥ 349 ॥

(उक्त पद्य मे विद्वान् और मूर्ख का वृत्तान्त प्रकृत है जिससे सर्प-पक्षिशिशु, हाथी-खरगोश तथा सिंह-भेड रूप अप्रकृत वृत्तान्त की आपत्ति होने से अर्थापत्ति है।)

द्वितीय (अन्य अर्थापत्ति का उदाहरण) जैसे—भुजदण्ड से सुशोभित राजा के द्वारा धनुष धारण कर लेने पर पर्वत नहीं झुकते तो आश्चर्य की क्या बात है। रिपुगणक होने पर बेचारे शत्रु की गणना क्या है ॥ 350 ॥

(यहाँ पर्वतो का अप्रकृत वृत्तान्त शत्रुओ की स्थिति का अर्थबल से आक्षेप कर लेता है। जब पर्वत ही झुक जाते है तो फिर शत्रुओ का तो झुक जाना स्वत सिद्ध है।)

अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक का कहना है कि—दण्डपूपिका[1] से दूसरे अर्थ का आपादन (सिद्धि) यह अर्थापत्ति है।

अर्थापत्ति का प्रकरण समाप्त हुआ ॥ 5।

तुल्यबलयोर्विरोधे विकल्पः विकल्पमवयन्ति[2] ॥ सू 181 ॥

[79 क] नमता शिरो धनुर्वा भवतां युद्धाय सस्थितो राम ॥ A

---

1 दण्डपूपिका वह तर्कप्रणाली है जिसके अनुसार आधेयरूप वस्तु उसी प्रकार स्वत सिद्ध मानी जा सकती है, जिस प्रकार किसी डंडे के गायब हो जाने पर उसमें बंधे हुए मालपुए का भी गायब हो जाना।

2 जानन्ति (मू पा टि)

यथा वा—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम् ।

इति विकल्प ।। 52

इह खलु गुणक्रियाणां समुच्चयो यौगपद्यमथ ।। सू 182 ।।

एकस्य सिद्धिहेतौ तत्कर्तृत्वेऽन्यस्य तत्रान्य । क्रमेणोदाहरणम्—

उदिता जलधरमाला कालाञ्जनमेचक नभो भवति ।
बालाकपोलपाली लवलीफलपाकमाक्षिपति ।। 351 ।।

गङ्गाधरे—

उदित मण्डलमिन्दोरुदित सद्यो वियोगिवर्गेण ।
मुदित च सकलयुवजनचूडामणिशासनेन मदनेन ।। 352 ।।

आद्ये गुणाना इह तु क्रियाणा उभयत्रापि विभिन्नविषयत्वेनोदाहरणम् । एकाधिकरणत्वेन यथा—

हृदि त्वया विनिहित [1]विभ्राणा विरहाङ्कुरम् ।
भ्राम्यत्युल्लिखति प्राणान् शेते ताम्यति मूर्च्छति ।। 353 ।।
ताप शमयति सकृदपि यथा वीक्षित सुजन ।
कर्पूरयति दृशोर्मम तथा तथा कुमुदिनीबन्धु ।। 354 ।।

इति समुच्चय ।। 53

52 विकल्प—

समान बलवाले दो पदार्थों म विरोध होने पर पाक्षिक (जब एक प्राप्त हो तब दूसरा प्राप्त न हो ऐसी) प्राप्ति को विकल्प अलङ्कार कहते हैं ।। सू 181 ।।

सिर झुकाओ या धनुष, आपसे युद्ध के लिये राम स्थित हैं ।

(यहाँ सिर झुकाना और धनुष झुकाना परस्पर विरुद्ध हैं, पर सिर झुकाने पर धनुष नहीं झुकाना पडता और धनुष झुकाने पर सिर नहीं झुकाना पडता, इस रूप मे पाक्षिक प्राप्ति के रूप मे विकल्प अलकार है ।)

---

1 वि०

अथवा (भगवद्गीता का वाक्य) जैसे—

(रणभूमि में) मारे जाने पर स्वर्ग प्राप्त करोगे अथवा विजयी होकर पृथ्वी का भोग करोगे।

(यहाँ भी विरोध होने पर भी पाक्षिक प्राप्ति के रूप में विकल्प अलङ्कार है।

विकल्प अलंकार का विवेचन समाप्त हुआ ॥ 52

53 समुच्चय—

जहाँ गुण और क्रियाओं का एक साथ अन्वय होने पर समुच्चय अलङ्कार होता है ॥ सू 182 ॥

एक (कार्य) की सिद्धि का हेतु विद्यमान होने पर भी, उसके कर्तृत्व में अन्य साधन भी हो जाये वहाँ समुच्चय का अन्य भेद होता है।

क्रम से उदाहरण है—

मेघ माला उदित हो गई है, आकाश काले कज्जल के समान काला हो रहा है। बालिका का कपोलस्थल लवली फल के पाक (लेश)को धारण करता है। ॥ 351 ॥

रसगङ्गाधर में (दिया गया उदाहरण है)—

चन्द्रमण्डल उदित हुआ, उसके साथ ही वियोगीवग रो उठा और समग्र युवक शिरोमणियों का शासक कामदेव प्रसन्न हो गया ॥ 352 ॥

प्रथम (उदाहरण "उदिता जलधरमाला" इत्यादि में) गुणों का तथा इस ("उदित मण्डल" इत्यादि में) क्रिया का, दोनों उदाहरणों में ही विभिन्न विषय भिन्नधर्मियों में अन्वय होने से यह समुच्चय अलंकार का उदाहरण है।

एक ही अधिकरण का उदाहरण है—

हृदय में तुम्हारे द्वारा रखे गये विरहाङ्कुर को धारण करती हुई नायिका घूमती है, प्राणों को कष्ट देती है, सोती है, थक जाती है और मूर्च्छित होने लगती है ॥ 353 ॥

जैसे एक बार भी देखा गया सज्जन व्यक्ति ताप को शान्त करता है वैसे-वैसे कुमुदिनीबधु (चन्द्रमा) मेरी दृष्टि को कपूर की तरह शीतल करता है ॥354॥

समुच्चय अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ॥ 53

आकस्मिकान्यहेतो सौकर्यं सा समाधिरिह ॥ सू 183 ॥

अपहरति निशा मान समुदित एवाय पश्य शीतांशु ॥

[80अ] ए *A* ककारणजन्यस्य कार्यस्येत्यर्थ ।

इति समाधि ॥ 54

तत्प्रत्यनीकमुक्तं विपक्षसम्बन्धिनस्तिरस्कार ॥ सू 184 ॥

सोऽपि तदुत्कर्षाय सम्मतमेतत् कवीन्द्राणाम् ॥

प्रतिपक्षोत्कर्षार्थितिरस्कार । यथा गङ्गाधरे—

रे रे मनो मम मनोभवशासनस्य
पादाम्बुजद्वयमनारतमानमन्तम् ।
किं मा निपातयसि समृतिगर्त्तमध्ये
नैतावता तव गमिष्यति पुत्रशोक ॥ 355 ॥

अथ व्यङ्ग्यो यथा—

जटा नेयं वेणीकृतकचकलापो न गरलं
गले कस्तूरीयं शिरसि शशिलेखा न कुसुमम् ।
इयं भूतिर्नाङ्गे प्रियविरहजन्मा धवलिमा
पुरारातिभ्रान्त्या कुसुमशर किं मा प्रहरसि ॥ 356 ॥

अत्र विजेतव्ये पुरारातौ तद्धर्मसम्बन्धित्वेन मयि प्रहारो निष्फल[1] इतीममर्थं परिपोष [य] ताऽपह्नवगर्भितभ्रमेण व्यज्यते ।

इति प्रत्यनीकम् ॥ 55

54 समाधि—

जहाँ आकस्मिक अन्य कारण के आ जाने से (कार्य मे) सुकरता आ जाती है, वह समाधि अलकार होता है ॥ सू 183 ॥

(उदाहरण जैसे-) रात्रि मान को दूर कर रही है, अब उदित हुए चन्द्रमा को देखो ।

एक कारण से उत्पन्न होने वाले कार्य मे (आकस्मिक अन्य कारण आ जाने से कार्य सरलता से सम्पादित हो जाता है तब समाधि अलकार होता है), यह अभिप्राय है ।

---

1 ०ष्फल

("अपहरति" इत्यादि उदाहरण में रात्रि में ही मानभगरूप कार्य की सिद्धि हो सकती है, पर अनायास चन्द्रमा के उदय से उस कार्य की सिद्धि सरलता से हो जाती है, अतः समाधि अलंकार है।)

समाधि अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ ॥ 54

55 प्रत्यनीक—

विपक्ष (शत्रु) से सम्बन्धित (वस्तु या व्यक्ति) का तिरस्कार प्रत्यनीक अलङ्कार कहा जाता है ॥ सू 184 ॥

कविवृन्दों ने वह भी यह (तिरस्कार) उस (प्रतिपक्षी व्यक्ति) के उत्कर्ष के लिये माना है।

प्रतिपक्षी के उत्कर्ष के लिये जो तिरस्कार किया जाता है वह प्रत्यनीक है। उदाहरण 'रसगङ्गाधर' में—

अरे मेरे मन! कामदेव के शत्रु शिव के चरणकमलयुगल को निरन्तर नमन करने वाले मुझे क्यों संसार रूपी गड्ढे में गिरा रहा है? इससे तुम्हारा पुत्र शोक (कामदेव-दहन रूपी शोक) दूर नहीं होगा ॥ 355 ॥

(यहाँ अपने पुत्र कामदेव के शत्रु शिवजी का तिरस्कार करने में असक्त मन शिवजी से सम्बन्धित भक्त का तिरस्कार कर रहा है, अतः प्रत्यनीक अलंकार है।) वह व्यंग्य जैसे—

यह जटा नहीं है, वेणी के रूप में गूँथे हुए केशों का समूह है। यह विष नहीं है, गले में कस्तूरी है। यह सिर पर चन्द्रलेखा नहीं है, पुष्प है। अंग पर यह भस्म नहीं है, प्रिय के विरह से उत्पन्न धवलिमा है। हे कामदेव! शिव पर क्रोधित होने के कारण मुझ पर क्यों प्रहार करते हो? ॥ 356 ॥

यहाँ जीतने योग्य शिव हैं उनके धर्म से सम्बन्धित होने से मुझ पर प्रहार निष्फल है, इस अर्थ का परिपोषित करने वाली अपह्नुति से गर्भित भ्रम द्वारा व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है।

प्रत्यनीक अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ ॥ 55

उपमानस्याक्षेपः प्रतीपमथवोपमेयता भवति ॥ सू 185 ॥

कैमर्थ्यक्येणाक्षेपस्तदेक, उपमानतया प्रसिद्धस्योपमानान्तरप्रतिष्ठाप-[80ब]यिषया[1] अनादरार्थमुपमेयत्वं कल्प्यते तद्द्वितीयम्। आद्य यथा-

[1] ०ष्ठापयिषया

[1]आह्लादकारिणि दृशा ज्वलितप्रतापे
दातर्यतीव जनिते त्वयि वीर[2] धात्रा ।
इन्दु किमर्थमुदपादि कृत किमथ
भानु पुन किमिति करपतरु कृतोभूत् ॥ 357 ॥

अत्र तु आक्षेप प्रधानमित्युक्त प्राक् यथासख्योक्तिस्तु प्रामादिकी उपस्कारत्वाभावात् । अपर यथा—

[3]ए एहि दाव सुन्दरि कण्ण दाऊण सुणम् वअणिज्जम् ।
तुज्झ मुहेण किसोअरि चदो उवमिज्जइ[4] जणेण[5] ॥ 358 ॥

क्वचित्तु निष्पन्नमेवौपम्यमनादरकारणम् ।

गर्वमसम्भाव्यमिम लोचनयुगलेन किं वहसि भद्रे ।
सन्तीदृशानि दिशि दिशि सरस्सु ननु नीलनलिनानि ॥ 359 ॥

एवमेवोपमानस्योत्कृष्टगुणत्वेऽन्यस्योपमानत्वकल्पनमपि प्रतीपमेव । यथा—

रत्नाना निलय सुधाममुदय क्षोणीतलेर्द्धासन
गाम्भीर्येण पराश्रय सुविदितो मत्वेति मा गा मदम् ।
भो रत्नाकर ! तावकीयमहिमा[6]-निर्माणमर्वं सह
सम्प्रत्येष धरावलम्बिनपदो जागर्ति कूर्माधिप[7] ॥ 360 ॥

इति प्रतीपम् ॥ 56

---

1 आल्हाद०
2 हे (मू पा टि)
3 एहि तावत् सुन्दरि कर्णं दत्त्वा शृणु वचनीयम् (मू पा टि)
4 उपमीयते (मू पा टि)
5 अयि एहि तावत् सुन्दरि ! कर्णं दत्त्वा शृणुष्व वचनीयम् ।
तव मुखेन कृशोदरि ! चन्द्र उपमीयते जनेन ॥ इति संस्कृतम् ।
6 ग्धनेन्यपि पाठ (मू पा टि)
7 कच्छराडिति भाषा (मू पा टि)

56 प्रतीप—

उपमान का आक्षेप (अर्थात् उपमान की व्यर्थता का प्रतिपादन करना प्रथम प्रकार का प्रतीप अलंकार है) अथवा उसी उपमान को उपमेय बना दिया जाय तो (दूसरे प्रकार का) प्रतीप अलंकार होता है ।। सू 185 ।।

1 (उपमान की रचना) किसलिये की गयी, इस प्रकार से (उपमान पर) आक्षेप होने पर प्रथम प्रकार का प्रतीप अलंकार होता है ।

2 उपमानरूप से प्रसिद्ध का, दूसरे उपमान की प्रतिष्ठा कराने की इच्छा से, (प्रसिद्ध उपमान के) तिरस्कार के लिये उसकी उपमेयरूप में कल्पना कर ली जाये वह द्वितीय प्रकार का प्रतीप अलङ्कार होता है । प्रथम भेद का उदाहरण जैसे—

आह्लादकारी, नेत्रों से ज्वलित प्रतापरूप, अत्यन्त दानशील हे वीर ! विधाता ने आपको उत्पन्न करके चन्द्रमा को किसलिये उत्पन्न किया, किसलिये सूर्य और किसलिये कल्पवृक्ष को रचना की ? ।। 357 ।।

(इस पद्य मे आह्लादक आदि गुणों से युक्त राजा के होने पर चन्द्रमा आदि उपमानों की व्यर्थता सूचित की गई है अत) यहाँ आक्षेप प्रधान है यह पहले कहा जा चुका है । यथासंख्य रूप मे कथन तो प्रामादिक है क्योंकि वह आक्षेप का कोई उपकार नही करता । (प्रतीप अलंकार के) द्वितीय भेद का उदाहरण जैसे—

हे सुन्दरि ! इधर आओ । कान लगाकर इस निन्दावचन को सुनो । हे कृशोदरि ! लोग तुम्हारे मुख से चन्द्रमा की उपमा देते हैं ।। 358 ।।

(यहाँ मुखरूप उपमान के साथ जिसकी उपमा दी जा रही है उस उपमेय चन्द्रमा के तुम्हारे मुख की अपेक्षा न्यून गुणयुक्त होने के कारण यह उपमा ही नही बनती, इस प्रकार "वचनीय" पद में चन्द्रमा का तिरस्कार व्यंग्य है ।

कहीं पर उपमा की क्रिया का निष्पादन ही (प्रसिद्ध उपमान के) तिरस्कार का कारण होता है, जैसे—

हे भद्रे ! इस नेत्र-युगल पर इतना असम्भाव्य गर्व क्यों करती हो ? इस प्रकार के नीलकमल तो तालाबों में चारों ओर प्राप्त हो जाते हैं ।। 359 ।।

(कमल सदैव उपमानरूप मे ही प्रसिद्ध है । यहाँ कमलों को उपमेय बना देना ही उनका तिरस्कार है ।)

इसी प्रकार उपमान के उत्कृष्ट गुणत्व होने पर अन्य के उपमानत्व की कल्पना भी प्रतीप ही है, जैसे—

(मैं) रत्नो का जनक हूँ, अमृत को उत्पन्न करने वाला हूँ, पृथ्वीतल के आधे भाग पर मैं फैला हुआ हूँ, गाम्भीर्य के कारण शत्रुओ का आश्रय (शरण) स्थल हूँ—यह सुविदित है, ऐसा सोचकर अभिमान मत करो । हे रत्नाकर ! तुम्हारी महिमा के निर्माण को सर्वथा सहन करने वाले ये कूर्माधिप (कछवाहा नरेश) अब पृथ्वी पर चरणो को रखे हुए (धरा पर प्रतिष्ठित पद होकर) जाग रहे हैं । ॥ 360 ॥

(यहाँ रत्नाकर रूप उपमान के उत्कृष्ट गुणत्व को दूर करने के लिये कूर्माधिप को द्वितीय रूप मे दिखलाकर सादृश्य का वर्णन किया गया है ।)

प्रतीप अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ॥ 56

[81अ] वस्त्वन्तरेण ʎ पिहित सहजेनागतुकेन वा यत्र ।
वस्तुचमत्कारि भवेन्मीलितमवलोकयन्ति[1] बुधा ॥ सू 186 ॥

सहजेन यथा—

अपाङ्गतरले दृशौ मधुरवक्रवर्णा गिरो ।
विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्त मुखम् ॥
इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशा स्वतो लीलया ।
तदत्र न मदोदय कृतपदोऽपि सलक्ष्यते ॥ 361 ॥

आगन्तुकेन यथा—

तद्भयपलायिताना हिमगिरिधरिणीपु कम्पमावहताम् ।
पुलकितजडाङ्गवैभवमन्योऽपि [2]बुधो न जानाति ॥ 362 ॥

पलायितस्यितोऽन्यो वुध इत्यर्थं ।
इति मीलितम् ॥ 58

साधारणयोगादैकात्म्य प्रस्तुतस्य चान्येन उत्कृष्टगुणवियोगान्न मीलित तत्र सामान्यम् ॥ सू 187 ॥

उत्कृष्टगुणेन निकृष्टगुणतिरोधानाभावान्न मीलित निषेधेनान्यप्रतिष्ठापनाभावान्नापह्नुति । यथा—

---

1 ०मविलोकयन्ति

2 बु०

मलयजरसविलिप्ततनवो नवहारलताविभूषिता।
सिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचो रुचिरामलांशुका।
शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गता
[61 ब] प्रियवसतिं प्रयान्ति ^ [3]सुखमेव निरस्तभियोभिसारिका ॥
॥ 363 ॥

इति सामान्यम् ॥ 59

57 मीलित—

जहाँ सहज (स्वाभाविक) अथवा आगन्तुक किसी अन्य वस्तु के द्वारा प्रकृत वस्तु का आच्छादन करने पर (तथा) वस्तुचमत्कार होने पर विद्वज्जन उसे मीलित अलङ्कार कहते हैं ॥ सू 186 ॥

(सहज और आगन्तुक भेद से मीलित दो प्रकार का होता है।) सहज का उदाहरण, जैसे—

नेत्रों का प्रान्तभाग चचल है, मधुर और वक्रोक्तियुक्त वाणी है, विलासपूर्ण मन्द गति है, अत्यन्त सुन्दर मुख है। इस प्रकार मृगनयनियों के शरीर में स्वत ही लीलापूर्वक मद उदित हो रहा है, अत इसमें मद उदित होने पर भी लक्षित नहीं हो पाता ॥ 361 ॥

(उक्त पद्य म नेत्रों की चचलता आदि शरीर के स्वाभाविक चिह्न हैं, जो मदोदय के समय भी होते है। इस प्रकार स्वाभाविकतया प्रसिद्ध होने के कारण बलवान् होने से उनके द्वारा मदोदयरूप वस्तु का तिरोधान कर दिया गया है, अत मीलित अलङ्कार है।)

आगन्तुक का उदाहरण जैसे—

उसके भय से भागे हुए (शत्रु) हिमालय पर्वत की भूमि पर कम्पन को धारण करने वाले लोगों (शत्रुओं) का पुलकित और जड अङ्गों के वैभव को (कम्पन, पुलक और जडता हिमालय की शैत्याधिकता के कारण है, ऐसा समझकर) अन्य बुद्धिमान् व्यक्ति भी (उन शत्रुओं के भय को) नहीं जान पाते हैं।
॥ 362 ॥

---

1 ०भूषिता

2 अत्रपदतागता शुक्लाभिसारिकात्वात् (मू पा टि)

3 सुखमे०

भागकर स्थित हुए अन्य बुद्धिमान् व्यक्ति—यह अभिप्राय है। (यहाँ हिमालय मे निवास करने के कारण प्रबल शीतरूप आगन्तुक है। भय चिह्नो के समान साधारण कम्प और रोमाञ्चरूप चिह्नो से भयरूप वस्तु को तिरोहित कर रही है, अतएव यहाँ मीलित अलङ्कार का दूसरा भेद है।)

मीलित अलङ्कार का विवरण समाप्त हुआ ॥ 57

58 सामान्य—

प्रस्तुत (वर्णनीय विषय) का अन्य (अप्रस्तुत अर्थ) सम्बद्ध होकर अपने उत्कृष्ट गुण का परित्याग किये बिना ही (अप्रस्तुत के साथ) ऐकात्म्य (अभेद का) वर्णन करने पर वहाँ मीलित अलङ्कार नही, सामान्य अलङ्कार होता है।
॥ सू 187 ॥

उत्कृष्ट गुण के द्वारा निकृष्ट गुण के तिरोधान का अभाव होने से यहाँ मीलित अलङ्कार नही है। निषेध के द्वारा अन्य की प्रतिष्ठापना का अभाव होने से यहाँ अपह्नुति अलङ्कार भी नही है। उदाहरण जैसे—

चन्दन-रस का शरीर पर विलेप किये हुए, नवीन हारलता से सुशोभित अतिश्वेत हाथीदाँत से बने हुए दन्तपत्र (आभूषण) से मुख को अलङ्कृत किये, सुन्दर तथा निर्मल वस्त्र धारण किये हुए शुक्लाभिसारिकाएँ (रात्रि मे) चन्द्रमा की चाँदनी के पृथ्वी पर फैल जाने से पृथ्वी के शुभ्र हो जाने पर (शुक्ल अलङ्कारो से अलङ्कृत होने से चाँदनी मे ही मिल जाने के कारण) दिखलायी नही देने के कारण भयरहित होकर सरलता से प्रियतम के निवास पर जा रही हैं ॥ 363 ॥

(यहाँ प्रस्तुत अभिसारिका और अप्रस्तुत चन्द्रमा दोनो का धवलत्व गुण उनकी एकात्मता का हेतु, है, अत दोनो की अलग-अलग प्रतीति नही हो रही है, इस रूप मे सामान्य अलङ्कार है।

सामान्य अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ॥58

अन्यगुणस्य ग्रहण स्वगुणत्यागेन तद्गुणो भवति ॥ सू 188 ॥

नासामौक्तिकमस्य तवाधरेणोज्ज्वल[1] हसितं ॥

यथा वा—

---

1 ०रेनोज्ज्वल

मालत्या कुसुममपायि नासिकाग्रे
तन्वङ्‌ग्या वदति सखीजन रहस्यम् ।
[1]ततस्याधरमवलम्ब्य यच्चकाशे[2]
बधूक तदुचितमाचचक्ष [3]तस्मै[4] ।। 364 ।।

इति तद्गुण ।। 59

तद्विपरीतमपूर्वं[5] तमेव कथयन्ति केऽपि बुधा ।। सू 189 ।।

रागिनि हृदये निहितस्तथापि नैवानुरक्तोऽसि ।।

यथा वा—

गिरिसारकठिनकुचयुगसंनिधिमाजापि तन्वि [1]
हृदयेन प्रतिकोमलेन नान्तर्निधीयते किमपि काठिन्यम् ।। 365 ।।

इत्यतद्गुण ।। 60

59 तद्गुण—

अपने गुण के त्याग के द्वारा अन्य के गुण का ग्रहण तद्गुण अलङ्कार होता है ।। सू 188 ।।

(उदाहरण जैसे—)तुम्हारी नाक का मोती तुम्हारे हास के कारण उज्ज्वल और अधर के कारण अरुण हो गया ।

(नासामौक्तिक के अधर के रग से रग जाने के कारण अरुण बन जाने से यहाँ तद्गुण है ।) अथवा अन्य उदाहरण—

---

1 सखीजनस्य (मू पा टि)
2 ०कासे
3 सखीजनाय (मू पा टि)
4 मालत्या कुसुममधरस्यास्या बधूकसदृश भूत्वा तस्मै सखीजनाय उचितमाचचक्ष इति तद् मौनावस्थायां उच्चैरधर भवायतो मौन कुरु । सपत्नीसखी शृणोति । (मू पा टि)
5 अपूर्वमतद्गुणालङ्कार केऽपि मम्मटभट्टादय कथयन्ति न तु स्वय ।
(मू पा टि)

कृशाङ्गी नायिका के नासिका के अग्रभाग मे मालती का पुष्प धारण करने पर वह सखीजन मे रहस्य कहता है कि उस (सखीजन) के अधर का अवलम्बन करके जो बधूक (लाल रग का पुष्प) के समान सुशोभित होती हो वह उस सखी के लिये उचित ही कहा है। (मालती का पुष्प अधर की कान्ति से वधूक के समान लाल होकर उस सखी को उचित ही कहता है कि उस मौनावस्था मे ऊँचे अधर होने हैं, अत मौन रहो, सपत्नी सुनती है।) 364 ॥

(यहाँ मालती-पुष्प के अधर के रग मे रग जाने के कारण वधूकता सिद्ध होने से तद्गुण अलङ्कार है।)

तद्गुण अलङ्कार का प्रसङ्ग समाप्त हुआ ॥ 59

60 अतद्गुण अलङ्कार—

उस (तद्गुण) के विपरीत (अर्थात् अपने गुण का त्याग न करते हुए समीपस्य अन्य के गुण का अग्रहण होने पर) उस अपूर्व को कुछ विद्वज्जन अतद्गुण कहते हैं। (अपूर्व को अतद्गुणालङ्कार कुछ मम्मटभट्ट आदि कहते हैं, स्वय हरि प्रसाद नही ॥ सू 189 ॥

उदाहरण जैसे—

राग (अनुराग, रक्तिम रग) से युक्त हृदय मे (तुमको) रखा, फिर भी तुम अनुरक्त नही हुए।

(यहा अत्यन्त अनुरक्त हृदय से सयुक्त होने पर भी नायक अनुरक्त नही हुआ, इसलिय अतद्गुण अलङ्कार है।) अथवा जैसे—

हे *कृशाङ्गी* ! *पर्वत (या लोहे) के समान कठोर स्तन-युगल* के समीप होने पर भी अतिकोमल हृदय कुछ भी कठोरता धारण नही करता ॥ 365 ॥

(यहाँ हृदय कुचो की कठोरता को ग्रहण नही करता, इस शब्द-समूह से स्पष्ट है कि स्वकीय गुण का अत्याग होने से अतद्गुणालङ्कार है।)

अतद्गुण अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ ॥ 60

सलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशन सूक्ष्ममित्याहु ॥ सू 190 ॥

सङ्केतकालमनस[1] ज्ञात्वा कमल निमीलित सुदृशा ॥

असलक्षितस्य सलक्षितत्वापादनमित्यर्थ ।

---

1 सकेतकाले मनो यस्य त कञ्चित् कमल निमीलित सुदृशा "साय सकेतो भविष्यति" (मू पा टि)

इति सूक्ष्मम् ॥61

उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिर्नालङ्कारान्तरं अपह्नुतिप्रकारस्यैव सद्भावात् ॥सू 191॥

यथा—

> शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस-
> द्रोमाञ्चादिविसंष्ठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः ।
> [82ब] हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
> शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्[1] शिव[2] ॥366॥

इति व्याजोक्ति ॥62

काकुश्लेषाभ्यां अन्यथायोजनं वक्रोक्ति शब्दालङ्कार इत्युक्तं प्राक् ॥सू 192॥

इति वक्रोक्ति ॥63

61 सूक्ष्म अलङ्कार—

जाने हुए सूक्ष्म अर्थ का प्रकाशन सूक्ष्म कहा जाता है ॥सू 190॥

(उदाहरण जैसे—)

सकेतकाल को जानने की नायक की इच्छा है इस बात को जानकर सुन्दर नेत्रो वाली (नायिका) ने कमल को बन्द कर दिया। (अर्थात् सायकाल का सकेत कर दिया।)

(यहाँ नायक को सकेतकाल का जिज्ञासु जानकर नायिका ने साय समय के सूचक कमल को हाथ से बन्द करके अलक्षित सकेतकाल को सुन्दरता से अलक्षित कर दिया कि 'सकेत सायकाल मे होगा'। अत सूक्ष्म अलङ्कार का उदाहरण है।)

सूक्ष्म अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ॥61

62 व्याजोक्ति—

प्रकट हुई वस्तु को (किसी बहाने से छिपाना) व्याजोक्ति अलकार होता है। अपह्नुति के प्रकार का ही (पृथक्) अस्तित्व होने से यह व्याजोक्ति अन्य अलकार नही हो सकती ॥सू 191॥

---

1. °वतात्
2. पाण्डुलिपि मे "शिव" तथा "इति" एक पक्ति मे लिखे जाने से विसर्ग नही है।

उदाहरण, जैसे—

(शिव–पार्वती विवाह मे कन्यादान का प्रसग है) हिमालय के द्वारा समर्पित किये जाते हुए पर्वत पुत्री पार्वती के हाथ के स्पर्श से उत्पन्न हुए रोमाञ्च आदि के कारण समस्त (वैवाहिक) विधि के गडबड हो जाने से और घबराये हुए (तथा उसे छिपाने के लिये) 'हाय, हिमालय के हाथ बडे शीतल है' ऐसा कहने वाले (और उनके इस बहाने को समझ लेने वाली) हिमालय के अन्त पुर की स्त्रियाँ, मातृ-मण्डल तथा गणो के द्वारा मुस्कुराते हुए देखे गये शिव आपकी रक्षा करें।।366।।

(इस पद्य मे पार्वती के हाथ के स्पर्श से उत्पन्न होने वाले, शिव के सात्त्विक भाव, रोमाच आदि से प्रकट हो गये, परन्तु यह हिमालय के हाथ के स्पर्श के शैत्य से हुए हैं, इस प्रकार कहते हुए सात्त्विकभाव को छिपाया गया है, अत व्याजोक्ति अलकार है।)

व्याजोक्ति अलकार का विवेचन समाप्त हुआ ।।62

63 वक्रोक्ति—

काकु और श्लेष के द्वारा अन्य प्रकार से कथन करना वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति अलकार को शब्दालकार के प्रसग मे पहले कहा जा चुका है ।।सू 192।।

वक्रोक्ति समाप्त हुई ।।63

डिम्भादे स्वक्रियारूपवर्णनं स्वभावोक्तिरलङ्कार ।।सू 193।।

यथा—

[1]पश्चादङ्घ्री प्रसार्य त्रिकनतिविनत द्राघयित्वाङ्गमुच्चै-
रासज्याभुग्नकण्ठो मुखमुरसि सटाधूलिधूम्र विधाय।
घासग्रासाभिलाषादनवरतचलत्प्रोथतुण्डस्तुरङ्गो
मन्द शब्दायमानो विलिखति[2] शयनादुत्थित क्ष्मा खुरेण।।367।।

इद नालङ्कारान्तर वस्तुमात्रपरत्वात् किन्तु वैचित्रीमात्रमिति कश्चित्।[3]
इति स्वभावोक्ति ।।64

[4]अतीतानागतयो प्रत्यक्षायमानत्व भाविकम् ।।सू 194।।

---

1 शयनोत्थिताश्वस्य स्वरूपवर्णनम् (मू पा टि)

2 ०लिखित

3 कश्चिदित्यह वच्मीत्यर्थ (मू पा टि)

4 अखिनना०

यथा—

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भव ।
येनैकचुलुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ ।।368।।

इति भाविकम् ।।65

किञ्चिद्धर्मकृतातिशयप्रतिपादनाय प्रसिद्धतद्धर्मणा ससर्गोद्भावन प्रौढोक्ति ।।सू 195।।

यथा—

त्वदङ्गसमुद्भूता सिक्ता कुङ्कुमवारिभि ।
[82a] त्वदङ्ग ^ तुलना याति कदाचिल्लवलीलता।।369।।

इति प्रौढोक्ति ।।66

64 स्वभावोक्ति—

बालक आदि की अपनी (स्वाभाविक) क्रिया (अथवा वर्ण एव अवयव-सस्थान) रूप का वर्णन स्वभावोक्ति अलकार है ।।सू 193।।

("हर्षचरित", तृतीय उल्लास का उदाहरण—) सोकर उठे हुए घोड़े का वर्णन है—पीछे की दोनों टाँगों को फैलाकर, त्रिक (रीढ़ की हड्डी के अन्तिम छोर)को झुकाने से लम्बे शरीर को यथासम्भव ऊपर उठाते हुए, गर्दन झुकाये हुए धूल से धूम्र वर्ण के अयाल वाले मुँह को छाती से लगाकर, घास के ग्रास की अभिलाषा से होठ और मुँह को निरन्तर चलाता हुआ, (इस प्रकार) सोकर उठा हुआ धीरे धीरे-धीरे हिनहिनाता हुआ घोड़ा खुर से भूमि खोद रहा है ।।367।।

(यहाँ सोकर उठे घोड़े की स्वाभाविक क्रिया आदि का वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलकार है।)

किसी विद्वान् अपवाद मेरा कहना है कि वस्तुमात्र का वर्णन होने से यह अन्य अलकार नही है, अपितु वैचित्र्यमात्र है ।

स्वभावोक्ति अलकार का विवेचन समाप्त हुआ ।।64

65 भाविक—

अतीत और अनागत पदार्थ (कवि के द्वारा) प्रत्यक्ष से कराये जाते हैं, वह भाविक अलकार है ।।सू 194।।

उदाहरण जैसे—

योगिराज महात्मा अगस्त्यमुनि की जय हो, जिन्होंने एक चुल्लू में उन दिव्य मत्स्य और कच्छप (अवतारों) का दर्शन किया ॥368॥

(मत्स्यावतार-विष्णु का प्रथम अवतार है तथा कच्छपावतार उनका द्वितीय अवतार है। इन दोनों का प्रत्यक्ष वर्णन होने से भाविक अलंकार है।)

भाविक अलंकार का निरूपण समाप्त हुआ ॥65

66 प्रौढोक्ति—

किसी धर्म के कारण किये गये अतिशय के प्रतिपादन के लिये उसके प्रसिद्ध धर्मों के संसर्ग का उद्भावन (कल्पना) प्रौढोक्ति है ॥सू 195॥

जैसे—

यदि लवलीलता तुम्हारे आंगन में उत्पन्न हो और कुंकुम-जल से सींची जाये तो शायद तुम्हारे अंगों की तुलना प्राप्त कर सकती है ॥369॥

(यहां साधारण लवलीलता उपमानता का भार सहन करने में समर्थ नहीं हो सकती, अतः कवि ने लवलीलता में 'तुम्हारे आंगन में उत्पन्न' तथा "कुंकुम-जल से सिक्त" इन दो विशेषणों की उद्भावना अपनी प्रतिभा के बल पर की है। इन दोनों विशेषणों का क्रमशः अर्थ है—"नायिका का समानाधिकरण्य सह-निवास" और "केसरजल का संयोग", इन दोनों विशेषणों से युक्त लवलीलता के सदृश कहने से नायिकांग में गौरता, मृदुलता आदि गुणों का अतिशय व्यक्त होता है।)

प्रौढोक्ति अलंकार का विवेचन समाप्त हुआ ॥66

गुणस्य दोषत्वेन दोषस्य गुणत्वेन कार्यवशाद्वर्णनं लेशः ॥सू 196॥

गङ्गाधरे—

अपि [1]बत गुरुगर्वं मा स्म कस्तूरि[2] यासी[3]-
रखिलपरिमलानां मौलिना सौरभेण[4] ।

---

1. व०
2. हे (मू पा टि)
3 मा गम इत्यर्थ (मू पा टि)
4 ०न

गिरिगहनगुहायां लीनमत्यन्तदीनं
[1]स्वजनकममुनैव[2] प्राणहीनं करोषि ॥370॥

इति लेशः ॥67

समृद्धिमदवस्तुवर्णनमुदात्तम् ॥सू 197॥

यथा—

मुक्ता केलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जनीभिर्हृताः[3]
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालाङ्घ्रिलाक्षारुणाः ।
दूराद्दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुका
यद्विद्वद्भवनेषु [4]भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम् ॥ 371 ॥

अङ्गत्वेन महापुरुषचरितमपि ।

तदिदमरण्यं यस्मिन् दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।
निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥ 372 ॥

इत्युदात्तम् ॥ 68

67 लेश—

कार्यवश गुण को दोष रूप में और दोष का गुण रूप में वर्णन लेश अलङ्कार कहलाता है ॥ सू 196 ॥

'रसगङ्गाधर" में (उदाहरण है)—

हे कस्तूरी ! समग्र सुगन्धियों में सर्वश्रेष्ठ सुगन्धि होने के कारण अत्यधिक गर्व मत करो । खेद है कि इसी सुगन्ध से तुम पर्वत की गहन गुफा में छुपे हुए अत्यन्त दीन अपने जनक मृग को प्राणहीन करती हो ॥ 370 ॥

(यहाँ गुण का दोष रूप में वर्णन होने से लेशालङ्कार का उदाहरण है ।)

लेशालङ्कार का प्रकरण समाप्त हुआ ॥ 67

---

1 स्वजनकं मृगमित्यर्थः (मू पा टि)
2 अमुना सौरभेण (मू पा टि)
3 हृता।
4 भोजनृपतेस्त्वत्त्यागo

68 उदात्त—

समृद्धि से युक्त वस्तु का वर्णन उदात्त अलङ्कार होता है ।। सू 197 ।।

उदाहरण जैसे—

(राजा भोज की स्तुति करते हुए कवि का कथन है कि–) विद्वानो के भवन मे क्रीडा के समय (मुक्ताहार का डोरा टूट जाने से) सूत्रहीन हार से गिरे हुए तथा झाड़ुओ से इकट्ठा किये हुए मोती प्रात आगन मे प्रवेश के समय धीरे धीरे चलती हुई बालाओ के पैरो मे लाक्षारस से रक्तिम दिखते हैं। उन मोतियो को आमोद के लिये पालित तोते दूर से अनार के दाने समझकर खीच रहे हैं, यह राजा भोज की ही त्याग-लीला है ।। 371 ।।

(इस पद्य मे विद्वानो के भवनो की उत्कृष्ट सम्पत्ति का वर्णन होने से उदात्त अलङ्कार है।)

(प्रधान अर्थ मे) महापुरुषो के कृत्यो का अङ्गत्व (गौण रूप से प्रदर्शन) भी उदात्त अलङ्कार होता है, जैसे—

(लका से लौटते हुए पुष्पक विमान मे बैठे हुए लक्ष्मण का अगद के प्रति कथन है–) यह वही वन (दण्डकारण्य) है, जिसमे रहते हुए दशरथ के वचनो के पालन के व्यसनी राम ने स्वय के भुजबल की सहायता से ही राक्षसो का विनाश कर दिया था ।। 372 ।।

(यहाँ वर्णनीय दण्डकारण्य का उत्कर्ष दिखाया गया है और उसके प्रति राम को अगरूप मे उपस्थित किया गया है, अत उदात्त अलङ्कार है।)

उदात्त अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ ।। 68

एतेषा ससृष्टिसङ्करप्रकार दर्शयति—

तिलतण्डुलवत् क्वापि क्षीरनीरवदन्यत ससृष्टि सङ्करस्तेषा प्राचीनैरुपपादितम् ।। सू 198 ।।

[83अ] सयोगन्यायेन स्फुटावगमस्तत्र तिलतण्डुलवत्ससृष्टि । समवायन्यायेनास्फुटावगमे क्षीरनीरन्यायेन सङ्कर ।

तत्र शब्दालङ्कारससृष्टि —

कुसुमसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसम्भ्रमसम्भृतशोभया ।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशाऽन्यया[1] ।। 373 ।।

---

1 नायिकया (मू पा टि)

अनुप्रासयमकयोर्विजातीययो संसृष्टि ।
अर्थालङ्कारयो संसृष्टिर्यथा—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥ 374 ॥

अत्रोपमोत्प्रेक्षयो संसृष्टि । उभयसंसृष्टि —

आनन्दमन्थरपुरन्दरमुक्तमाल्यं मौलौ हठेन निहितं महिषासुरस्य ।
पादाम्बुजं भवतु वो[1] विजयाय [2]मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः ।
॥ 375 ॥

रूपके प्रतिकूलत्वात् अनुप्रास–उपमाया परिपोषक[3] इत्युभयो संसृष्टि ।

69 संसृष्टि और 70 सङ्कर—

इन (अलंकारों) के संसृष्टि और संकर प्रकार को दिखाया जा रहा है— कहीं पर तिलतण्डुलवत् और अन्य प्रकार से क्षीरनीरवत् (अलंकारों का मिश्रण होने पर) प्राचीन विद्वानों ने उनको संसृष्टि और संकर कहा है ॥ सू 198 ॥

संयोगन्याय से (अनेक अलंकार इस प्रकार मिले हुए हों कि) स्पष्टरूप में अलग-अलग दिखाई पड़ते हों, वहाँ तिलतण्डुलवद् (मिश्रण होने पर) संसृष्टि नामक अलंकार होता है । समवायन्याय से (अनेक अलंकार इस प्रकार मिश्रित हों कि) वे स्पष्टरूप से अलग-अलग प्रतीत नहीं हों वहाँ नीरक्षीरन्याय से (मिश्रण होने पर) सङ्कर अलंकार होता है ।

संसृष्टि—यहाँ ("शिशुपालवध" के षष्ठ सर्ग का श्लोक) शब्दालङ्कार की संसृष्टि (के उदाहरणरूप में प्रस्तुत है)—

पुष्प की सुगन्ध के लोभ में (मुख पर) घूमते हुए भ्रमर के सम्भ्रम के कारण अधिक शोभा धारण करने वाली, (भ्रमर के आतंक से) भागती हुई, केश-समूह के कारण चंचलनेत्रों वाली (अन्य नायिका की) सुन्दर मेखला का सुन्दर शब्द होने लगा ॥ 373 ॥

---

1 युष्माकम् (भू पा टि)
2 मञ्जुमञ्जीरमिञ्जि०
3 ० रिपोषक

(उक्त पद्य के पूर्वार्द्ध में "मकार" तथा उत्तरार्द्ध में "लकार" की अनेक बार आवृत्ति होने से अनुप्रास अलकार है। श्लोक के चतुर्थ चरण में "लक्लो लक्लो" तथा "कलोल कलोल" की आवृत्ति होने से यमकालकार है। (एक ही पद्य में स्वतन्त्र रूप से) अनुप्रास और यमक दोनों विजातीय शब्दालकारो के अवस्थान के कारण यहाँ समृष्टि अलङ्कार है।

अर्थालङ्कार की समृष्टि का उदाहरण, जैसे—

अधकार मानो अगो को लीप रहा है, आकाश मानो कज्जल की वर्षा कर रहा है। दुष्ट पुरुष की सेवा के समान दृष्टि निष्फल हो गयी है।। 374।।

यहाँ उपमा और उत्प्रेक्षा अलकारो की समृष्टि है। (पूर्वार्द्ध में उत्प्रेक्षा है और उत्तरार्द्ध में उपमा है, दोनो अलकार परस्पर निरपेक्षरूप से स्थित होने से अर्थालङ्कार की समृष्टि है।)

(शब्द और अर्थ) दोनो अलकारो की समृष्टि (जैसे—)

आनन्द से शिथिल इन्द्र के द्वारा अर्पित माला से सुशोभित, दृढतापूर्वक महिषासुर के मस्तक पर स्थापित, सुन्दर नूपुर की झकार से मनोहर अम्बिका का चरण-कमल आपकी विजय के लिये हो।। 375।।

यहाँ रूपक अलकार प्रतिकूल होने पर भी अनुप्रास और उपमा अलङ्कार का परिपोषक होने से इन दोनो (शब्दालकार तथा अर्थालकार) की समृष्टि है। (वर्णों की आवृत्ति होने से यहाँ अनुप्रास नामक शब्दालङ्कार है। "पादाम्बुज" में "पाद अम्बुजमिव" उपमा नामक अर्थालङ्कार है। "पाद एव अम्बुज" रूप में रूपक अलकार मान लेने पर उत्तरपद "अम्बुज" प्रधान हो जायेगा और "मञ्जीरशिञ्जितमनोहर" का अन्वय घटित नही हो सकेगा। "पाद" को प्रधानता देने पर लुप्तोपमा धर्मवाचकलुप्ता उपमा मानने पर अन्वय सगत बैठता है। अतः यहाँ उपमा ही है, रूपक नही। इस प्रकार अनुप्रासरूप शब्दालकार तथा उपमा रूप अलकार की समृष्टि है।)

अथ सङ्कर —

स च क्वचिदङ्गाङ्गिभावेन सशयेन एकवाचकानुप्रवेशेन च त्रिधा भवति
।। सू 199 ।।

आद्यो यथा—

अङ्गुलीभिरिव केशमञ्चयं सनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं[1] शशी[2] ॥ 376 ॥

[83ब] अत्रोपमाश्लेषमूलातिशयोक्तिरूपयोरङ्गाङ्गिभावः । शब्दालङ्कारसङ्करो यथा—

राजति तटीयमभिहतदानवरामातिपातिसारावनदा[3] ।
गजता च यूथमविरतदानवरा[4] सातिपाति सारा वनदा ॥ 377 ॥

अत्र यमकानुलोमप्रतिलोमयोः परस्परापेक्षत्वेनाङ्गाङ्गिभावः । वस्तुतस्तु अलकारससृष्टिरेवात्र भवति ।

संशयेन यथा—"यः कौमारहरः" इत्यत्र [5]विभावनाविशेषोक्तिसन्देहसङ्करः । यथा वा—

यद्वक्त्रचन्द्रे [6]नवयौवनेन श्मश्रुच्छलादुल्लिखितश्चकास्ति ।
उद्दामरामादृढमौनमुद्राविद्रावणो मन्त्र इव स्मरस्य ॥ 378 ॥

अत्र उपमितं व्याघ्रादिभिरिति उपमासमासस्य मयूरव्यंसकादिभ्यश्चेति रूपकसमासस्य तुल्यत्वात्सङ्करः ।

एकवाचकानुप्रवेशेन यथा—

मुरारिनिर्गता नूनं [7]नरकप्रतिपन्थिनी ।
तवापि मूर्ध्नि गङ्गेव चक्रधारा पतिष्यति ॥ 379 ॥

---

1. ० मुखं
2. ० सी
3. अभिहता ये दानवास्तेषां रामस्य शब्दस्य अतिपातो यारावेण सह वर्तमाना नदादुदामस्मा सा (मू पा टि)
4. अविरतदानेन वरा आसातिपातिसारो यस्या सा गजता वनदानवखण्डनप्रदा (मू पा टि)
5. विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते । सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्ति तथापीति सन्देह (मू पा टि)
6. वक्त्र चन्द्र इवेति उपमासमास । वक्त्र चन्द्र इति रूपक अनयो सङ्कर (मू पा टि)
7. नरकासुर नरक च (मू पा टि)

[1]इत्यत्र उपमा श्लेषश्च ।

सङ्कर—

वह (सङ्कर अलङ्कार) कहीं पर अङ्गाङ्गिभाव से, कहीं पर संशय से और कहीं पर एकवाचकानुप्रवेश से तीन प्रकार का होता है। 1 जहां एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार का अङ्ग बनकर उसका उपस्कारक हो, वहां अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर होता है। 2 जहां किसी स्थल पर अनेक अलङ्कारो का सन्देह हो, वहाँ सन्देह सङ्कर अलङ्कार होता है। 3 जहाँ एक ही वाचक द्वारा दो अलङ्कारो की प्रतीति हो, वहाँ एकवाचकानुप्रवेश अलङ्कार होता है।) ॥ सू 199 ॥

1 अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर–

प्रथम (अङ्गाङ्गिभावसङ्कर का उदाहरण) जैसे—

चन्द्रमा अगुलियो के समान किरणो से केशसचय के समान अधकार को समेटकर बन्द किये हुए कमल के समान नेत्रो वाले रजनी के मुख को मानो चूम रहा है ॥ 376 ॥

यहाँ उपमा और श्लेषमूला अतिशयोक्ति रूप मे अङ्गाङ्गिभाव है। शब्दालङ्कारो का (अङ्गाङ्गिभाव) सङ्कर जैसे—

जिसमे नष्ट हुए दानवो के रास (चीत्कार) का अतिक्रमण करने वाली ध्वनि करता हुआ नद वेग से बह रहा है इस प्रकार की यह तटी (पर्वत की प्रान्तभूमि) सुशोभित हो रही है। निरन्तर मदजल से शोभित बलिष्ठ एव बनो का विनाश करने वाला हाथियो का समूह यूथ की रक्षा करता है ॥ 377 ॥

यहाँ ("दानवरा सातिपाति सारा वनदा" इस पद-समूह की आवृत्ति होने से) यमक शब्दालङ्कार तथा (यमक के अग्र मे आये अक्षरो के उलटे तथा सीधे दोनो तरफ से पढने पर वही पाठ बन जाता है अत) अनुकूल-प्रतिकूल चित्रकाव्य रूप शब्दालङ्कार है। दोनो पादो मे परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा से अङ्गाङ्गिभाव विद्यमान है। (अत दो शब्दालङ्कारो का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है।) वस्तुत तो यहाँ अलङ्कार-समृष्टि ही है।

2 सदेहसकर—

---

1 पाण्डुलिपि मे सन्धि करके "पतिष्यतीत्यत्र" लिखा है।

सशय के द्वारा सङ्कर जैसे—"य कौमारहर" इत्यादि (सू 7 की वृत्ति, मू पा टि) श्लोक मे विभावना अलङ्कार है (अथवा) विशेषोक्ति अलङ्कार है, इस प्रकार सशय होने से सन्देहसङ्कर अलङ्कार है। अथवा दूसरा उदाहरण, जैसे—

मुख-चन्द्र मे नवयौवन के द्वारा मूछ के छल से खुदी हुई जो चमक है, (वह) स्वेच्छाचारिणी तरुणी की दृढ मौन-मुद्रा को द्रवित कर देने वाले कामदेव के मन्त्र के समान है ॥ 378 ॥

यहाँ "उपमित व्याघ्रादिभि " इस सूत्र से समास होकर (वक्त्र चद्र इव इस उपमिति समास के द्वारा) उपमा अलङ्कार तथा "मयूरव्यसकादिश्च" इस सूत्र से समास होकर (वक्त्र चद्र इस प्रकार) रूपक अलङ्कार है। इन (उपमा तथा रूपक दोनो अलङ्कारो के) तुल्य होने से सदेह सङ्कर अलङ्कार है।

3 एकवाचकानुप्रवेश सङ्कर—

एकवाचकानुप्रवेश सङ्कर का उदाहरण है—

मुररिपु (कृष्ण) से निकली हुई, नरक (नरकासुर तथा नरक) से विपरीत मार्गवाली गङ्गा के समान चक्रधारा तुम्हारे सिर पर गिरेगी ॥ 379 ॥

यहाँ उपमा और श्लेष की प्रतीति होने से एकवाचकानुप्रवेश सङ्कर अलङ्कार है।

तदेव शब्दैकशरीरस्य काव्यस्य—

> कटाक्षित व्यञ्जनेशा तत्रास्वादो रस स्मृत ।
> दादर्य गुणानुसधान [1]वाग्लासङ्कृति स्फुटम ।
> विशिष्टशब्दरूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृति ।

[84 ख] उत्पत्तिभूमि प्रतिभा म { नागन्नोपपादितम् ॥ सू 200 ॥

अत्रेति काव्यालोके स्पष्टमन्यत् ।

> अब्धिदिङ्मुनिभू 1784 वर्षमाघशुक्लमुनौ 7 रवे ।
> काव्यालोक इद पूर्णमकारिगुरुसन्निधौ ॥

---

1 वाग्लता०

इय माधुकरीभिक्षा सुमनोम्य समाहृता ।
बालाना तुष्टये गर्वो न मनागपि विद्यते ॥

प्राचीनैर्यदिहोदित बहुविधंग्रन्थैस्लवत्राहृतम् ।
सक्षेपेण न किञ्चिदन्यदुदित गर्वेण तद्वन्मया ।
व्याख्यात तदुदाहृत तदुदित भूयोऽपि तच्चापलम् ।
भो विद्यागुरव क्षमन्तु शिशव कुर्वन्ति चात्मोचितम् ॥

इहेति काव्यलक्षणप्रस्तावे अत्रेति काव्यालोके, चकारो युक्तार्थे, सर्वमलङ्कारस्वरूपमवदातम् ।

इति श्रीमन्माथुरमिश्रगङ्गेशात्मजहरिप्रसादनिर्मिते काव्यालोकेऽर्थालङ्कारनिरूपणनामा सप्तम प्रकाश ॥ 7 ॥ समाप्त [ ] ।

सम्वत् 1798 वर्षम्य पौपशुक्लद्वितीयाया लिखित चोक्षचन्द्रेण । श्रेयो भवतु[1] समेषाम् ।

अलङ्काराम्बुधे पारमाप्तुमिच्छा मवेद्यदि ।
[84 ब] काव्यालोकप्रवहण तदाश्रयत कण्ठत ॥ 1 ॥ ⁄

इसलिये शब्दरूप शरीरवाले काव्य का—

एक मात्र व्यञ्जना ही कटाक्ष दृष्टि और आस्वाद ही रस कहा गया है। गुणो का अनुसन्धान ही रहता है। स्फुट अलङ्कार (अलक्रिया) ही सुन्दरता है। विशिष्ट शब्दरूप काव्य की आत्मा चमत्कृति है और प्रतिभा ही उत्पत्ति भूमि है। यहां ("काव्यालोक" मे) यही अल्पमात्रा मे प्रतिपादित किया गया है।
॥ सू 200 ॥

"अत्र" से अभिप्राय है "काव्यालोक" मे। अन्य स्पष्ट ही है।

पुष्पिका—

सम्वत् 1784 (अब्धि–4, दिक्–8, मुनि 7 तथा भू–1 सख्या का वाचक है, अत "अब्धिदिङ्मुनिभू" का अर्थ हुआ = 1784) सूर्य सक्रमण की माघ शुक्ला सप्तमी को गुरु के सानिध्य मे यह "काव्यालोक" पूर्ण किया गया।

---

1 मवक्तु

यह (काव्यालोकरूपी) माधुकरीभिक्षा (जिस प्रकार मधुमक्खी एक फूल से दूसरे फूल पर जाकर मधु एकत्र करती है उसी प्रकार घर-घर जाकर भिक्षा मागने को माधुकरीभिक्षा कहा जाता है) बालकों की तुष्टि के लिये पुष्पों से अथवा विद्वज्जनों के ग्रन्थों से) संचित की गई है। (इस रचना का मुझे) अल्पमात्र भी गर्व नही है।

प्राचीन विद्वानों द्वारा बहुत प्रकार के ग्रन्थों के माध्यम से जो यहाँ (काव्य-शास्त्र के क्षेत्र मे) कहा गया है वही यहाँ सक्षेप मे लाया गया है। गर्व से अन्य कुछ नही कहा है। उनके समान ही मैने व्याख्या की है, वही उदाहरण दिये हैं, वही रहा है फिर भी यह चपलता ही है। हे (काव्य) विद्यागुरजन ! (आप) क्षमा करें, शिशु तो स्वय को उचित लगने वाला कार्य ही करते है।

इह" का अर्थ है—काव्य-लक्षण-प्रस्ताव मे, "अत्र" अर्थात् 'काव्यालोक" मे, चकार का प्रयोग युक्त अथ के लिये किया गया है। इस प्रकार समस्त अलङ्कारों का सुन्दर स्वरूप बताया गया है।

श्रीमान् माथुर मिश्र गङ्गेश के पुत्र हरिप्रसाद द्वारा निर्मित "काव्यालोक" का अर्थालङ्कार-निरूपण नामक सप्तम-प्रकाश समाप्त हुआ ॥ 7 ॥

सम्वत् 1798 वर्ष की पौष शुक्ला द्वितीया को चोक्षचन्द्र ने इसे लिखा है। सब लोगों का कल्याण हो।

यदि अलङ्काररूपी समुद्र को पार करने की इच्छा हो तो कण्ठ से "काव्या-लोक" रूपी जहाज का आश्रय लो ॥ 1 ॥

चक्रबन्ध

वाक्यालोक की प्रति का आद्य पत्र

काव्यालोक की प्रति का मध्य पत्र

सूत्रानुक्रमणिका

उदाहृत श्लोकानुक्रमणिका

ग्रन्थसूची

1 अभिनवभारती अभिनवगुप्त , डॉ० नगेन्द्र , हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

2 अभिधावृत्तिमातृका मुकुलभट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, 1973 ई० ।

3 अलङ्कारकौस्तुभ कर्णपूर , वारेन्द्र रिसर्च सोसायटी, राजशाही, बंगाल, 1926 ई० ।

4 अलङ्कारसर्वस्व रुय्यक , डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

5 औचित्यविचारचर्चा क्षेमेन्द्र, आचार्य श्री ब्रजमोहन झा, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1 ।

6 काव्यप्रकाश मम्मट , डॉ० नगेन्द्र, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त-शिरोमणि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, वि स 2027 ।

7 काव्यमीमांसा राजशेखर , डॉ० गंगासागर राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी—1, 1977 ई० ।

8 काव्यादर्श दण्डी , आचार्य रामचन्द्र मिश्र , चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी—1, 1958 ई ।

9 काव्यानुशासन हेमचन्द्र , निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1901 ई० ।

10 काव्यालङ्कार भामह , श्रीनिवास प्रेस, तिरुवडी, 1934 ई० ।

11 काव्यालङ्कार रुद्रट , डॉ० सत्यदेव चौधरी , वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली-1 1965 ई०

12 काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति वामन , डॉ० नगेन्द्र, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि , आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली—6, 1954 ई० ।

13 काव्यालङ्कारसारसंग्रह उद्भट , राममूर्ति त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1966 ई० ।

14 कुवलयानन्द अप्पय दीक्षित , डॉ० भोलाशंकर व्यास , चौखम्बा विद्याभवन, बनारस—1 ।

15 चन्द्रालोक जयदेव , सुबोधचन्द्र पन्त , मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1966 ई० ।

16 *चित्रमीमांसा अप्पय दीक्षित , कालिकाप्रसाद शुक्ला , वाणीविहार,* वाराणसी–1, 1965 ई०

17 दशरूपक धनञ्जय , भोलाशंकर व्यास , चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1973 ई० ।

18 ध्वन्यालोक आनन्दवर्धन , डॉ० नगेन्द्र आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि , ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 2019 वि स ।

19 नाट्यशास्त्र भरत , रामकृष्ण कवि , ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बडौदा ।

20 *पाण्डुलिपिविज्ञान डॉ० सत्येन्द्र , राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,* जयपुर, 1978 ई० ।

21 भारतीय पाठालोचन की भूमिका डॉ० एस एम कात्रे, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1971 ई० ।

22 रसगङ्गाधर पण्डितराज जगन्नाथ , प० बद्रीनाथ झा, प० मदन मोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1978 ई० ।

23 वक्रोक्तिजीवित कुन्तक , डॉ० नगेन्द्र, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि , आत्माराम एन्ड सन्स, दिल्ली—6 1955 ई० ।

24 व्यक्तिविवेक महिम भट्ट , प० रेवा प्रसाद द्विवेदी , चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी—1 ।

25 शोध-प्रविधि डॉ० विनयमोहन शर्मा , नेशनल पब्लिशिंग हाउस नयी दिल्ली, 1980 ई० ।

26 सरस्वतीकण्ठाभरण भोजराज, मि वुरुग्राह्, पब्लिकेशन बोर्ड, आसाम, 1969 ई० ।

27 साहित्यदर्पण विश्वनाथ , शालग्राम शास्त्री , मोतीलाल बनारसी, दास, दिल्ली, 1973 ई० ।

28 Catalogus Catalogorum Theodor Aufrecht , Frans Steiner Verlog Embh Wiesboden 1962,

29 History of Sanskrit Poetics Sushil Kumar De, 6/IA, Bancharam Akrur Lane Calcutta–12 , 1962

30 History of Sanskrit Poetics P V Kane Motilal Banarsidas Delhi, 1961

31 Literary Heritage of the Rulers of Amer and Jaipur Gopal Narayan Bahura , Sawai Man Singh II Museum City Palace Jaipur—1976

32 New Catalogus Catalogorum Dr V Raghavan , University of Madras, 1968–9

33 Mahabharata (Introduction) Vol 1 Ed Visnu S Sukthankar , Bhandarkara Oriental Research Institute Poona 1933

34 Ramayana (Introduction) Vol I G Ed G H Bhatt Oriental Institute Baroda, 1962